卐 अर्हं 卐

4877

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः।

हिन्दी विवेचन भूषित स्याद्वादकल्पलताव्याख्यालंकृत

तार्किकशेखर-सूरिपुरंदर श्री हरिभद्राचार्य विरचित

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

स्तबक-४

[बौद्धमत समीक्षा]

हिन्दी विवेचन सहित

व्याख्याकार:—

नव्यन्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय यशोविजय गणि महाराज

卐

अभिवीक्षक :—

न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ धर्मसंरक्षक जैनाचार्य श्रीमद् विजय

भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

卐

हिन्दी विवेचक :—

पंडितराज षड्दर्शनविशारद न्यायाचार्य

श्री बदरीनाथ शुक्ल

भूतपूर्व कुलपति

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, बनारस (यू. पी)

卐

प्रकाशक :—

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

६८, गुलालवाड़ी, बम्बई-४०० ००४

"प्रारम्भिक"

卐

शास्त्रवार्त्ता समुच्चय टीका स्याद्वादकल्पलता का हिन्दी विवेचन १-२-३-८ ये चार स्तबकों के प्रकाशन के बाद अब तो इस ग्रन्थ की ओर विद्वद्वर्ग अच्छी तरह आकृष्ट हो चुका है और इस ग्रन्थ रत्न की गरिमा एवं ग्रन्थकार-व्याख्याकार की उज्ज्वल प्रतिभा से भली भाँति माहीतगार हो गया है। अतः उस के लिये पुनरुक्ति करना व्यर्थ होगा।

प्रथम तीन स्तबकों में नास्तिक आदि वार्त्ताओं की समीक्षा के बाद ग्रन्थकार विस्तार से बौद्धमत की समीक्षा के लिये सज्ज बने हैं। ग्रन्थकार के काल में बौद्ध दर्शनों का अन्य दर्शनों के साथ व्यापक संघर्ष चल रहा था। खुद ग्रन्थकार के साथ भी वे टकरा गए थे और ग्रन्थकार के सामने उनको घोर पराजय बरदास्त करना पडा था। इतना होने पर भी मूलकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने बौद्धमत की समीक्षा में न तो बौद्ध के प्रति कोई दुर्भाव का प्रदर्शन किया है, न अपने उत्कर्ष का। यही महापुरुषों के जीवन की महान् विशेषता है। अन्य मत के सिद्धान्तों की आलोचना और उन सिद्धान्तों में दृश्यमान त्रुटिओं के प्रति अंगुलीनिर्देश, त्रुटिओं का समार्जन यह तो प्रत्येक विद्वान के लिये सत्कार योग्य है।

बौद्ध दर्शन में पदार्थमात्र को क्षणभंगुर माना जाता है, सामान्य अथवा अवयवी जैसी किसी भी चीज को ये नहीं मानते। प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाणरूप में माना गया है। बौद्धों में चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं-सौत्रान्तिक, वैभाषिक-योगाचार और माध्यमिक। सौत्रान्तिक और वैभाषिक में प्रधान मतभेद यह है कि पहला बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष मानते हैं, दूसरा उस को अनुमेय मानता है। योगाचार मत वाले बाह्यार्थ के अस्तित्व को मानते ही नहीं, उन का कहना है कि ज्ञान के साथ ही बाह्यार्थ का अनुभव होने से ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं है। माध्यमिक संप्रदाय शून्यवादी है – उस के मत में सर्वाकार शून्य संवित् से अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। नाश को बौद्धमत में निरन्वय यानी निर्हेतुक माना जाता है। निरन्वयनाश शब्द यद्यपि निरवशेष नाश जिसमें वस्तु नाश के बाद कुछ भी शेष बच नहीं पाता इस अर्थ में भी देखा गया है किंतु प्रस्तुत ग्रन्थ में यह अप्रस्तुत है।

बौद्धमतवार्त्ता के लिये मूल ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में सब से अधिक कारिका बनायी हैं। चौथे-पाँचवे और छट्ठे स्तबक में केवल बौद्ध मतवार्त्ता की ही चर्चा की गयी है। चौथे स्तबक के प्रारम्भ में बौद्धमतवार्त्ता के उपक्रम में क्षणिकवाद और विज्ञानवाद का उल्लेख किया है। दूसरी कारिका में क्षणिकत्व साधक बौद्धाभिमत चार हेतुओं का निर्देश किया गया है-व्याख्याकार ने चारों हेतुओं की सतर्क उपपत्ति बतायी है। नाश हेतु का अयोग, अर्थक्रिया सामर्थ्य, परिणाम और क्षयेक्षण [क्षय का दर्शन] इन चार हेतुओं से अभिप्रेत क्षणिकत्व की सिद्धि का निराकरण छट्ठे स्तबक में, और विज्ञानवाद का प्रतिक्षेप पाँचवे स्तबक में क्रमशः दीखाया जाने वाला है। चौथे स्तबक में केवल क्षणिकत्वसिद्धि में आने वाली महान् बाधायें ही उपस्थित की गयी है।

चौथी और पाँचवी कारिका में क्षणिकत्व के दो बाधक स्मरणानुपपत्ति और प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति का निदर्शन है। यद्यपि 'यह वही है' इस प्रत्यभिज्ञा को बौद्ध प्रमाण नहीं मानते, किंतु व्याख्याकार ने उसके प्रामाण्य की विस्तार से उपपत्ति कर दी है। इष्ट विषय की प्राप्ति, उसके लिये प्रवृत्ति और प्राप्त होने पर इच्छा का विच्छेद तथा अपने से किये गये कर्म के उपभोग-इत्यादि की अनुपपत्ति को भी यहाँ क्षणिकवाद में बाधकरूप से दर्शाया है। बौद्ध संतानवाद का आश्रय लेकर इन आपत्तिओं को हटाना चाहता है-किन्तु ग्रन्थकार ने १० वीं कारिका में यह कह कर उसका प्रतिक्षेप किया है कि संतान कोई पूर्वापरक्षणों के कार्य-कारणभाव (परम्परा) से अन्य वस्तु नहीं है और बौद्ध असत्कार्यवादी होने से उसके क्षणिकवाद से कार्यकारणभाव की व्यवस्था दुष्कर है। कार्यकारणभाव की समीक्षा में ६५ वीं कारिका तक बौद्ध के संतानवाद [पूर्व बीज से उत्तर बीज की उत्पत्ति] की आलोचना के बाद (का० ६६ से ८६ तक) बौद्ध के सामग्रीपक्ष (यानी रूपादि से विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति) की विस्तार से आलोचना की गयी है। असत्कार्यवाद में दो मुख्य बाधायें का० ११ में बतायी है- (१) अभाव कभी भी भावरूपता का अंगीकार नहीं करता, और (२) भाव कभी अभावरूपता को नहीं स्वीकारता। का० १२ से ३८ तक द्वितीय बाधा का विस्तार से समर्थन किया गया है और का० ३९ से ६५ तक प्रथम बाधा का समर्थन किया है।

द्वितीयबाधा के समर्थन में धर्मकीर्त्ति के मत का भी निराकरण प्रस्तुत किया गया है। भाव के अभाव हो जाने की आपत्ति के प्रतिकार में का० ३२-३३ में धर्मकीर्त्ति यह दलील करते हैं कि 'भाव अभाव हो जाता है-इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वहाँ अभाव जैसा कुछ होता है, किन्तु यह मतलब है कि वहाँ कुछ भी नहीं होता। शशसींग अभाव होता है-इसका भी यही मतलब है कि वह भावरूप नहीं होता।' धर्मकीर्त्ति के कथन विरुद्ध व्याख्याकार किसी तटस्थ को उपस्थित करते हैं- उस तटस्थ का कहना है कि योग्यानुपलब्धि से शशसींग के अभाव का ग्रह शक्य होने से शशसींगाभाव में कालसम्बन्धस्वरूप भवन का विधान विरुद्ध नहीं है। इस कथन के समर्थन में तटस्थ की ओर से न्यायकुसुमाञ्जलि दूसरे स्तबक की तीसरी कारिका में प्रोक्त उदयनमत का भी खण्डन कर दिया है। एवं श्रीहर्षकृत खण्डन खण्डखाद्य प्रथम कारिका से अपने मत का समर्थन भी किया है। किन्तु धर्मकीर्त्ति ने इस तटस्थ कथन का खण्डन कर दिया है। ३५ और ३६ वी कारिका से ग्रन्थकार ने धर्मकीर्त्ति के उक्त मत का खण्डन कैसे हो जाता है उसकी स्पष्टता में यह दोष बताया है कि नष्ट भाव के उन्मज्जन की आपत्ति यहाँ भी दुर्निवार है। इसकी व्याख्या में व्याख्याकार ने 'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य के नैयायिकाभिप्रेत शाब्दबोध का विस्तार से निरूपण और खण्डन कर के मूलकार के इस कथन की उपपत्ति की है कि 'घटो नास्ति' इस वाक्य से घटास्तित्व का जैसे अभाव बोध होता है वैसे घटाभाव के अस्तित्व का भी बोध होता है।

का० ३८ में व्याख्याकार ने नैयायिक के इस मत का कि-'अभाव सर्वथा भाव से भिन्न ही होता है' विस्तार से निरूपण और खण्डन किया है। एवं प्रभाकर के इस मत का कि-घटवाले भूतल की बुद्धि से भिन्न भूतल की बुद्धि ही घटाभाव है'-विस्तार से निरूपण और खण्डन किया है।

का० ३९ से ६५ तक 'अभाव कभी भी भावरूपता को अंगीकार नहीं करता' इस प्रथम बाधक के समर्थन में, बीच में शान्तरक्षित नाम के बौद्ध पंडित के मत की आलोचना प्रस्तुत कर दी

है। शान्तरक्षित कहता है कि असत् पदार्थ भावोत्पादक नहीं होता और सद्रूपापन्न असदवस्था से आकीर्ण भी नहीं होता। इसके प्रतिकार में ग्रन्थकार का कहना है कि–जब तक घट हेतुभूत मिट्टी आदि का ही घटरूप से जन्म न माना जाय तब तक शान्तरक्षित का कथन व्यर्थ है अर्थात् असत् से सदुत्पत्ति आदि दोष का निराकरण शान्तरक्षित के कथनमात्र से नहीं हो सकता।

का० ६१ में प्रथम बाधक के समर्थन के उपसंहार में व्याख्याकार ने समवायवादी नैयायिक को सकंजे में ले लिया है। 'गुणक्रिया जातिविशिष्ट बुद्धियाँ विशिष्टबुद्धिरूप होने से विशेषणसम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) विषयक होती है' यह नैयायिक का समवायसाधक प्रमुख अनुमान है जिसका विस्तार से पूर्वपक्ष करके पू. यशोविजय महाराज ने उसका नव्य न्याय की ही शैली में निराकरण कर दिया है।

का० ६६ से ८६ तक सामग्रीपक्ष वाले कार्यकारणभाव की समीक्षा की गयी है। यहाँ ग्रन्थकार का प्रधान सूर यह है कि रूपादिसामग्री अन्तर्गत रूप आलोक आदि से यदि एक रूपादिबुद्धि रूप कार्य की उत्पत्ति मानी जायेगी तो फिर कार्य वैजात्य नहीं होगा अर्थात् अलग-अलग रूपादि-कार्यविशेष की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि कारण अनैक्य का कार्य-एकत्व के साथ खुल्ला विरोध है। का० ८६ तक इसका सुन्दर समर्थन किया गया है।

का० ९ में बौद्ध ने जो कर्मवासना के आधार पर हेतुफल भाव का उपपादन किया था उसकी समालोचना में ८७ से ९२ कारिकाओं में वास्य-वासक भाव की अयुक्तता दीखायी गयी है। तदनन्तर हेतु-फल भाव की विचारणा में अवशिष्ट बौद्ध अभिप्रायों का निराकरण किया गया है। इसमें का० ११२ में बोधान्वय की चर्चा तथा का० ११३ की व्याख्या में–सविकल्प ज्ञान के प्रामाण्य का विस्तार से उपपादन विशेषत: मननीय है। सविकल्पज्ञान को प्रमाण न मानने पर निर्विकल्पक अध्यक्ष तथा अनुमान का प्रामाण्य ही दुरुपपाद्य है इस विषय पर उच्च कक्षा की चर्चा की गयी है। का० ११६ में निष्कर्ष रूप में दिखाया है कि कुछ विकल्प को प्रमाण मानना अनिवार्य होने से बोधान्वय की सिद्धि निर्बाध होती है एवं अनित्यत्व की सिद्धि दूर रह जाती है। का० ११७ में कहा गया है कि अनित्यत्व का निश्चय अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित=ग्रस्त हो जाने से संदिग्ध हो जाता है। इस विषय के ऊपर पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष कर के विस्तृत चर्चा की गयी है। का० ११८ में बताया है कि–'मृदादि घट-जननस्वभाव है' इस वाक्य के अर्थ का पर्यालोचन करने पर भी अन्वय की सिद्धि हो जाती है। का० १२१ में, कारण के अन्वय को न मानने से कार्य वैलक्षण्य की अनुपपत्ति दीखायी गयी है। का० १२३ से, अनित्यत्व में बौद्धागम का विरोध दीखाया गया है। बौद्धागम में एक स्थान में बुद्ध स्वयं कह रहे हैं कि उसके पश्चानुपूर्वी से ९१ कल्प में उन्होंने जो पुरुषहत्या की थी उस दुष्कृत्य के फल-स्वरूप वर्तमान भव में उसको पैर में काँटा लग गया। और भी एक जगह कहा है कि यह पृथ्वी कल्पपर्यन्त स्थायी है। अन्यत्र कहा है-रूपादि पाँच स्कन्ध ज्ञानद्वय का विषय है, वस्तु को स्थिर न मानने पर इन वचनों का विरोध अवश्य है। का० १२६ की व्याख्या में द्विविज्ञेयता [=ज्ञानद्वय विषयता] प्रतिपादक वचन की क्षणिकवाद में उपपत्ति करने के लिये बौद्ध 'घट-पटयो: रूपम्' इस नैयायिक प्रयोग की उपपत्ति का सहारा लेने गया तब व्याख्याकार ने कुशलता से उस नैयायिक के प्रयोग की कटु आलोचना करके स्पष्ट कह दिया है कि वस्तु को सामान्य-विशेष उभयात्मक माने

विना 'घट पटयो: रूपम्' इस प्रयोग की कथमपि उपपत्ति शक्य नहीं है। संग्रह नय के सहारे यह प्रयोग घट सकता है किन्तु व्यवहार नय में ऐसा प्रयोग नहीं घट सकता। जिन लोगों ने उसको घटाने का प्रयास किया है उनका खण्डन किया गया है। अन्त में बौद्ध और नैयायिक दोनों का सभ्य उपहास के साथ व्याख्याकार ने चौथे स्तबक की व्याख्या को समाप्त कर दिया है।

प्रस्तुत विभाग के सम्पादन में प० पू० सिद्धान्तमहोदधि स्व० आचार्यदेव श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज एवं उनके पट्टालंकार न्यायविशारद प० पू० **आचार्यदेव** श्री **विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराज तथा उनके प्रशिष्य गीतार्थरत्न प० पू० पंन्यासजी श्रीमद् **जयघोषविजयजी** गणिवर्य की महती कृपा साद्यन्त अनुवर्त्तमान रही है-जिनके प्रभाव से यह चौथा स्तबक सम्पादित हो कर अधिकृत मुमुक्षुवर्ग के करकमल में सुशोभित हो रहा है-आशा है इस स्तबक के अध्ययन से एकान्तवाद का परित्याग कर अनेकान्तवाद की उपासना से हम सब मुक्तिपथ पर शीघ्र प्रयाण करें।

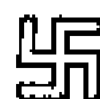
—मुनि जयसुन्दरविजय

संवत्सरी पर्व–वि. सं. २०३८ पालनपुर (बनासकांठा)



* चतुर्थ स्तवक विषयमाला *

卐



चतुर्थस्तवककारिकाणामकारादिक्रमः





卐 अर्हं 卐

हिन्दीविवेचनसंयुत

स्याद्वादकल्पलताव्याख्याविभूषित

* शास्त्रवार्त्तासमुच्चय *

चतुर्थस्तबकः

[व्याख्याकार का मङ्गलाचरण]

यस्याभिधानाज्जगदीश्वरस्य समीहितं सिद्ध्यति कार्यजातम् ।
सुरासुराधीशकृतांह्रिसेवः पुष्णातु पुण्यानि स पार्श्वदेवः ॥ १ ॥

जिस जगत्स्वामी के नामोच्चार से मनुष्य के समस्त अभीष्ट कार्य सिद्ध होते हैं, एवं देवों तथा असुरों जिस के चरणों की सेवा करते हैं वे पार्श्वदेव भगवान् हमारे पुण्य का—हमारी [1]पवित्र प्रवृत्तियों का—हमारे [2]विशुद्ध मनोभावों का-हमारे [3]शुभ अनुबन्धों का संवर्धन करें । इस मंगलश्लोक में भगवान् के नामोच्चार आदि से मनुष्य के सर्व अभिलषित कार्यों की सिद्धि होने की बात कही गयी है और उन्हें जगत् का ईश्वर बताया गया है । इन दोनों कथन से आपाततः इश्वर में जगत् के मनचाहा विनियोग एवं सम्पूर्ण कार्यवृन्द का कर्तृत्व भासित होता है, किन्तु मङ्गलकर्त्ता का इस अर्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि तृतीयस्तबक में सविस्तर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खंडन किया है और यहाँ भी उस का संकेत 'समस्त इष्टसिद्धि में भगवद् नामकीर्तन हेतुकता' के कथन से कर दिया है ।

आशय यह है कि भगवत्कीर्तन समस्त वांछित का साधन है, स्वयं भगवान् इसमें साक्षात् कृतिमान रूपसे कर्त्ता नहीं, क्योंकि वीतराग होने से उन में इस प्रकार का कर्तृत्व हो ही नहीं सकता, किन्तु जगत् का ईश्वर कहने से यह सूचित किया है कि-और किसी के नहीं किन्तु वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् के नाम कीर्तन से ही सर्वमनोवांछित की सिद्धि होती है, इसलिये सिद्धि में मुख्य कारणभूत कीर्तन के आलम्बन भगवान् ही हैं ।

जैन दर्शन में कार्यमात्र के प्रति नियति-स्वभाव-काल-कर्म-पुरुषार्थ इन पांचों का समवाय कारणभूत माना गया है, वहाँ भी अरिहंत भगवान का इन पाँच कारणों पर प्रभुत्व माना गया है, इस से सूचित होता है कि पंचकारणजन्य जगत्कार्य पर भी भगवान् का प्रभुत्व है । यही जगदीश्वरत्व है । वीतराग सर्वज्ञ २३ वे तीर्थंकर पार्श्वदेव में इसी प्रकार का प्रभुत्व विवक्षित है ।

अङ्कारूढमृगो हरिर्न भुजगाऽऽतङ्काय सर्पाऽसुहृद्
निःशङ्काश्च सुरा-ऽसुरा न च मिथोऽहङ्कारभाजो नृपाः ।
यद्व्याख्याभुवि वैर-मत्सरलवाशङ्कापि पङ्कावहा
श्रीमद्वीरमुपास्महे त्रिभुवनालङ्कारमेनं जिनम् ॥२॥

मंगल के उत्तरार्ध में भगवान् के चरण के लिये 'अंह्रि' यह शब्द प्रयोग किया है जिसका अर्थ है अंहस् यानी सभी पापों-को नष्ट करने वाला। इस शब्दप्रयोग से यह सूचित किया है कि भगवान् के चरणों की सेवा से सब पापों का विनाश हो जाता है। यहाँ पाप शब्द दुष्कृत एवं अशुभ कर्म दोनों का सूचक है इसलिये भगवत् चरण की सेवा से उन दोनों का अन्त सूचित होता है, क्योंकि मोक्षार्थी के लिये जैसे दुष्कृतों का परिहार अपेक्षित है उसी प्रकार अशुभ कर्मों का नाश भी अपेक्षित है क्योंकि वे दोनों ही बन्धन है। एक दृष्टि से पुण्य कर्म भी बन्धन कहा जा सकता है किन्तु मोक्षमार्ग-आराधना की सामग्री-मानवभव इत्यादि-की प्राप्ति बिना पुण्य नहीं हो सकती। अतः अन्त में मोक्षोपयोगी शुक्लध्यान में अति आवश्यक संहननबल-मनोबल पर्यन्त के लिये पुण्य अति आवश्यक है, इसलिये पुण्य का बन्धन सहसा त्याज्य नहीं है। अतः पापों के बन्धन से मुक्त होने के लिये भगवत् चरण की सेवा को छोडकर अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता।

देव और असुरों के अधीश्वरों अर्थात् सुरेन्द्र असुरेन्द्रों के द्वारा भगवान की चरण सेवा की जाने की बात जो कही गयी है, इस से यह तात्पर्य सूचित होता है कि देवेश और दानवेश जिन में उच्चकोटि की सहज शत्रुता इतर लोक मानते हैं, वे भी उस शत्रुभाव को छोड कर परस्पर सहयोगपूर्वक भगवान् पार्श्वदेव की चरण सेवा में संलग्न होते हैं। वीतराग के समक्ष सभी का परस्पर वैरत्याग सर्वथा उचित ही है, क्योंकि वीतराग व्यक्ति अहिंसा में पूर्णतया प्रतिष्ठित होता है। अहिंसा में पूर्णप्रतिष्ठित होने का अर्थ यही है कि केवल उस पुरुष के ही द्वेष का अन्त नहीं किन्तु उस के सम्पर्क में आने वाले प्रायः सभी जीवों के मन में भी परस्पर द्वेष की भावना मिट जाती है। अन्य दर्शनों में भी इस भाव की सूचना प्राप्त होती है, जैसे—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" [ ] इस पातञ्जलसूत्र से स्पष्ट है।

व्याख्याकार ने इस मंगल श्लोक द्वारा भगवान पार्श्वदेव से पुण्य को किसी व्यक्तिविशेष से संबद्ध न बताकर यह सूचित किया है-वे भगवान से जीवमात्र के पुण्यपुष्टि होने की कामनावाले हैं। 'पुण्य' शब्द का अर्थ यहाँ 'वैषयिक सुखों का प्रापक अदृष्ट' विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह भी आखिर तो पाप के समान एक बन्धन ही है, अतः 'पुण्य' शब्द से यह पुण्यानुबन्धी पुण्य विवक्षित है जिससे मनुष्य की उच्च उच्चतर आराधना में अनुकूल मनोबल आदि साधन सामग्री सम्पन्न हो, व उन प्रवृत्तियों और निर्मल मनोभावों की पुष्टि हो, एवं जिन से मनुष्य का आत्मिक उत्थान होता है और मोक्ष के लिये अपेक्षित आध्यात्मिक सफर में ऐसे उत्तम शम्बल की प्राप्ति होती है जिस से मनुष्य निश्चिन्त हो कर अपनी आत्मोन्नायक सफर पूर्ण कर सके।

[व्याख्याभूमि समवसरण की महिमा]

दूसरे मंगलश्लोक में भगवान महावीर की उपासना के आधार भूत तथ्यों का वर्णन किया गया है जो इस श्लोक के अनेक शब्दों से स्पष्ट होता है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

वार्त्तान्तरमाह–

मूलम्–मन्यन्तेऽन्ये जगत्सर्वं क्लेशकर्मनिबन्धनम् ।
क्षणक्षयि महाप्राज्ञा ज्ञानमात्रं तथा परे ॥ १ ॥

जिस की प्रवचनभूमि सिंहासन का अधःकक्ष समवसरण में, सिंह की गोद में मृग निर्भय होकर बैठ पाता है, सर्पों का शत्रु याने गरुड या मयूर से सर्पों का आतङ्क-भय समाप्त हो जाता है, देवता और दानव एकदूसरे के प्रति निःशङ्क-आक्रमण की शङ्का से रहित हो जाते हैं और नरपति अहंकार एवं परस्पर द्वेष से मुक्त हो जाते हैं, और जिस की व्याख्याभू समवसरण में स्थित प्राणियों में परस्पर में इर्ष्या और शत्रुता होने की किंचित् मात्र शङ्का भी शङ्कालु के लिये पङ्कावह अर्थात् पाप जनक होती है, क्योंकि भगवान के सांनिध्य में उन में इन बातों की किञ्चित्मात्र सम्भावना ही नहीं होती, तीनों लोक के अलङ्काररूप ऐसे भगवान श्री महावीरस्वामी की हम उपासना करते हैं ।

इस श्लोक में मङ्गलकर्ता ने भगवान् महावीरस्वामी को तीनों लोक का अलङ्कार कहा है। अलङ्कार का अर्थ होता है-भूषित करने वाला, शोभा बढाने वाला आभूषण । शोभा की वृद्धि इसी वस्तु से होती है जो अलंकरणीय वस्तु को नितान्त निर्मलरूप में प्रस्तुत कर सके जिस की आभा से अलंकरणीय वस्तु का दोष पूर्णतया अभिभूत या समाप्त हो जाय । त्रिभवन पर भगवान महावीर का ऐसा ही प्रभाव है । उन के सम्पर्क से चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष सारा त्रिभुवन अलंकृत हो उठता है, क्यों कि भगवान के प्रभाव से राग, द्वेष, भय, आतङ्क, शङ्का, अहंकारादि त्रिभुवन के सम्पूर्ण मल शिथिल हो जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं । भगवान महावीर को श्रीमान् भी कहा गया हैं, 'श्री' का अर्थ होता है सौंदर्य और सौंदर्य का आश्रय वही वस्तु होती है जिस से किसी प्रकार का उद्वेग न हो, उद्वेग-कारि वस्तु कभी भी सुन्दर नहीं कही जाती । भगवान को श्रीमान् कहकर उन की इसी अनुद्वेजकता की-यानी परखेदकर्तृत्व के अभाव की सूचना दी गई है ।

भगवान को 'जिन' भी कहा गया है । 'जिन' का अर्थ होता है विजेता, विजेता का गौरव उसी पुरुष को मिलता है जो सब से बडे शत्रु पर विजय प्राप्त करता है । जीवमात्र का सब से बडा शत्रु होता है उस का मोह । मोह का अर्थ है मिथ्यादृष्टि, इस दृष्टि से ही मनुष्य पतित और पराजित होता है । इस महा शत्रु मोह पर विजय प्राप्त करने के कारण ही भगवान को जिन कहा गया है। भगवान के सम्बन्ध की यही विशेषताओं को श्लोक के पूरे भाग में परिपुष्ट किया गया है और यह बताया गया है कि जिस भूमि में भगवान का उपदेश प्रवाहित होता है एवं जिस भूमि में भगवान के गुणों और महिमा की पवित्र चर्चा होती है उस भूमि में इर्ष्या-शत्रुता आदि पूर्णरूप से तिरोहित हो जाते हैं । उस की किंचित् मात्र भी सम्भावना नहीं रहती । प्राणियों के हृदय में एक दूसरे से भय की भावना नहीं रहती है, मृग सिंह का वध्य है वह भी सिंहों के बीच भयमुक्त होकर विचरण करने लगता है, सर्प मयूर के भक्ष्य होते हैं किन्तु उन्हें उक्तभूमि में मयूर से कोई आतङ्क नहीं होता है । देव और दैत्य जन्म से ही दूसरे के प्रति शत्रुता रखते हैं, एक दूसरे से स्वभावतः सशङ्क रहते हैं, लेकिन भगवान से प्रभावित भूमि में वे भी परस्पर निःशङ्क हो जाते हैं । राजाओं का अहंकार भी चूर्ण हो जाता है । उन के मन में परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं रह जाती जिस से वे विश्व-बन्धुता, मित्रता और एकात्मकता के भाव से भर जाते हैं ।

अन्ये=सौत्रान्तिकाः सौगताः सर्वं=चराचरम् जगत्, क्लेशकर्मनिबन्धनं=रागादिनिमित्तम्, तथा क्षणक्षयि=प्रतिक्षणनश्वरम्, मन्यन्ते । तथा महाप्राज्ञाः-तेभ्योऽपि सूक्ष्मबुद्धयः परे=योगाचाराः, ज्ञानमात्रं=क्षणिकविज्ञानमात्रं जगद्मन्यन्ते ॥१॥

[सौत्रान्तिक-योगाचार बौद्धमतवार्त्ता]

प्रथम कारिका में बौद्ध सम्प्रदाय के अस्तित्ववादी दार्शनिक दृष्टिकोण की चर्चा की गई है। अस्तित्ववादी दार्शनिक सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हैं। एक-बाह्यार्थ अस्तित्ववादी और दूसरी-विज्ञानमात्र अस्तित्ववादी। बाह्यार्थास्तित्ववादी की दो शाखा है-बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी और बाह्यार्थानुमेयवादी। एवं विज्ञानास्तित्ववादी की भी दो शाखाएँ है-साकार विज्ञानवादी और निराकारविज्ञानवादी। बाह्यार्थास्तित्ववादीयों में प्रथमवाद की मान्यता यह है कि मनुष्य को ज्ञान और उसके विषयभूत पदार्थ जिसे ज्ञानभिन्न होने से बाह्यपदार्थ कहा जाता है दोनों का प्रत्यक्षानुभव होता है और उन अनुभवों को भ्रम मानने में कोई प्रमाण नहीं। अतः ज्ञान और ज्ञान से भिन्न विषय दोनों की सत्ता प्रमाणिक है। दूसरे वाद की मान्यता यह है कि मनुष्य को मुख्यरूप से अपने ज्ञान का ही प्रत्यक्ष होता है। विषय तो उस प्रत्यक्ष में ज्ञान का अङ्ग यानी विशेषण होकर भासित होता है। विषय के स्वतंत्र प्रत्यक्ष के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये ज्ञान और बाह्यविषय इन दोनों का अस्तित्व होने पर भी उन दोनों में ज्ञान ही प्रत्यक्ष है और विषय अप्रत्यक्ष है। ज्ञानके अङ्गरूप में विषय की अनुभूति होने से उस अनुभूति द्वारा विषय का अनुमान होता है। अतः बाह्यार्थ यह प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमेय होता है।

विज्ञानमात्रास्तित्ववादी की प्रथम शाखा का आशय यह है कि बाह्यवस्तु का अस्तित्व अप्रमाणिक है। ज्ञान में जो साकारता का अनुभव होता है वह साकारता उसका सहज धर्म है। उसकी उपपत्ति के लिये अर्थात् ज्ञान को साकार बनाने के लिये ज्ञान से भिन्न विषय की कल्पना अनावश्यक है। ज्ञान और उसका आकार दोनों ही ज्ञानस्वरूप है। उसकी दूसरी शाखा का अभिप्राय यह है कि ज्ञान में अनुभूत होने वाली साकारता वास्तविक नहीं है किन्तु कल्पित है। ज्ञान स्वभावतः निराकार है। आकार की कल्पना वासनामूलक है। आकार सत्य नहीं है। बाह्यार्थवादी की प्रथम शाखा सौत्रान्तिक और दूसरी वैभाषिक कही जाती है। द्वितीयवादी की दोनों शाखाएँ योगाचार के नाम से प्रसिद्ध है।

[भाव की क्षणिकता में हेतुचतुष्टय]

प्रस्तुत आद्यकारिका में इन्हीं बातों का सूक्ष्म संकेत करते हुए कहा गया है कि कुछ बुद्धानुयायी सौत्रान्तिकादि वादिजन सम्पूर्ण जगत् को क्लेशकर्ममूलक मानते हैं। क्लेशकर्म का अर्थ है राग, द्वेष, मोह। 'क्लेशाः=दुःखम् कर्म=कार्यम् यस्य' इस व्युत्पत्ति से क्लेश का जनक होने के कारण रागादि को क्लेशकर्म शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जगत् की रागादिमूलकता अन्य सभी पुनर्जन्मवादी दर्शनों को मान्य है। इसलिये उनसे इस मत में अन्तर बताने के लिये यह भी कहा गया है कि जगत् क्षणविनाशी है। अर्थात् जगत् का प्रत्येक भाव अपनी उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही नष्ट हो जाता है। किसी भी भाव का दो क्षण के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

मूलम्-तयाहुः क्षणिकं सर्वं नाशहेतोरयोगतः ।
अर्थक्रियासमर्थत्वात् परिणामात्क्षयेक्षणात् ॥२॥

तथाहि-ते=सौगताः आहुः=प्रतिजानते । किम् ? इत्याह-सर्वं क्षणिकमिति । अत्र हेतु-चतुष्टयम्-नाशहेतोरयोगत इत्याद्यो हेतुः, अर्थक्रियासमर्थत्वादिति द्वितीयः, परिणामादिति तृतीयः, अतादवस्थ्यादित्यर्थः, क्षयेक्षणादिति तुर्यः, अन्ते क्षयदर्शनादित्यर्थः ।

अत्राद्यहेतुना स्थायित्वाऽसिद्धौ साध्यसिद्धिः । तथाहि-नाशहेतुभिर्नश्वरस्वभावो भावो नाश्येत, अनादृशो वा ? आद्ये प्रयासवैफल्यम् । द्वितीये तु स्वभावपराकरणस्य कर्तुमशक्यत्वादनाशप्रसङ्गः । कियत्कालस्थायित्वस्वभावस्यैव कार्यस्य हेतुभिर्जनने च तादृशस्वभावस्योदयकाल इवान्तकालेऽपि सत्त्वात् पुनस्तावन्तं कालमवस्थानाऽऽपत्तिरिति ।

कारिका में यह भी कहा गया है कि जो बुद्धमतानुयायी अधिक सूक्ष्मबुद्धि सम्पन्न हैं जैसे योगाचार, वे जगत् को केवल क्षणिकविज्ञान रूप मानते हैं । उनकी दृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण जगत् विज्ञान की ही एक अवस्था है । विज्ञान से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है ॥१॥

[चतुर्थ कारिका से समूचे चौथे स्तबक में सौत्रान्तिक को लक्ष्य बना कर क्षणिकवाद की ही आलोचना की जायगी ।]

(योगाचार अभिप्रेत विज्ञानवाद की आलोचना पाँचवे स्तबक में प्रस्तुत की जायगी ।)

(यहाँ दूसरी कारिका से साधारणतया सौगत के क्षणिकवाद की और तीसरी कारिका में योगाचार [सौगत विशेष] अभिप्रेत विज्ञानवाद की पूर्वपक्ष की स्थापना की जा रही है)

बौद्ध दार्शनिकों का जगत् के सम्बन्ध में यह अभिप्राय है कि-'सर्वं क्षणिकं' सम्पूर्ण भाव क्षणिक=क्षणमात्रस्थायी=अपनी उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में नश्वर हैं । इस अभिप्राय की सिद्धि के लिये वे चार हेतुओं का प्रयोग करते हैं । पहला हेतु नाश के कारण का अभाव । इसका आशय यह है कि भाव के नाश का कोई कारण नहीं होता । अर्थात् भाव का नाश कारणनिरपेक्ष होने से भाव का जन्म होते ही नाश उत्पन्न हो जाता है । दूसरा हेतु है अर्थ क्रिया समर्थत्व । अर्थ का तात्पर्य है भाव, क्रिया का अर्थ है उत्पत्ति और समर्थत्व का अर्थ है योग्यत्व । इस प्रकार भावोत्पादनसामर्थ्य ही द्वितीय हेतु है । तृतीय हेतु है परिणाम । परिणाम का अर्थ है तदवस्थता का अभाव । आशय यह है कि जननावस्था ही भाव की अवस्था होती है । जननावस्था का अर्थ है काल सम्बन्ध । भाव दूसरे क्षण में इस अवस्था से रहित हो जाता है । अर्थात् काल के साथ उसका सम्बन्ध टूट जाता है । अथवा परिणाम का अर्थ है अन्यथाभाव । चौथा हेतु है अन्त में क्षयदर्शन । इसका अर्थ है अन्त में क्षय का प्रत्यक्ष । आशय यह है कि किसी भी भाव का एक न एक दिन नाश अवश्य देखा जाता है । यह नाश सहसा संभव नहीं होता किन्तु जन्म क्षण से ही उसकी प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाता है और एक दिन ऐसा आता है जब भाव का नाश दृष्टिगोचर होता है ।

द्वितीयेऽप्यर्थक्रियासमर्थत्वं स्थायिनो निवर्तमानं क्षणिक एव भावे विश्राम्यति । तथाहि-स्थायी भावः क्रमेण वा कार्यं कुर्यात् अक्रमेण वा ? द्वितीये एकदैव सर्वकार्योत्पत्तिः आद्ये चार्थक्रियाजननस्वभावत्वे प्रागेव कुतो न कुर्यात् ? सहकार्यभावादिति चेत् ?

(भाव की क्षणिकता में हेतुचतुष्टय)

इन हेतुओं से 'भाव की क्षणिकता किस प्रकार सिद्ध होती है' इस बात का प्रतिपादन व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ने अत्यन्त तर्कपूर्ण रीति से किया है। जैसे (१) प्रथम हेतु-नाशकारणाभाव से भाव के स्थायित्व की सिद्धि न होने के कारण भाव का क्षणिकत्व सिद्ध होता है। नाशकारणाऽभाव का उपपादन करने के लिये उन्हों ने प्रश्न उठाया है कि यदि नाश का कोई हेतु होता है तो वह किसका नाश करता है ? जो भाव स्वभावतः नश्वर है उसका नाश करता है या जो स्वभावतः अनश्वर है उसका नाश करता है ? इन में प्रथम पक्ष में नाश का हेतु सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भाव जब स्वभावतः नश्वर है, नाश हो जाना उसका स्वभाव ही है तो स्वयं ही नष्ट हो जायगा। अतः नाश के कारण की कल्पना निरर्थक है। दूसरे पक्ष में भी नाश का हेतु नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि यदि भाव का स्वभाव अनश्वरत्व होगा तो उसे दूर कर सकना किसी के लिये संभव नहीं है। क्योंकि किसी भी वस्तु का जो स्वभाव है वह अपरिहार्य होता है। इसलिये इस पक्ष में नाश के असंभाव्य होने के कारण नाश के हेतु की कल्पना निरर्थक होगी।

यदि यह कहा जाय-कि भाव का स्वभाव न नश्वरत्व है और न अनश्वरत्व है किन्तु कुछ काल-तक स्थायित्व है। यह स्वभाव तभी उपपन्न हो सकता है जब भाव का कुछ काल के बाद नाश हो। अतः ऐसे नाश की उत्पत्ति के लिये नाश के हेतु की कल्पना आवश्यक है क्योंकि नाश को अहेतुक मानने पर भाव का जन्म होते ही नाश हो जायगा। अतः कुछ काल तक स्थायित्व उसका स्वभाव न हो सकेगा। नाश को सहेतुक मानने पर जितने काल तक नाश के हेतु का संनिधान न होगा उतने काल तक नाश न हो सकने के कारण भाव का स्थायित्व बन सकता है अतः भाव के इस स्वभाव की उपपत्ति के लिये नाशहेतु की कल्पना सार्थक है-' तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि भाव जिन कारणों से उत्पन्न होगा उन कारणों से अपने कियत्कालावस्थायित्व स्वभाव के साथ ही उत्पन्न होगा। क्योंकि वस्तु का स्वभाव वही धर्म होता है जो वस्तु के साथ होता है, बाद में आने वाला धर्म वस्तु का स्वभाव नहीं होता। और स्वभाव एवं वस्तु की आयु समान होती है। अर्थात् वस्तु के रहते स्वभाव की निवृत्ति नहीं होती और न स्वभाव को छोड़कर वस्तु भी निवृत्त होती है। फलतः भाव का कियत्कालावस्थायित्व स्वभाव जैसे भाव के उदयकाल में रहेगा उसी प्रकार उसके जीवनकाल यावत् अन्तकाल में भी रहेगा। तात्पर्य, भाव अपने स्वभाव से कदापि मुक्त न होगा। फलतः इस स्वभाव का पर्यवसान भाव के सार्वकालिकत्व में होगा। इसलिये नाश हेतुओं से उस स्वभाव का निराकरण संभव न होने से नाश हेतु की कल्पना निरर्थक होगी। उक्त विचार से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि नाश का कोई हेतु नहीं होता इसलिए नाश के होने में किसी की अपेक्षा न होने से कोई विलम्ब नहीं हो सकता. अत एव किसी भी भाव का जब जन्म होता है तो उसके ठीक अगले ही क्षण में उसका नाश हो जाता है। इस प्रकार नाशकारणाभाव रूप हेतु से भाव की क्षणिकता सिद्ध होती है।

किं सहकारित्वम् ?-अतिशयाऽऽधायकत्वम्, एककार्यप्रतिनियतत्वं वा ? आद्ये, अतिशयाधानेनैव कारकोपक्षयः, अतिशयस्य भेदे च सहकार्यनुपकारः, अभेदे च बलाद् भिन्नस्वभावत्वम्। द्वितीये, साहित्येऽपि पररूपेणाऽहेतुत्वादकारकावस्थात्यागात् कार्यानुत्पत्तिरेव। 'इतरहेतुसंनिधान एव कार्यं जनयतीति हेतोः स्वभावः' इति चेत् ? तदुत्पत्त्यनन्तरमेव स्वभावानुप्रविष्टत्वादितरहेतून् मेलयेदिति।

[स्थायिभाव में अर्थक्रिया का असम्भव]

(२) द्वितीय हेतु से भाव के क्षणिकत्व की सिद्धि का उपपादन करते हुए व्याख्याकार ने कहा है- अर्थक्रियासमर्थत्व रूप द्वितीय हेतु किसी स्थायिभावों में नहीं हो सकता, अतः भाव को क्षणिक मानना आवश्यक है ताकि उस भावों में अर्थक्रियासमर्थत्व रह सके। 'अर्थक्रियासमर्थत्व स्थायिभाव में नहीं रह सकता' इस तथ्य को व्याख्याकार ने इस प्रश्न के आधार पर प्रतिष्ठित किया है कि स्थायिभाव यदि कार्य का जनक होगा तो क्रम से होगा अथवा अक्रम से होगा ? इसमें दूसरा पक्ष मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि भाव से कार्यों की उत्पत्ति अक्रम से होगी तो उसके समस्त कार्य एक ही क्षण में हो जायेंगे। अतः दूसरे क्षण उसका कोई कार्य शेष न रहने से उसका अस्तित्व अप्रामाणिक हो जायगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही अस्तित्व है एवं अस्तित्व का साक्षी है। प्रथम पक्ष भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष में इस प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता कि भाव यदि बाद में उत्पन्न होने वाले कार्यों का जनक होता है तो उन कार्यों को पहले ही क्यों उत्पन्न नहीं कर देता ? क्योंकि बाद में भी उसे ही उन कार्यों को उत्पन्न करना है ! तो वह जब पहले विद्यमान है तब पहले ही उन कार्यों को उत्पन्न करने में कोई बाधा तो है नहीं। अतः पहले ही उस समय उन सभी कार्यों को उत्पन्न कर देना चाहिये। अतः भाव को क्रम से कार्यों का उत्पादक मानना अत्यन्त संकटपूर्ण है।

यदि यह कहा जाय कि-'भाव अकेला कार्य का जनक नहीं होता, क्योंकि कोई भी कार्य किसी एक ही कारण से उत्पन्न नहीं होता इसलिये भाव को अपना कार्य उत्पन्न करने के लिये उस कार्य के अन्य कारणों के भी सहयोग की अपेक्षा होती है। इन सहयोगी कारणों को सहकारी कारण कहा जाता है। अतः बाद में होने वाले कार्यों के सहकारी कारणों का पूर्व में सन्निधान न होने से पूर्व में ही उनकी उत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु भाव को जब जिस कार्य के सहकारी कारणों का सन्निधान प्राप्त होता है तब ही भाव से उस कार्य की उत्पत्ति होती है। अत एव भाव क्रम से अपने कार्यों को उत्पन्न करता है इस पक्ष के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती'- तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन का आधार है भाव द्वारा कार्य की उत्पत्ति में सहकारी की अपेक्षा। किन्तु यह बात सहकारित्व का निर्वचन न हो सकने से स्वीकार नहीं की जा सकती। -जैसे सहकारित्व के सम्बन्ध में दो विकल्प हो सकते हैं, पहला यह है कि सहकारित्व अतिशयाधायकत्वरूप है। अर्थात् भाव का सहकारी वह होता है जिससे भाव में कोई अतिशय उत्कर्ष उत्पन्न हो, जिसके बल से भाव कार्य को उत्पन्न कर सके। और दूसरा विकल्प है सहकारित्व 'एककार्यप्रतिनियतत्व' रूप है अर्थात् तत्तद् कार्य के उत्पादन के समय जो भाव के साथ नियम से अवश्य उपस्थित हो वह तत्तद्कार्य को उत्पन्न करने में भाव का सहकारी होता है।

तृतीये परिणामस्याऽन्यथाभावरूपस्य पूर्वरूपपरित्यागं विनाऽभावात्, तस्य चानुभवसिद्धत्वात् क्षणिकत्वसिद्धिः।

इनमें प्रथम विकल्प ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि सहकारी और भाव स्वयं दोनों अतिशय को उत्पन्न करके ही क्षीणशक्तिक हो जायेंगे। अतः उस कार्य की उत्पत्ति न हो सकेगी जिसके लिये भाव को अन्य कारणों की अपेक्षा थी। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि सहकारी कारणों से उत्पन्न होनेवाला अतिशय यदि भाव से भिन्न होगा तो उसके उत्पन्न होने से भी भाव सहकारिओं द्वारा अनुपकृत ही रहेगा। क्योंकि किसी भी वस्तु का भिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति से कोई उपकार होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि भिन्न वस्तु से वस्तु में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता। फलतः पूर्व भाव में सहकारिसन्निधान दशा में भी सहकारी असन्निधान दशा की अपेक्षा कोई वैलक्षण्य न होने से पहले के समान ही उससे कार्य की उत्पत्ति न हो सकेगी. अतः उसमें क्रम से कार्यजनकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती और यदि अतिशय को भाव से अभिन्न माना जायगा तो वह पूर्व भाव से अभिन्न तो हो नहीं सकता क्योंकि पूर्व भाव के बाद उत्पन्न होता है। अतः उसे किसी नये भाव से अभिन्न मानना होगा। अर्थात् यह मानना होगा कि सहकारी कारण किसी नये सातिशय भाव को उत्पन्न करता है जिस से कार्य की उत्पत्ति होती है। फलतः पूर्वभाव और नये भावों में भिन्नता होने के कारण भाव में क्रम से कार्यजनकता की सिद्धि नहीं हो सकती।

[क्रमशः कार्यजनकता, एककार्यप्रतिनियतत्व रूप सहकारित्व]

सहकारित्व का दूसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि अन्य कारणों का साहित्य होने पर भी भाव उन कारणों के रूप से तो कारण हो नहीं सकता- उत्पादक हो नहीं सकता, क्योंकि कोई भी भाव अपने रूप से ही कार्य का उत्पादक होता है, परकीय रूप से नहीं होता, और भाव का अपना रूप सहकारी कारणों के असंनिधान में जो अकारक अवस्था थी, वही है। अतः उस अवस्था का त्याग न होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि उस अवस्था का त्याग होगा तब पूर्वभाव न रह जायगा किन्तु नया भाव उत्पन्न होगा और उसी से कार्य की उत्पत्ति होगी, अतः सहकारित्व के द्वितीय विकल्प में भी भाव में क्रमिक कार्यजनकता नहीं सिद्ध हो सकती। यदि यह कहा जाय कि 'अन्य सभी कारणों का संनिधान होने पर ही कार्य को उत्पन्न करना भाव का स्वभाव है'- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस स्वभाव में अन्य हेतुओं का संनिधान भी प्रविष्ट है और स्वभाव भाव का सहभावी धर्म होता है। अतः भाव का उक्त स्वभाव मानने पर उसकी उत्पत्ति के समय ही अथवा उत्पत्ति के अव्यवहितउत्तरक्षण में ही उसमें ही अन्य कारणों का संनिधान भी अपरिहार्य हो जायगा। इसीलिए भाव से उसके समस्त कार्यों की उत्पत्ति एक ही समय होगी, भिन्न समय में न होगी। फलतः भाव का उक्त स्वभाव मानने पर भी उसमें क्रमिक कार्यजनकता की सिद्धि नहीं हो सकती।

(३) तीसरा हेतु परिणाम है और उसका अर्थ है-अन्यथाभाव, जो पूर्वरूप का परित्याग हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यथाभाव पूर्वरूपपरित्यागपूर्वक ही अनुभवसिद्ध है और जब भाव के पूर्वरूप का परित्याग होगा तो उसका अर्थ यही होगा कि भाव का स्वरूपत्याग होता है, न कि भाव का अपना पूर्वरूप स्वयं भाव ही होता है अतः भाव की परिणामशीलता से भाव के क्षणिकत्व की सिद्धि अनिवार्य है।

चतुर्थेऽप्यन्ते क्षयदर्शनात् तदन्यथानुपपत्त्या प्रागपि तत्सिद्धिः । इह प्रत्यक्षानुपपत्ति-मूलम्, आद्ये तु स्वभावानुपपत्तिरिति विशेषः ॥२॥

(४) चौथा हेतु है अन्त में भाव के नाश का प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष विषयजन्य होने के कारण यह प्रत्यक्ष भावनाश के अधीन है । और भाव का नाश अन्त में भी यदि सहसा ही होगा तो भाव की उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में उसकी उत्पत्ति अपरिहार्य होगी क्योंकि सहसा उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा न होने से उसमें विलम्ब होने का कोई कारण नहीं है । और यदि अन्त में प्रत्यक्ष दिख पडनेवाले भावनाश को हेतुजन्य माना जायगा तो प्रश्न यह होगा कि उस हेतु का संनिधान कौन करता है ? भाव स्वयं करता है या अन्य कोई करता है ! द्वितीय पक्ष में संनिधान के अन्य किसी निमित्त में कोई निर्दोषयुक्ति न होने से भाव को ही नाश हेतु के संनिधान का सम्पादक मानना होगा । तो यदि भाव से ही उसके नाशक का संनिधान होता है तो भाव के उत्पत्ति काल ही में उसके नाशक का संनिधान अवर्जनीय होगा । अतः उत्पत्तिक्षण बाद ही के क्षण में भाव का नाश हो जाने से उसके क्षणिकत्व की सिद्धि अनिवार्य है । प्रश्न हो सकता है यदि बीज आदि भाव का नाश इस के द्वितीय क्षण में ही होता है तो उसी समय बीज आदि भाव के नाश का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? वह अंकुर आदि का प्रादुर्भाव होने पर ही क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बीज आदि भाव अपने अग्रिम क्षणों में अपने समान बीज आदि को उत्पन्न करते रहते हैं अतः समान अग्रिमबीज के प्रत्यक्ष से पूर्वबीजनाश के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध हो जाता है। अन्तिम बीज नये बीज का जनक नहीं होता, अत एव उस से किसी समान बीज की उत्पत्ति नहीं होती । अतः कोई प्रतिबन्धक न होने से अङ्कुरोत्पत्ति के समय बीज नाश का प्रत्यक्ष होता है ।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि बीजादिभावों का नाश अग्रिम क्षण में उन से उत्पन्न होने वाले भाव से भिन्न नहीं होता, उत्तरोत्तर भाव ही पूर्वभाव का नाश कहा जाता है । इसीलिए यह प्रश्न ही नहीं ऊठ सकता कि अङ्कुरोत्पत्ति के पूर्व ही बीज नाश का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? क्योंकि उत्तरोत्तर भाव का प्रत्यक्ष होने से पूर्वभाव के नाश का प्रत्यक्ष होना सिद्ध ही है । इस प्रकार उत्तरोत्तर बीज का प्रत्यक्ष पूर्व पूर्व बीज के नाश का प्रत्यक्ष है । और अंकुर का प्रत्यक्ष अन्तिम बीज के नाश का प्रत्यक्ष है । पूर्व बीज से अंकुरात्मक बीजनाश की और अन्तिम बीज से बीजात्मक बीजनाश की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि अंकुर का कारण वह भाव होता है जिसमें अंकुर कुर्वद्रूपत्व होता है, और बीज का कारण वह होता है जिसमें बीजकुर्वद्रूपत्व होता है । पूर्व बीज में अंकुरकुर्वद्रूपत्व नहीं होता है इसलिए पूर्व बीजों से अङ्कुर उत्पत्ति नहीं होती और अन्तिम में बीज कुर्वद्रूपत्व नहीं होने से उससे बीज की उत्पत्ति नहीं होती ।

आशय यह है कि किसी भाव के नाश का प्रत्यक्ष जो अन्त में होता है उसकी उत्पत्ति के लिए भाव का नाश मानना अनिवार्य है उस नाश के अपने प्रतियोगी भावमात्र के ही अधीन होने के कारण भाव की उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में ही उसकी उत्पत्ति अपरिहार्य है इसलिए चौथे हेतु से भी क्षणिकत्व की सिद्धि आवश्यक है ।

प्रथम हेतु और चौथे हेतु में क्षणिकत्व की साधकता का आधार भिन्न होने से दोनो में अन्तर है । जैसे, चौथा हेतु इसलिए क्षणिकत्व का साधक होता है कि भाव को क्षणिक माने बिना नाश की उत्पत्ति

योगाचारमतप्रयोगमाह—

मूलम्—ज्ञानमात्रं च यल्लोके ज्ञानमेवानुभूयते ।
नार्थस्तद्व्यतिरेकेण ततोऽसौ नैव विद्यते ॥३॥

ज्ञानमात्रं च 'जगत्' इति शेषः । चकारेण क्षणिकत्वसमुच्चयः । हेतुमाह-यद्=यस्मात्, लोके ज्ञानमेवाऽनुभूयते, अर्थस्तद्व्यतिरेकेण नानुभूयते, तस्य जडत्वाभ्युपगमात्, ज्ञानविषयताया ज्ञानाऽभेदनियतत्वात् । ततः, असौ=संवृतिसिद्धोऽर्थः, नैव विद्यते=पारमार्थिको नेत्यर्थः ॥३॥

संभव न होने के कारण उसके प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होती है। और प्रथम हेतु नाशकारणाभाव इसलिए क्षणिकत्व का साधक है कि नाशकी उत्पत्ति भाव को नश्वर स्वभाव मानने पर होती है और यह स्वभाव को क्षणिक माने बिना नहीं उपपन्न हो सकता ॥२॥

[अनुभव से ज्ञानमात्र का अस्तित्व—योगाचार]

तीसरी कारिका में योगाचार मत की स्थापना करते हुए कहा गया है कि-विश्व में ज्ञान का ही अनुभव होता है. ज्ञान भिन्न वस्तु का अनुभव नहीं होता, क्योंकि मनुष्य को जो अनुभव होता है वह 'मैं अमुक वस्तु को जानता हूं' इसी रूप में होता है, 'यह अमुक वस्तु है' इस रूप में नहीं होता। लोक में किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि 'यह अमुक वस्तु है' वह अनुभव नहीं है किन्तु वचनमात्र है और वचन अनुभवाधीन होता है। अनुभव 'मैं इस वस्तु को जानता हूं' इस रूप में ही होता है।

आशय यह है कि किसी भी वस्तु की सिद्धि अनुभव से ही होती है और अनुभव उसी वस्तु का हो सकता है जिस वस्तु का अनुभव कर्ता के साथ सहज संबंध हो क्योंकि अनुभवकर्ता को यदि असंबद्ध वस्तु का भी अनुभव माना जायगा तो वस्तु में ज्ञात और अज्ञात का भेद न हो सकेगा, क्योंकि उस दशा में सभी वस्तु समान रूप से अनुभव कर्ता को ज्ञात होगी। वस्तुवादी के मत में वस्तु ज्ञानसे भिन्न होती है, अतः जड होती है, अनुभव कर्ता के साथ उसका सहज सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः ज्ञान से भिन्न होने पर उसका अनुभव नहीं हो सकता । वस्तु में जो ज्ञानविषयता का व्यवहार होता है वह वस्तु को ज्ञान से अभिन्न मानने से ही हो सकता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि 'जगत् में एकमात्र ज्ञान ही सत् वस्तु है' ज्ञान से भिन्न यदि कोई वस्तु प्रतीत होती है तो वह संवृतिमूलक है-वासनामूलक है। संवृति का अर्थ है-जिससे वस्तु के सत्यस्वरूप का संवरण-आवरण हो, और वह है अनादिसिद्ध वासना। वस्तु का वास्तविक स्वरूप ज्ञानात्मकता ही है, किन्तु मनुष्य वस्तु को ज्ञान से भिन्न समझता है और वह ऐसा इसलिए समझता है कि अनादि काल से वस्तु को ऐसा ही समझने की उसकी वासना बन गयी है। इसलिये वस्तु की ज्ञानाऽभिन्नता का मूल वासना रूप संवृति ही है। अतः वस्तु की ज्ञानभिन्नता असत् है और वस्तु की ज्ञानरूपता पारमार्थिक है। आशय यह है कि वस्तु ज्ञानभिन्न रूप में असत् है, पारमार्थिक नहीं है, पारमार्थिक केवल ज्ञान रूप में ही है ॥३॥

अत्र समाधानवार्त्तामाह—

मूलम्-अत्राप्यभिदधत्यन्ये स्मरणादेरसंभवात् ।
बाह्यार्थवेदनाच्चैव सर्वमेतदपार्थकम् ॥४॥

अत्रापि=बौद्धवादेऽपि, अन्ये=जैनाः, अभिदधति=उत्तरयन्ति । किम् इत्याह-क्षणिकत्वे स्मरणादेरसंभवात् , बाह्यार्थवेदनाच्चैव=बाह्यार्थप्रमान्यथानुपपत्त्या ज्ञानमात्राऽसिद्धेश्चैवेत्यर्थः, सर्वमेतत्=दिङ्मात्रेण निर्दिष्टं सौगतमतद्वयम्, अपार्थकं=निष्प्रयोजनम् ॥४॥

(बाह्यार्थ के अबाधित अनुभव से बौद्धमत की अयुक्तता-उत्तरपक्ष)

इस कारिका में जैन मनीषियों की ओर से बौद्ध के उक्त मतों का निराकरण करते हुए यह कहा गया है कि-'भावमात्र को क्षणिक मानने पर भाव के स्मरण और प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति असंभव होगी' । स्मरण की अनुपपत्ति के दो कारण हैं। (१) स्मरण की उत्पत्तिपर्यन्त भाव के पूर्वानुभव के संस्कार का न होना । और दूसरा कारण है अनुभव कर्ता का न होना । आशय यह है कि जब किसी मनुष्य को किसी भाव का अनुभव होता है तब उस अनुभव से एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है और कालान्तर में जब किसी हेतु से यह संस्कार उद्बुद्ध होता है तब उस भाव के पूर्वानुभव-कर्ता मनुष्य को उस भाव का स्मरण होता है । किन्तु यदि भावमात्र को क्षणिक माना जायगा तो भाव के अनुभव से उत्पन्न होने वाला भावविषयक संस्कार भी क्षणिक होगा, एवं भाव का अनुभव करने वाला व्यक्ति भी क्षणिक होगा, अतः स्मरण की उत्पत्ति के समय दोनों का अभाव होने से स्मरण का होना असंभव होगा । प्रत्यभिज्ञा की अनुत्पत्ति में भी यही दो कारण है, क्योंकि 'स एव अयं घटः' -यह वही घडा है' यह प्रत्यभिज्ञा पूर्वानुभूत घट और वर्तमान में दृश्यमान घट के ऐक्य को विषय करती है और होती है उसी मनुष्य को जिसे दृश्यमान घट का पूर्वकाल में अनुभव हुआ रहता है ।

भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में पूर्वानुभूत घट और वर्त्तमान में दृश्यमान घट में भेद होता है एवं वर्तमान में घट को देखने वाला व्यक्ति पूर्वकाल में घट का अनुभव करनेवाले व्यक्ति से भिन्न होता है, अतः भावमात्र को क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती । स्मरण और प्रत्यभिज्ञा का अपलाप भी नहीं किया जा सकता क्योंकि उन के आधार पर लोक में अनेक व्यवहार होते हैं ।

[ज्ञानभिन्न वस्तु असत् नहीं है]

इसी प्रकार जगत् को केवल ज्ञानमात्रात्मक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान से भिन्न वस्तु का अस्तित्व न होगा तो उस का यथार्थ ज्ञान भी नहीं होगा, क्योंकि असद् वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं होता । यह नहीं कहा जा सकता कि–ज्ञानभिन्न वस्तु का यथार्थज्ञान असिद्ध है' क्योंकि भूतल आदि देश में घट आदि के ज्ञान से उन स्थानों में घट आदि की प्राप्ति होती है । यदि यह ज्ञान अयथार्थ हो तो उस से वस्तु की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि लोक में जिस ज्ञान को अयथार्थ समझा जाता है उस से वस्तु की प्राप्ति नहीं होती । ज्ञान भिन्न वस्तु के ज्ञान को यथार्थ मानना इसलिए भी उचित है कि अन्य ज्ञान से इस का बाध नहीं होता. यदि बाध न होने पर भी ज्ञान यथार्थ होगा तो ज्ञान का अनुभव भी यथार्थ होगा अतः ज्ञान भी सत्य वस्तु के रूप में सिद्ध हो न सकेगा । अतः 'सभी भाव क्षणिक होता है और ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं होती'–बौद्ध के ये दोनों ही मत अयुक्त एवं निरर्थक है ।।४।।

स्मरणाऽसंभवमुपपादयति–

मूलम्–अनुभूतार्थविषयं स्मरणं लौकिकं यतः ।
कालान्तरे तथाऽनित्ये मुख्यमेतन्न युज्यते ॥५॥

अनुभूतार्थविषयं=ज्ञातार्थगोचरम् , लौकिकम्=आगोपादिसिद्धम् , यतः=यस्मात् , कालान्तरे=अनुभवव्यवहितोत्तरकाले, तथा=प्रतिनियतरूपेण, अनित्ये=निरन्वयनश्वरेऽनुभवितरि, मुख्यम्=अभ्रान्तमेव, एतत्=स्वसंवेदनसिद्धं स्मरणम् नोपपद्यते–अन्येनाऽनुभवेऽन्यस्य स्मरणाऽयोगात् , 'योऽहमन्वभवं सोऽहं स्मरामि' इत्युल्लेखानुपपत्तेश्च ॥५॥

प्रत्यभिज्ञापि न युज्यते इत्याह–

मूलम्–सोऽन्तेवासी गुरुः सोऽयं प्रत्यभिज्ञाप्यसंगता ।
दृष्टकौतुकयुद्वेगः[1] प्रवृत्तिः प्राप्तिरेव वा ॥६॥

[संदर्भः—प्रतिपक्ष में बाधक प्रदर्शन और उसकी अभिप्रेत युक्तिओं का खण्डन–दो प्रकार से प्रतिपक्ष का निराकरण करने में यहाँ ४ थे और पांचवे स्तबक में क्रमशः सौत्रान्तिक और योगाचार मत में बाधक युक्तिओं का ही निरूपण होगा। छठ्ठे स्तबक में क्षणिकवाद की साधक 'नाशहेतोरयोगादि' युक्तिओं का खण्डन प्रस्तुत होगा]

[पूर्वानुभूत का स्मरण क्षणिकत्व पक्ष में बाधक]

पाँचवीं कारिका में पूर्वकारिका में कथित स्मरणानुपपत्ति का उपपादन किया गया है, कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

पूर्वकाल में अनुभूत वस्तु का कालान्तर में स्मरण होता है यह बात सर्वजनसिद्ध है, इस में अशिक्षित गोपाल से लेकर महान् शास्त्रज्ञ तक किसी का भी वैमत्य नहीं है किन्तु भावमात्र को क्षणिक मानने पर यह स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि इस मत में भाव का पूर्वकाल में अनुभव करने वाला व्यक्ति क्षणिक होने के नाते कालान्तर में नहीं रह सकता, क्योंकि क्षणिक का अर्थ ही है निरन्वय विनष्ट होना अर्थात् वस्तु का ऐसा नाश होना जिस से किसी भी रूप में कालान्तर में उस का अन्वय-सम्बन्ध न रह सके। और जब कालान्तर में पूर्वानुभव कर्ता न रहेगा तो स्मरण न हो सकेगा, क्योंकि जिसे पूर्वानुभव है वह स्मरणकाल में है नहीं और जो स्मरणकाल में है उस को पूर्वानुभव नहीं है और अन्य के अनुभव से अन्य को स्मरण नहीं हो सकता क्योंकि स्मरण और अनुभव में एकात्मनिष्ठतया कार्यकारणभाव है। इसीलिए अन्य के अनुभव से अन्य को स्मरण नहीं होगा। और यदि अन्य के अनुभव से अन्य को स्मरण माना जायगा तो 'योऽहं अन्वभवम् सोऽहं स्मरामि=पूर्वकाल में मैंने ही अनुभव किया था और आज मैं ही स्मरण कर रहा हूं' इस प्रकार अनुभव और स्मरण का एकनिष्ठतया उल्लेख नहीं हो सकेगा ॥५॥

(१) 'कमुद्वे' इति पाठ आदर्श, दृष्टकौतुकं=लोकसिद्धमिति च व्याख्यातं टीकायाम् ।

'सोऽयमन्तेवासी'-'सोऽयं गुरुः' इति प्रत्यभिज्ञापि क्षणिकत्वपक्षेऽसंगता, तत्ताविशिष्टाऽभेदस्येदंताविशिष्टेऽनुपपत्तेः।

न च प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणम्, 'सैवेयं गूर्जरी' इत्यादौ विषयबाधदर्शनादिति वाच्यम्; एवं सति हेत्वाभासादिदर्शनात् सदनुमानादीनामप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चाध्यक्षे पूर्वकालसंबन्धितायाः असंनिहितत्वात् परामर्शानुपपत्तिः, अन्त्यसंख्येयग्रहणकाले 'शतम्' इति प्रतीतेः क्रमगृहीतसंख्येयाध्यवसायतत्संस्कारवशादुपपत्तेः। न च नीलपीतयोरिव वर्त्तमाना-ऽवर्तमानत्वयोर्विरुद्धत्वादेकत्र तत्परिच्छेदरूपत्वादयं भ्रमः, अत एव तस्य तादृशापरापरविषयसंनिधानदोषजन्यत्वमिति वाच्यम्, एकत्र नानाकालसंबन्धस्याऽविरुद्धत्वात्; अन्यथा नीलसंवेदनस्यापि स्थूराकारावभासिनो विरुद्धदिक्संबन्धात् प्रतिपरमाणु भेदप्रसक्तेस्तदवयवानामपि षट्कयोगाद् भेदापत्तितोऽनवस्थाप्रसक्तेः।

['सोऽयं' प्रत्यभिज्ञा क्षणिकत्वपक्षमें बाधक]

कारिका-६-लोक में इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है कि 'यह वही अन्तेवासी है'—और 'यह वही गुरु हैं'। व्यवहार व्यवहर्तव्य के ज्ञान से होता है। इस व्यवहार के अनुरोध से इस प्रकार का ज्ञान भी सिद्ध होता है। यह ज्ञान पूर्वदृष्ट अन्तेवासी और गुरु में क्रम से वर्तमान में दृश्यमान अन्तेवासी और गुरु के अभेद को विषय करता है, इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।

यह प्रत्यभिज्ञा भावमात्र को क्षणिक मानने पर नहीं उपपन्न हो सकती क्योंकि इस के लिए इदन्ताविशिष्ट में अर्थात् दृश्यमान वस्तु में तत्ताविशिष्ट का अर्थात् पूर्वदृष्ट का अभेद अपेक्षित है और वह क्षणिकत्व पक्ष में पूर्वदृष्ट और दृश्यमान में भेद होने के कारण असंभव है, अतः विषय के असत् होने से यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न नहीं हो सकती।

[प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य की उपपत्ति]

इस प्रसङ्ग में बौद्ध की ओर से यह बात कही जाती है कि-'प्रत्यभिज्ञा प्रमाणभूतज्ञान नहीं, यथार्थ ज्ञान नहीं है। अत एव इस के लिए विषय की वास्तविकता अपेक्षित नहीं है, वास्तविक विषय यथार्थ ज्ञान के लिए अपेक्षित होता है। और यथार्थज्ञान विषय का बाध होने पर भी होता है, जैसे किसी सम्मुख आयी हुयी नई गुर्जरी में पूर्वदृष्ट गुर्जरी का ऐक्य न होने पर भी उस के अतिशय सादृश्य के कारण 'यह वही पूर्वदृष्ट गुर्जरी है-सैवेयम् गुर्जरी' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः भावमात्र को क्षणिक मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं हो सकती'-किन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि किसी एक प्रत्यभिज्ञा के अयथार्थ होने से सभी प्रत्यभिज्ञा को अयथार्थ मानना उचित नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर असद्हेतुमूलक अनुमानों के अप्रमाण होने से उसी दृष्टांत से सद्हेतुमूलक अनुमान आदि में भी अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। जब सभी अनुमान अप्रमाण हो जायगा तो भावमात्र में क्षणिकत्वसिद्ध करने की कामना भी सफल न हो सकेगी, क्योंकि भावमात्र में क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमान से ही की जाती है और जब अनुमान अप्रमाण हो जायगा तो उस से उक्तसिद्धि कैसे हो सकेगी?

न च क्षणिकत्वानुमानेनाऽस्या बाध इति शङ्कनीयम् , निश्चितप्रामाण्यकत्वेनाऽनयैव तद्बाधात् ,

[प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य में विरोध की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि–'प्रत्यभिज्ञा को भाव के क्षणिकत्व में बाधक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है अतः उस में इदन्ताविशिष्ट में तत्ताविशिष्ट अभेद का भान नहीं हो सकता क्योंकि तत्ताविशिष्ट के अभेद का भान होने के लिए तत्ता का भी भान अपेक्षित है और तत्ता पूर्वकालसम्बन्धिता रूप है। अतः प्रत्यभिज्ञा के समय उस के संनिहित न होने से प्रत्यभिज्ञा में उसका भान असंभव है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में संनिहित वस्तु के ही भान होने का नियम है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि क्रम से उत्पन्न होनेवाली सौ वस्तुओं में जब शतत्व संख्या का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उस समय केवल अन्तिम वस्तु ही सन्निहित होती है पूर्ववस्तु संनिहित नहीं होती है, फिर भी शतत्व के प्रत्यक्ष में उस समय शतत्व के आधार रूप पूर्व वस्तुओं का ही भान होता है। तो उन वस्तुओं का भान जैसे उन वस्तुओं के पूर्व अनुभवाधीन संस्कार द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है उसी प्रकार पूर्वकालसम्बन्धिता=तत्ता का भी पूर्वानुभवाधीन संस्कार द्वारा प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष में भान हो सकता है।

[अनेकदिक्सम्बन्ध में भी विरोध की प्रत्यापत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'वर्तमानत्वरूप इदन्ता और अवर्तमानत्वरूप तत्ता में नील और पीत के समान परस्पर में विरोध है अतः एक वस्तु में उन विरुद्ध धर्मों का ग्राहक होने से प्रत्यभिज्ञा भ्रम है। और वह पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश वस्तु के संनिधान रूप दोष से उत्पन्न होता है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वर्तमानकालसम्बन्ध और अवर्तमानकालसम्बन्धरूप है। और एक वस्तु में अनेककाल का सम्बन्ध होने में विरोध नहीं है। और यदि एक वस्तु में अनेककाल का सम्बन्ध विरुद्ध माना जायगा और उस से वस्तु में भेद की कल्पना की जायगी तो "इदं नीलं स्थूलाकारम्–यह वस्तु नील और स्थूल है" इस प्रकार के ज्ञान में जो वस्तु का अनेक दिक्-सम्बन्धरूप आकार भासित होता है वह भी विरुद्ध होगा और उस से वस्तु में अवयवभेद से भेद की प्रसक्ति होगी और उसी प्रकार अवयवों में भी छ दिशाओं के विरुद्ध सम्बन्धों द्वारा भेद की आपत्ति होगी। अतः अनवस्थित भेद की कल्पना प्रसक्त होगी इसलिए जैसे एक वस्तु में अनेक दिशाओं का सम्बन्ध होने पर भी उस वस्तु में भेद नहीं होता उसी प्रकार अनेक काल सम्बन्ध से भी वस्तु में भेद सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए इदं और तत् में ऐक्य सभव होने के कारण 'सोऽयं' इस प्रत्यभिज्ञा को भ्रम नहीं कहा जा सकता, और जब प्रत्यभिज्ञा भ्रम नहीं है तब इस के द्वारा पूर्वोत्तर भावों में अभेद की सिद्धि होने के कारण भावों में क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

[क्षणिकत्व अनुमान प्रत्यभिज्ञा का बाधक नहीं]

यदि यह कहा जाय कि 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्=सत् यानी अर्थक्रियाकारी होने से समस्त भाव क्षणिक है' इस अनुमान से उक्त प्रत्यभिज्ञा का बाध हो जायगा' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में प्रामाण्य निश्चित है और क्षणिकत्वानुमान में प्रामाण्य निश्चित नहीं है, इसलिये प्रत्यभिज्ञा

कुर्वद्रूपत्वसिद्धावुपस्थितवह्नित्वादिकं विहाय वह्न्यादेर्विजातीयवह्नित्वादिना हेतुत्ववद् विजातीय-धूमत्वादिना धूमादेः कार्यत्वसंभावनयोपस्थितधूमत्वावच्छेदेन कार्यत्वाऽग्रहात् , तदनुकूलतर्काभावेन व्याप्तेरग्रहात् , प्रसिद्धानुमानस्याप्युच्छेदेन क्षणिकत्वानुमानस्यैवाऽनवताराच्च । 'घटे रूपादेरिवोक्तप्रत्यभिज्ञायां पूर्वताया वर्तमानत्वेनैव भानाद् भ्रमत्वमि'त्यपि न वाच्यम् , संनिहित एव विशेषणे विद्यमानतायाः संसर्गादिना भानादिति दिक् ।

अनुमान की अपेक्षा बलवती है और अनुमान उस की अपेक्षा दुर्बल है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा से ही इस क्षणिकत्व के अनुमान का बाध न्यायप्राप्त है।

और मुख्य बात यह है कि समस्त भावों को क्षणिक मानने पर धूम से वह्नि के प्रसिद्ध अनुमान का ही भंग हो जाता है, इसलिए क्षणिकत्व के अनुमान की आशा ही नहीं की जा सकती। क्योंकि जब धूम में वह्नि का व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता तब सत्त्व में क्षणिकत्व के व्याप्तिज्ञान की आशा कैसे हो सकेगी? कहने का आशय यह है कि बौद्ध मत में सत्ता अर्थक्रियाकारित्वरूप है। अर्थक्रिया-कारित्व का अर्थ है कार्योत्पादकत्व और कार्योत्पादकत्व क्रम अथवा अक्रम किसी भी प्रकार स्थायी भाव में नहीं हो सकता, किन्तु तत्तत् कार्य की उत्पादकता तत्तत्कार्यानुकूल कुर्वद्रूपत्व विशिष्ट में ही होती है। तत्तत्कार्यानुकूल कुर्वद्रूपत्व स्थायीभावपदार्थ में नहीं होता। इस के अनुसार वह्नि धूम के प्रति वह्नित्वरूप से कारण न होकर धूमकुर्वद्रूपत्वविशिष्टवह्नित्वरूप से ही कारण होता है। इसी प्रकार यह भी संभावना हो सकती है कि धूम धूमत्वरूप से वह्नि का कार्य भी नहीं है किन्तु धूम जिस कार्य का कारण होता है तत्तत्कार्य कुर्वद्रूपत्व धूम में भी रहेगा इसलिए उसी रूप से धूम वह्नि का कार्य होगा फलतः धूमत्व और वह्नित्व रूप से धूम और वह्नि में कार्य कारण भाव न हो सकने से धूमत्व रूप से धूम में वह्नित्वरूप से वह्नि का व्याप्तिज्ञान न हो सकेगा। इसलिए धूम से वह्नि का अनुमान असंभव होगा। तो जैसे धूम और वह्नि में तत्तत् कार्य कुर्वद्रूपत्व रूप से कार्यकारणभाव की सिद्धि न होने के कारण अनुकूल तर्क के अभाव में धूम में वह्निव्याप्ति का ज्ञान नहीं होता–उसी प्रकार सहकारी कारणों के समवधान से स्थायी भाव में भी अर्थक्रियाकारित्व की संभावना से 'जो जो अर्थक्रियाकारी होता है वह क्षणिक होता है' इस व्याप्ति का ज्ञान भी नहीं हो सकता अतः अर्थक्रियाकारित्व से क्षणिकत्व का अनुमान असंभव है।

(प्रत्यभिज्ञा की भ्रमात्मकता का निराकरण)

यदि यह कहा जाय कि-'घट के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में घटगत रूपादि का जैसे वर्तमानत्वरूप से भान होता है उसीप्रकार 'सोऽयं घटः' इस प्रत्यभिज्ञा में पूर्वकालसम्बन्धित्वरूप से ही भान होता है। अतः अवर्तमान तत्ता का वर्तमानत्व रूप से ग्राहक होने के कारण उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रम है'–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो विषय संनिहित होता है उसी में इन्द्रिय से युक्त संसर्ग से विद्यमानता का भान होता है। घटप्रत्यक्षकाल में उसमें घटगत रूप आदि संनिहित रहता है इसलिए उसमें इन्द्रियसंयुक्त घट का संसर्ग होने से विद्यमानता का भान होता है किन्तु तत्ता उक्तप्रत्यभिज्ञा काल में संनिहित नहीं रहती है अत एव उसमें इन्द्रियसंयुक्तत्व संसर्ग न होने के कारण विद्यमानता का

तथा दृष्टकौतुकेऽर्थे उद्वेगः=सिद्धत्वज्ञानकृतेच्छाविच्छेदरूपः असंगतः स्यात् , क्षणिक-तद्व्यक्त्यन्तरदर्शनस्याऽसिद्धत्वात् । तथा, प्रवृत्तिरपि तद्व्यक्तिविषयिणी असंगता स्यात्, ज्ञाताया व्यक्तेर्नष्टत्वात् , अज्ञातायां चाऽप्रवृत्तेः । तथा, प्राप्तिरेव च इच्छाविषयव्यक्तेः, असंगता, अस्याः प्रागेव नाशात् ॥६॥

मूलम्-स्वकृतस्योपभोगस्तु दूरोत्सारित एव हि ।
शीलानुष्ठानहेतुर्यः स नश्यति तदैव यत् ॥७॥

मान नहीं हो सकता। अतः विद्यमानत्वरूप से तत्ता का ग्राहक होने के कारण उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता ।

(उद्वेग, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति की क्षणभंग पक्ष में अनुपपत्ति)

भाव को क्षणिक मानने पर उसमें उद्वेग, प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति भी संगत नहीं हो सकती। जैसे उद्वेग का अर्थ है 'सिद्धत्वज्ञानमूलकइच्छाविच्छेद' । इसका आशय यह है कि मनुष्य को जिस वस्तु में सिद्धत्व का ज्ञान होता है उस वस्तु की उसे इच्छा नहीं होती। इसप्रकार किसी वस्तु को इच्छा न होना ही उस वस्तु के विषय में उद्वेग है। यह उद्वेग स्थायी वस्तु में हो सकता है क्योंकि उसी वस्तु में पहले सिद्धत्व का ज्ञान और बाद में इच्छा क विच्छेद संभव हो सकता है किन्तु जो वस्तु क्षणिक होगी उसमें पहले और बाद में उस शब्द का प्रयोग हो नहीं हो सकता क्योंकि वह क्षणिक होने के नाते सिद्धत्वज्ञानकाल और इच्छाविच्छेदकाल में नहीं रह सकती। फलतः जिस क्षणिक व्यक्ति में इच्छाविच्छेद होगा उसमें सिद्धत्व का ज्ञान नहीं होगा और जिस व्यक्ति में सिद्धत्व का ज्ञान होगा उसमें इच्छा का विच्छेद नहीं होगा।

(क्षणिकत्व पक्ष में प्रवृत्ति का उच्छेद)

इसीप्रकार भावों को क्षणिक मानने पर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि प्रवृत्ति उसी विषय में होती है जो स्वरूपेण और इष्टसाधनत्वेन ज्ञात होती है। भाव को क्षणिक मानने पर ज्ञात व्यक्ति प्रवृत्तिकाल में नहीं रहेगी अत एव उस विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती और उस व्यक्ति के अस्तित्वकाल में उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके पूर्व वह अज्ञात रहती है और प्रवृत्ति अज्ञात में कभी नहीं होती।

भाव को क्षणिक मानने पर उसकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि प्राप्ति उसी वस्तु की होती है जिसकी पहले इच्छा होती है। भाव के क्षणिकत्व पक्ष में इच्छा के विषयभूत व्यक्ति का प्राप्तिकाल में अस्तित्व ही नहीं होता क्योंकि वह पहले ही नष्ट हो चुकी होती है। अतः क्षणिक भाव की प्राप्ति असंभव है। कारिका में 'दृष्टकौतुके अर्थे' शब्द से भाव के उद्वेग, उस में प्रवृत्ति और उसकी प्राप्ति के असंगत होने मे दृष्टकौतुकत्व को हेतु कहा गया है। इस दृष्टकौतुकत्व का स्वीकृत क्षणिकत्व अर्थ होने से यह तथ्य ज्ञात होता है कि अर्थ यानी भाव को क्षणिक स्वीकार करने पर उद्वेग आदि की असंगति होगी ॥६॥

स्वकृतस्य=शुभादेः, उपभोगः-विपाकानुभवः दूरोत्सारित एव, हि=निश्चितम्, प्रवृत्तेर्भ्रमादिना कथञ्चिदुपपत्तावपि स्वकृतोपभोगोपपादने न कोऽप्युपाय इति भावः। कुतः? इत्याह-यत्=यस्मात् कारणात् यः शीलानुष्ठानहेतुः क्षणः स तदैव नश्यति=निरन्वयनाशभाग् भवति ॥७॥

पर आहुः-

मूलम्-संतानापेक्षयास्माकं, व्यवहारोऽखिलो मतः ।
स चैक एव तस्मिंश्च, सति कस्मान्न युज्यते ॥८॥

(क्षणभंगपक्ष में भोग की अनुपपत्ति)

पूर्व कारिका में भोग्यभाव की क्षणिकता से प्रत्यभिज्ञा और उद्वेगादि की असंगति बताई गई है और प्रस्तुत सातवीं कारिका में भोक्ता की क्षणिकता से भोग की अनुपपत्ति बतायी गई है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में भोक्ता को अपने शुभाशुभ कर्म का फलभोग न हो सकेगा। पूर्वकारिका में जो प्रत्यभिज्ञा आदि की अनुपपत्ति बतायी गई है उसका परिहार तो भ्रम आदि द्वारा किसी प्रकार हो सकता है। जैसे-सभी प्रत्यभिज्ञा को 'सैवेयम् गुर्जरी' इस प्रत्यभिज्ञा के समान पूर्वोत्तर भावों में सादृश्य या भेदाऽज्ञानमूलक भ्रम मान लिया जाय। एवं उद्वेग की उपपत्ति जिस भाव में इच्छा का विच्छेद होता है उसमें सिद्धत्व का भ्रम मान कर की जाय, एवं जिस विषय में प्रवृत्ति होती है-पूर्ववर्ती ज्ञान को उस विषय का ग्राहक मान लिया जाय एवं जिस विषय की प्राप्ति होती है उस विषय को इष्यमाण मान लिया जाय। किन्तु भोक्ता के क्षणिक होने पर पूर्वोक्त कर्मों के फल भोग को उत्पन्न करने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि शील आदि के अनुष्ठान का कर्ता क्षण अपनी उत्पत्ति के उत्तरक्षण में ही इसप्रकार पूर्वरूप से नष्ट हो जाता है कि आगे उसका किसी प्रकार का अन्वय-सम्बन्ध अथवा अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये भावमात्र को क्षणिक मानने पर यह आपत्ति अनिवार्य होगी कि जो व्यक्ति शुभ अशुभ कर्म करता है-फलभोग काल में उसका अस्तित्व न होने से उसे उसके कर्म का भोग नहीं होता और जिसे फलभोग होता है वह पूर्व में न होने से उन कर्मों का कर्ता नहीं होता, उसे कर्म किये बिना ही फलभोग होता है। इस स्थिति को स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा होने पर कोई भी व्यक्ति कोइ कर्म (शुभ शीलानुष्ठान) करना न चाहेगा, जिससे लोक व्यवहार का लोप हो जायगा ॥७॥

(हेतु-हेतुमद्भाव के सन्तान-सामग्री पक्षद्वय)

आठवीं कारिका में बौद्धों के पक्ष से पूर्वोक्त दोषों का परिहार प्रस्तुत किया गया है। परिहार को हृदयङ्गम करने के लिये हेतु-हेतुमद्भाव के सम्बन्ध में बौद्धों के इस मन्तव्य को दृष्टिगत रखना आवश्यक है कि उनके मत में हेतु-हेतुमद्भाव के दो पक्ष होते हैं। एक सन्तान पक्ष और दूसरा सामग्री पक्ष। जैसे कोई बीज उत्पन्न होता है तब उसके माध्यम से जब तक अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती इतनी अवधि में बीज का एक सन्तान चलता है जिसके अन्तर्गत बीजक्षणों में पूर्व बीजक्षण-उत्तर बीजक्षण का अकेले कारण होता है। इस उत्पत्ति क्रम में सामग्री की अपेक्षा नहीं होती।

सन्तानापेक्षया=भूत--वर्तमान--भविष्यत्क्षणप्रवाहापेक्षया अस्माकं अखिलः=ऐहिक आमुष्मिकश्च व्यवहारः **मतः**=इष्टः । स च सन्तानः एक एव । तस्मिंश्च सति कस्माद् न युज्यते स्मृत्यादिः, ऐहिकतयोपपत्तेः ॥८॥

आमुष्मिकमधिकृत्याह–

मूलम्–यस्मिन्नेव तु संताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥९॥

यस्मिन्नेव **सन्ताने**=क्षणप्रवाहे, तुःआधानयोग्यतां विशेषयति, कर्मवासना **आहिता**=कर्मणा जनिता, **फलं**=शुभाऽशुभादिकम् , तत्रैव **संधत्ते**=जनयति । किंवत् इत्याह यथा **कर्पासे** लाक्षारसाद्याहिता **रक्तता** कर्पास एव स्वफलं स्वोपरक्ततद्बुद्ध्यादिकं जनयति ॥९॥

यह हेतु-हेतुमद्भाव का सन्तानपक्ष है । सामग्रीपक्ष तब होता है जब किसी एक सन्तान से विजातीय सन्तान की उत्पत्ति होती है जैसे बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति के लिये अकेला बीज पर्याप्त नहीं होता किन्तु उसमें उपजाउ भूमि आदि का सन्निधान अपेक्षित होता है । हेतु-हेतुमद्भाव का यह पक्ष सामग्री पक्ष कहा जाता है । इस सामग्री पक्ष की आलोचना ६६ वीं कारिका से प्रारब्ध होगी । प्रस्तुत कारिका ८ से सन्तान पक्ष की दृष्टि से पूर्वोक्त आक्षेपों का समाधान प्रारंभ किया जा रहा है-कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

(सन्तान पक्ष में हेतु-हेतुमद्भाव उपपत्ति)

बौद्धों का कथन यह है कि प्रत्येक वस्तु यद्यपि क्षणिक है किन्तु उसका प्रवाह भूत वर्तमान और भविष्य तीनों काल में चलता रहता है जिसे 'सन्तान' संज्ञा से अभिहित किया जाता है । इस सन्तान से सम्बद्ध व्यक्तिओं के अनेक होने पर भी तीनों काल में यह सन्तान एक होता है । अतः उसके द्वारा ऐहिक अर्थात् पूर्वानुभूत का कालान्तर में स्मरण, पूर्वानुभूत की उत्तरकाल में प्रत्यभिज्ञा, ज्ञात और इच्छित को प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदि समस्त ऐहिक व्यवहार और पूर्व जन्म में किये गये शुभाशुभ कर्मों का उत्तर जन्म में उपभोग रूप आमुष्मिक व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है । अतः सन्तानी-सन्तानान्तर्गत व्यक्तिओं के अनेक होने पर भी सन्तान के तीनों काल में अनुवर्त्तमान होने के कारण स्मरणादि की उपपत्ति क्यों नहीं हो सकती ? जब उक्त प्रकार से सन्तान द्वारा उस सम्पूर्ण व्यवहारों की उपपत्ति हो सकती है तब उनके अनुरोध से वस्तु में स्थिरता (अक्षणिकता) की कल्पना का प्रयास अनावश्यक है ॥८॥

(क्षणिकत्वपक्ष में पारलौकिक फल की उपपत्ति)

नवीं कारिका में भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में भी कर्म फल के आमुष्मिक उपभोग की उपपत्ति की गई है जो इस प्रकार है—

जिस सन्तान में क्षणात्मक वस्तु के प्रवाह में कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है वह वासना उस सन्तान में ही कर्मफल को उत्पन्न करती है । यह बात ठीक उसी प्रकार उपपन्न होती है जैसे कार्पास के बीज में लाक्षा के रसादि से पैदा की गई रक्तता उस बीज से उद्गत और विकसित

मूलम्—एतदप्युक्तिमात्रं यन्न हेतु-फलभावतः ।
संतानोऽन्यः स चायुक्त एवाऽसत्कार्यवादिनः ॥१०॥

एतदपि=संतानैक्यमादाय समाधानमपि, उक्तिमात्रं=युक्तिशून्यं वचनम्, यद्=यस्मात् कारणात्, हेतु-फलभावतः=पूर्वा-ऽपरक्षणहेतु-हेतुमद्भावात् अन्यः संतानो नास्ति । 'एवमपि नानुपपत्तिः, स्वजन्यतासंबन्धेनानुभवादेः स्मृत्यादिनियामकत्वात्, प्रत्यभिज्ञाया अपि 'स एवायं गकारः' इत्यादाविव तज्जातीयाभेदविषयकतयोपपत्तेः, इच्छादेरपि समानप्रकारकतयैव प्रवृत्त्यादिहेतुतयोपपत्तेश्च'' इत्यत आह-स च-क्षणिकहेतु-हेतुमद्भावश्च, असत्कार्यवादिनो मते अयुक्त एव ॥१०॥

होनेवाले कपास में ही अपना फल अर्थात् कपास में ही रक्ततावगाही विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न करती है इस प्रकार भावमात्र को क्षणिक मानने पर भी उसके विकास में अनुवर्त्तमान संतान के द्वारा कर्मों के आमुष्मिक फलोपभोग की उपपत्ति सम्भव होनेसे भोक्ता को स्थिर मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ॥९॥

(सन्तान पूर्वापरभावापन्न क्षणों से अतिरिक्त नहीं)

१० वीं कारिका में बौद्ध द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट समाधान की आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं जो इस प्रकार है-सन्तान की एकता को स्वीकार करके जो समाधान बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है वह केवल कथनमात्र है, उसमें कोई युक्ति नहीं है; क्योंकि हेतुहेतुमद्भाव पूर्वोत्तर क्षण में ही होता है अर्थात् पूर्वक्षण उत्तरक्षण का कारण होता है । एवं उत्तरक्षण स्वोत्तरवर्ती उत्तरक्षण का कारण होता है । इस प्रकार क्रम से उत्पन्न होने वाले क्षणों में ही कार्य-कारण भाव निहित है । सन्तान का कोई कारण सिद्ध नहीं है अतः उन क्षणों में भिन्न सन्तान का अस्तित्व ही नहीं हो सकता ।

(स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की नये ढंग से उपपत्ति-सौगत)

बौद्धः-सन्तान को स्वीकार न करने पर भी भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में अनुभव से स्मृत्यादि की और इस जन्म में किये गये कर्म से जन्मान्तर में फलभोग की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वजन्यतासम्बन्ध से अनुभव आदि को स्मृत्यादि का नियामक माना जायेगा । आशय यह है कि क्षणिकत्व पक्ष में वस्तुओं में कार्यकारणभाव सामानाधिकरण्यमूलक नहीं होता क्योंकि कोई स्थायी आधार न होने से कार्य और कारण में सामानाधिकरण्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती । अतः अव्यवहित पूर्वापर भाव के ही आधार पर कार्य-कारण भाव होता है अर्थात् पूर्वभाव उत्तरभाव का कारण होता है । इसी प्रकार का कार्य-कारण भाव होता है, इस स्थिति में पूर्वानुभव से कालान्तर में स्मृति की उपपत्ति इस प्रकार की जाती है कि अनुभवक्षण वासना क्षण को उत्पन्न करता है । और वासनाक्षण अपने उत्तरोत्तर वासनाक्षण को उत्पन्न करता है, चरम वासनाक्षण स्मृतिक्षण को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में प्रत्यभिज्ञा की भी उपपत्ति हो सकती है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के विषयभूत पूर्व वस्तु और वर्तमान वस्तु में व्यक्तिगत ऐक्य न होने पर भी जातिगत ऐक्य के आधार पर सजातीय अभेद को प्रत्यभिज्ञा का विषय मान सकते हैं ।

तथाहि—

मूलम्—नाभावो भावतां याति शशशृङ्गे तथाऽगतेः ।
भावो नाभावमेतीह तदुत्पत्त्यादिदोषतः ॥११॥

न अभावः=तुच्छः भावतां याति=अतुच्छतां प्रतिपद्यते । कुतः ? इत्याह-शशशृङ्गे

दृष्टान्त के रूप में यह द्रष्टव्य है कि जैसे शब्दअनित्यतावादी के मत में पूर्वश्रुत गकार और वर्त्तमान में श्रूयमाण गकार में ऐक्य न होने पर भी उन दोनों में विद्यमान 'गत्व' आदि के एक होने से श्रूयमाण गकार में पूर्व श्रुत गकार के सजातीय अभेद को विषय मानने से 'यह वही गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होती है, इसी प्रकार भावमात्र के क्षणिक-पक्ष में पूर्वोत्तरवर्त्ती भावों में भेद होने पर भी पूर्व में अनुवर्तमान अतद्व्यावृत्तिमय घटत्वादि जाति के अभिन्न होने से उत्तरघट में पूर्वघट के सजातीय अभेद को विषय करके 'यह वही घट है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो सकती है ।

एवं विभिन्न क्षणिक भाव विषयक इच्छादि से क्षणिक भावान्तर को विषय करनेवाली प्रवृत्ति और प्राप्त्यादि की भी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि प्रवृत्त्यादि के प्रति इच्छादि को समानविषयकत्व रूप से कार्य-कारणभाव न मानकर समान प्रकारकत्व रूप से कार्य-कारणभाव होता है । अन्यथा स्थैर्यवादी के मत में भी किसी जलविशेष में पिपासाशामकत्व का ज्ञान होने से दूसरे जल पीने में मनुष्य को प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि पिपासु की प्रवृत्ति के प्रति पिपासाशामकत्व का ज्ञान कारण होता है और वह पूर्वमें पीये गये जल में ही गृहीत है, नवीन जल में गृहीत नहीं है अतः पूर्व में पिये गये जलमें पिपासाशामकत्व ज्ञान होने पर नवीन जल विषयक पिपासु प्रवृत्ति के प्रति जलत्व रूप समान प्रकार द्वारा ही कार्य-कारण भाव मानना आवश्यक होता है । इस प्रकार जब स्थैर्यवादी के मत में भी समान प्रकारकत्व रूप से ही ज्ञान-इच्छा प्रवृत्त्यादि में कार्य-कारण भाव है तो उस प्रकार के कार्य-कारण भाव द्वारा भावमात्र में क्षणिकत्व पक्ष में भी भिन्नविषयकइच्छादि से भिन्न विषयक प्रवृत्त्यादि की उपपत्ति हो सकती है । अतः उनके अनुरोध से भाव में स्थिरत्व की कल्पना अनावश्यक है ।

बौद्धों के इस कथन का उत्तर प्रस्तुत कारिका (१०) के चौथे चरण में दिया गया है जिसका आशय यह है कि सौगत मत में उत्पत्ति के पहले कार्य सर्वथा असत् होता है । कार्य के असत् पक्ष में क्षणिकभावों में कार्य-कारण भाव की कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकती है इसलिये कार्य-कारण भाव के आधार पर उक्त रीति से अनुभवादि से स्मृत्यादि का उपपादन नहीं हो सकता । कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य के असत् पक्ष में कार्य को कारण के साथ कोई सम्बन्ध न होने से कार्य-कारण भाव ही नहीं बन सकता, क्योंकि कारण को असम्बद्ध कार्य के उत्पादक मानने से सबसे सबकी उत्पत्ति की आपत्ति होगी और इस दोष का परिहार करने के लिये यदि कारणकाल में अर्थात् कार्योत्पत्ति के पूर्व भी किसी रूप में कार्य की सत्ता मानी जायेगी तो क्षणिकत्ववाद का भङ्ग हो जायेगा ॥१०॥

(भाव और अभाव का अन्योन्य परिवर्त्तन असम्भव)

११ वीं कारिका में असत्कार्यवाद में कार्योत्पत्ति के असम्भव का प्रतिपादन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

तथा=भावत्वेन अगतेः=अपरिच्छेदात् । तथा, भावः=अतुच्छः नाऽभावमेति=न तुच्छतां याति, इह=जगति । कुतः इत्याह-तदुत्पत्त्यादिदोषतः=अभावोत्पत्त्यादिदोषप्रसङ्गात् ॥११॥ तथाहि-

मूलम्-सतोऽसत्त्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत् ।
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदानाशे न तत्स्थितिः ॥१२॥

सतः=क्षणिकभावस्य, असत्त्वे=द्वितीयादिक्षणेऽसत्त्वे सति तदुत्पादः=असत्त्वोत्पादः, कादाचित्कत्वात् । ततः=उत्पादात् नाशोऽपि तस्य=असत्त्वस्य, यद्=यस्मात् कारणात् तत्=तस्मात् , नष्टस्य सतः पुनर्भावः, तदसत्त्वनाशाधिकरणक्षणान्तरस्य तदधिकरणत्वव्याप्यत्वादिति भावः । 'नाशस्य नित्यत्वान् न दोष' इति चेत् ? तर्हि सदानाशे न तत्स्थितिः=प्रथमक्षणेऽपि भावस्य स्थितिर्न स्यात् ॥१२॥

अभाव-असत् याने जो तुच्छ वस्तु है वह भावात्मक-सद्रूप नहीं हो सकता क्योंकि असत् शशशृङ्ग में भावत्व का निश्चय शक्य नहीं है । इसी प्रकार भावात्मक-सत्-अतुच्छ वस्तु यह अभाव-तुच्छ-असद्रूप नहीं होता है क्योंकि यदि अभाव का भाव होना और भाव का अभाव होना माना जायेगा तो शशशृङ्गादि अर्थ की उत्पत्ति की और पदार्थ नित्यतावादि के मत में नित्य माने गए आकाश आदि के विनाश की आपत्ति होगी । ११।

(संदर्भः-अब १२ से ३८ कारिकासमूह में "भावो नाभावमेतीह" इसी अंश की उपपत्ति विस्तृत पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप में की जा रही है)

कादाचित्क असत्त्व पक्ष में भाव के पुनर्भाव या सदा अभाव की आपत्ति)

१२ वीं कारिका से उक्त विषय की उपपत्ति की जा रही है जो इस प्रकार है—

सत् अर्थात् क्षणिक भाव को द्वितीयादि उत्तरक्षण में यदि असत् माना जायेगा तो उसका अर्थ होगा असत् की भी उत्पत्ति होती है क्योंकि क्षणिक भाव का असत्त्व पूर्व में नहीं था और द्वितीयादि क्षणों में हुआ । इसलिये असत्त्व कादाचित्क हुआ अर्थात् किसी काल में रहनेवाला और किसी काल में न रहनेवाला । जो कादाचित्क होता है उसकी उत्पत्ति होती है और जब असत्त्व की उत्पत्ति होगी तो उसका नाश भी होगा, क्योंकि वह जन्य है, जन्य का नाश निश्चितरूप से होता है । फलतः क्षणिकभाव का द्वितीय क्षण में जो असत्त्व होगा-तृतीयक्षण में उस असत्त्व का भी नाश होने से प्रथम क्षण में उत्पन्न और दूसरे क्षण में नष्ट हुये क्षणिक भाव का तृतीय क्षण में अस्तित्व प्रसक्त होगा, क्योंकि यह नियम है कि- जिस वस्तु के असत्त्व के नाश का अधिकरण जो क्षण होता है वह क्षण उस वस्तु का अधिकरण होता है । जैसे-न्यायवैशेषिक मत में तद्घटप्रागभाव रूप तद्घट का जो असत्त्व है उसके नाश का अधिकरण क्षण अर्थात् तद्घटोत्पत्तिक्षण तद्घट का अधिकरण होता है ।

यदि यह कहा जाय कि "सत्त्व का ही उत्पाद और नाश होता है, किन्तु असत्त्व के नाश का केवल उत्पाद ही होता है नाश नहीं होता, इसलिये नाश के नित्य अनश्वर होने के कारण नाश का

पराभिप्रायमाह–

मूलम्–स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणाऽस्थितौ ।
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥१३॥

सः=भावनाशः, क्षणस्थितिधर्मा-भाव एव । अयं भावः-द्विविधो ह्यस्माकं विनाशः, सांव्यवहार्यः, तात्त्विकश्च । आद्यो निवृत्तिरूपः, द्वितीयश्च भावरूपः । तत्र कार्यकाले कारण-निवृत्तिविकल्प आद्यमेव नाशमवलम्बते । वस्तुव्यवस्थापकस्त्वाद्य एव ।

एतेन 'कार्योत्पत्तिकाल एव कारणविनाशाभ्युपगमे कारणोत्पादरूपत्वात् तस्य सह-भावेन कार्य-कारणभावव्यवस्थोत्सीदेत्, कारणोत्पादात् कारणविनाशस्य भिन्नत्वाभ्युपगमे च कृतकत्वस्वभावत्वमनित्यत्वस्य न भवेत्, व्यतिरिक्ते च नाशे समुत्पन्ने न भावस्य निवृत्तिः, इति कथम् क्षणिकत्वम् ? इत्यव्ययनाविद्धकर्णोद्योतकरादीनामपि मतं परास्तम् । अत्राह-इति चेत् ? एतदपि क्षणस्थितिधर्मकत्वम्, हि=द्वितीयादिक्षणाऽस्थितौ सत्यां, युज्यते, तथा चोक्तानतिक्रमः उक्तदोषाऽपरिहारः ॥१३॥

नाश नहीं होगा ।"–यह भी ठीक नहीं है । ऐसा मानने पर असत्त्व की स्थिति सर्वकालीन होगी क्योंकि जिसका नाश नहीं होता उसकी सार्वकालीन स्थिति देखी जाती है-जैसे न्यायमत में आकाशादि । जब असत् सार्वकालीन होगा तब भाव की उत्पत्ति के क्षण में भी भाव का अस्तित्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि असत्त्व के सार्वकालीन होने से उस समय भी भाव का विरोधी असत्त्व यथावत् बना रहेगा ॥१२॥

[भावनाश को क्षणिक मानने में बौद्धों की उपपत्ति]

पूर्वोक्त आपत्ति का परिहार बौद्ध जिस अभिप्राय से प्रस्तुत करते हैं उसका प्रतिपादन १३ वीं कारिका में किया गया है ।

बौद्धों का आशय यह है कि भाव का जो असत्त्व अर्थात् नाश होता है वह भी क्षणपर्यन्त-एकक्षण-मात्र रहनेवाला भाव ही है । न कि प्रथम क्षणोत्पन्न भाव का नाश द्वितीय क्षण में होनेवाली कोई भावभिन्न वस्तु है । नाश के सम्बन्ध में बौद्धों का यह मत है कि उसके दो भेद होते हैं (१) व्यावहारिक नाश और (२) तात्त्विकनाश । व्यावहारिक नाश पूर्व भाव की निवृत्तिरूप होता है और तात्त्विक नाश उत्तरभाव रूप होता है । 'कार्य को उत्पत्तिकाल में कारण की निवृत्ति होती है, यह पक्ष भाव-निवृत्तिरूप आद्यनाश को ही अवलम्बन करता है । वस्तु का व्यवस्थापक भी यह आद्यनाश ही होता है अर्थात् वस्तु के स्वरूप का सम्पादक होता है । वस्तु को अस्तित्व भी वही प्रदान करता है, अर्थात प्रथम भाव की निवृत्ति से ही उत्तरभावात्मक वस्तु की उत्पत्ति होती है । पूर्व भाव के तात्त्विकनाश से उत्तरभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि पूर्वभाव का तात्त्विकनाश उत्तरभाव स्वरूप ही है । इसलिये तात्त्विकनाश और उत्तरभाव के अभिन्न होने से कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता । इसलिये भावनिवृत्तिरूप व्यावहारिक नाश को ही उत्तरभाव का उत्पादक मानना उचित है ।

(अविद्धकर्ण-उद्योतकर के मत का आलोचन)

नाश के सम्बन्ध में बौद्धों की उक्त मान्यता के कारण, अविद्धकर्ण और उद्योतकरादि का भाव के क्षणिकत्व पक्ष में किया गया आक्षेप भी निरस्त हो जाता है। अविद्धकर्णादिका क्षणिकत्व पक्ष में यह आक्षेप है कि-"भाव की क्षणिकता नहीं बन सकती, क्योंकि बौद्ध लोक कार्य के उत्पत्ति काल में ही कारण का विनाश मानते हैं। कार्य भी अपने उत्तरभाव का कारण होता है। अत एव कारण-विनाश अर्थात् पूर्वभाव का विनाश कारणोत्पादरूप अर्थात् उत्तरभावोत्पाद रूप हो जाता है। इस प्रकार पूर्वभाव का विनाश और उत्तरभाव का उत्पाद सहभावी होने से इन दोनों में एकता हो जाती है, और एकता होने से उनमें कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता। अर्थात् उत्तरभाव-उत्पाद से पूर्वभाव-विनाश नहीं माना जा सकता, एवं पूर्वभाव-विनाश से उत्तरभाव का उत्पाद नहीं माना जा सकता। और यदि पूर्वभाव विनाश को उत्तरभाव उत्पाद से भिन्न माना जायेगा तो उत्पाद के ही कृतक-जन्य होने से विनाश में कृतकत्व स्वभाव की हानि हो जायेगी फलतः विनाश का विनाश न हो सकने के कारण विनाश सदातन हो जायेगा। और सदातन हो जाने से पूर्वभाव के उत्पत्ति-काल में भी विनाश के रहने से उस काल में भी पूर्वभाव के अस्तित्व का भङ्ग हो जायेगा। और यदि पूर्वभाव नाश को उत्तरभाव उत्पाद से भिन्न मान कर उत्तरभावशील माना जाय तो वह सदातन नहीं होगा। क्योंकि उत्तरभाव क्षणिक होने से तत्स्वरूप पूर्वभाव नाश भी क्षणजीवी होगा अतः भाव के उत्पत्ति काल में भाव के अस्तित्व में कोई बाधा न होने पर भी उत्तरकाल में भाव की निवृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि उत्तरभावोत्पाद ही पूर्वभाव का निवर्तक न हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि-पूर्वभाव के नाश से उसकी निवृत्ति न हो किन्तु उत्तरभाव उत्पाद से पूर्वभाव निवृत्ति हो सकती है तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उत्तरभावोत्पाद पूर्वभाव नाशात्मक होने पर ही पूर्वभाव का निवर्तक होता है। अतः पूर्वभावनाश और उत्तरभावोत्पाद में परस्पर भेद होने पर किसी से भी भाव की निवृत्ति न हो सकेगी। भाव की निवृत्ति न होने से वह क्षणस्थायी न हो सकेगा।"

किन्तु यह आक्षेप व्यावहारिक और तात्त्विक दो प्रकार के नाश मानने से निरस्त होता है। क्योंकि प्रथम भाव का तात्त्विक नाश द्वितीयभाव रूप होता है। और वह कृतक और नश्वर होता है। अतः उसके सदातनत्व के आधारपर पर भाव के उदयकाल में-भाव के अस्तित्वकाल में भाव के नाश का अस्तित्व हो नहीं सकता। इसलिये उस काल में भाव के अस्तित्व का भङ्ग नहीं हो सकता। और भावनिवृत्ति रूप नाश का द्वितीयादिक्षण में ही व्यवहार होने से द्वितीयादिक्षण में ही उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिये प्रथमक्षण में भाव के अस्तित्व में उस नाश से भी कोई बाधा नहीं होती है इसलिये 'अपने उत्पत्ति क्षण में ही रहना और द्वितीयादि क्षण में न रहना' भावमात्र में इस प्रकार के क्षणिकत्व की हानि नहीं हो सकती।

इसके प्रतिकार में ग्रन्थकार कहते हैं-पूर्वभाव का नाश क्षणमात्रस्थितिक भावरूप है यह कथन तभी युक्तिसङ्गत हो सकता जब उसके द्वितीयादि क्षण में उसकी स्थिति न मानी जाती, और द्वितीयादि क्षण में स्थिति के न होने के लिये उसका नाश मानना आवश्यक है। फलतः पूर्वभाव के नाश का नाश हो जाने से पूर्वभाव के पुनर्दर्शन की आपत्ति रूप दोष का परिहार हो नहीं सकता ॥१३॥

इदमेव भावयति–

मूलम्–क्षणस्थितौ तदैवाऽस्य नाऽस्थितिर्युक्त्यसंगतेः ।
न पश्चादपि सा नेति सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥१४॥

क्षणस्थितौ=क्षणस्थितिरूपस्यैव क्षणस्थितिधर्मकत्वस्याभ्युपगमे, **तदैव**=द्वितीयादौ क्षण एव, **अस्य**=भावस्य, **अस्थितिर्न भवति, युक्त्यसङ्गतेः**=क्षणस्थितिक्षणाऽस्थित्योर्युक्त्या विरोधात् । न चेष्टापत्तिरित्याह-**न पश्चादपि**=द्वितीयादिक्षणेऽपि, **सा**=अस्थितिः नेति, तदस्थितेरेवानुभवात् क्षणिकत्वभङ्गप्रसङ्गाच्च ।

न च द्वितीयादिक्षणाऽस्थितिरपि निवृत्तिरूपा संव्यवहार्यैव, तात्त्विकी त्वाद्यक्षणस्थितिरूपेति न दोष इति **वाच्यम्**, अभावस्याऽधिकरणातिरेकेण द्वितीयादिक्षणरूपत्वात् द्वितीयादिक्षणेषु **सतः**=घटादेः, **असत्त्वं व्यवस्थितम्**=सिद्धम् तथा च 'सतोऽसत्त्वे' [श्लो० १२] इत्याद्युक्तदोषानतिक्रम एव ॥१४॥

[क्षणस्थितिधर्मकत्व की क्षणिकता]

कारिका १४ में पूर्व कारिका निर्दिष्ट विषय का ही समर्थन किया गया है । पूर्वभाव के भावात्मक नाश में जो क्षणस्थितिधर्मकत्व माना जायेगा वह भी क्षणस्थिति=क्षणैकमात्रस्थितिरूप ही होगा । और वह दो ही स्थिति में उपपन्न हो सकता है (१) उसे पूर्वभाव के द्वितीय क्षण में ही अस्थित भी माना जाय, अथवा (२) उसके द्वितीयक्षण में अर्थात् पूर्वभाव के तृतीय क्षण में उसे अस्थित माना जाए । किन्तु ये दोनों ही पक्ष सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम पक्ष में एक ही क्षण में उसकी स्थिति और अस्थिति दोनों प्राप्त होगी जो युक्तिविरुद्ध है यदि इस युक्तिविरोध के कारण पूर्वभाव के द्वितीयादि क्षण में उसके भावात्मक नाश के स्थितिमात्र की आपत्ति का स्वीकार कर लिया जाय और उसमें क्षणैकमात्र स्थायित्व की उपपत्ति के लिये उसके द्वितीयादि क्षण में अर्थात् पूर्वभाव के तृतीय क्षण में उसकी अस्थिति मानी जाय तो यह भी उचित नहीं हो सकता । क्योंकि उस क्षण में पूर्वभाव के अस्थिति का ही अनुभव होता है । किन्तु यदि पूर्वभाव के उत्तरभावात्मक नाश उस समय यानी तृतीय क्षण में अस्थित होगा तो पूर्वभाव की स्थिति के अनुभव की आपत्ति होगी । और यदि पूर्वभाव के भावात्मक नाश को अपने द्वितीयादि क्षण में भी अवस्थित माना जाय तो उसके अनेक क्षणसंसर्गी हो जाने से उसके क्षणिकत्व का भङ्ग हो जायगा ।

(व्यावहारिकनिवृत्तिरूप अस्थिति की कल्पना निरर्थक)

यदि यह कहा जाय कि-'पूर्वभाव के द्वितीयादि क्षण में जो पूर्वभाव की अस्थिति होती है वह पूर्वभाव की निवृत्तिरूप है जो उन क्षणों में 'पूर्वभावो निवृत्तः' इस व्यवहार से सिद्ध होने के कारण केवल व्यावहारिक है । इस प्रकार आद्य क्षण में पूर्वभाव की स्थिति ही तात्त्विक है । और द्वितीयादि क्षण में उसकी अस्थिति केवल व्यावहारिक है । एवं पूर्वभाव का जो भावात्मक नाश है वह पूर्वभाव का तात्त्विकनाश है । उसके द्वितीयादि क्षण में उसकी जो व्यावहारिक निवृत्तिरूप अस्थिति

अत्रैवाक्षेप-परिहारावाह—

मूलम्—न तद्भवति चेत् किं न सदा सत्त्वं तदेव यत् ।
न भवत्येतदेवास्य भवनं सूरयो विदुः ॥१५॥

न तत्=असत् भवति तुच्छत्वादित्यभिप्राय इति चेत् ? किं न सदा सत्त्वं भावस्य, तदसत्त्वाभावात् । पर आह—तदेव=सत्त्वमेव यद्=यस्मात् न भवति द्वितीयादिक्षणेषु, अतो न सदा सत्त्वं भावस्य । अत्रोत्तरम्—एतदेव=भावस्याऽभवनं तदात्वेनाऽसत्त्वस्य भवनं, सूरयः =पण्डिताः विदुः=जानन्ति ।

तथा हि—नेदं भावाऽभवनं काल्पनिकम्, तथात्वे भावस्याऽपि काल्पनिकत्वाऽऽपत्तेः, यतो लाक्षणिको विरोधो नील-पीतादेः परैरभ्युपगम्यते, वस्तुस्वरूपव्यवस्थापकं च लक्षणम्, नाभिमित्तो विरोधो लाक्षणिक उच्यते, भावप्रच्युतिश्च लक्षणम्, यतो नीलस्य विरोधो नील-

मानने से एकक्षणमात्रस्थायित्व रूप क्षणिकत्व में कोई बाधा नहीं हो सकती'-किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अभाव अधिकरण से भिन्न नहीं होता । अत एव द्वितीयादि क्षण में पूर्वभाव की व्यावहारिक निवृत्ति रूप जो अस्थिति होती है वह द्वितीयादि क्षणरूप होगी । अतः द्वितीयादि क्षण के निवृत्त होने पर पूर्वभाव की अस्थिति भी निवृत्त हो जायगी । इसलिए भावनिवृत्ति रूप व्यावहारिक नाश की कल्पना भी निरर्थक हो जाती है । फलतः, उत्तरभाव को ही पूर्वभाव का तात्त्विक नाश मानना होगा । और वह उत्पत्तिशील होने के नाते उस नाश का नाश भी अनिवार्य होगा । अतः नष्ट के पुनर्दर्शन की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता ।

यही तथ्य प्रस्तुत कारिका (१४) के "सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम्" से व्यक्त किया गया है जिसका अर्थ यह है कि उत्पत्ति क्षण में सत् घटादि द्वितीयादि क्षण में असत् उत्पन्न होता है । इसलिए १२ वीं कारिका (सतोऽसत्त्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत् । तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदानाशे न तत्स्थितिः ॥१२॥) में कहे गये दोष के उद्भावन का अतिक्रमण (निवारण) नहीं हो सकता ॥१४॥

[सत्त्व का न होना ही असत्त्व है]

१५ वीं कारिका में बौद्धमत के विरुद्ध प्रतिपादन के उपर बौद्धों द्वारा किये गये आक्षेप और उसके समाधान का उल्लेख किया गया है । कारिका में, सर्व प्रथम बौद्ध का यह अभिप्राय है कि पूर्वभाव का असत्त्व नहीं होता याने असत्त्व उत्पन्न नहीं होता क्योंकि असत्त्व तुच्छ होता है । और तुच्छ की उत्पत्ति नहीं होती ।

इस अभिप्राय के विरुद्ध सिद्धान्ती जैन की ओर से यह कहा गया है कि यदि भाव का असत्त्व नहीं होगा तो भावका सर्वदा सत्त्व हो जायेगा । इसके विरुद्ध पुनः बौद्ध की ओर से यह शङ्का की गई है कि द्वितीयादिक्षण में भाव का असत्त्व उत्पन्न नहीं होने पर भी भावका सत्त्व न रहने से उसके सदा सत्त्व की आपत्ति नहीं हो सकती । इस कथन का सिद्धान्ती की ओर से उत्तर यह दिया गया कि द्वितीयादिक्षण में भाव के सत्त्व का न होना ही भाव के असत्त्व का होना विद्वज्जनों को मान्य है ।

प्रच्युत्या, तद्विरोधे च पीतादीनामपि तत्प्रच्युतिव्याप्तानां तेन विरोधः, तथा च 'प्रमाणं नील-परिच्छेदकत्वेन प्रवृत्तं नीलप्रच्युतिं तद्व्याप्तांश्च पीतादीन् व्यवच्छिन्ददेव स्वपरिच्छेद्यं नीलं परिच्छिनत्ति' इत्यभ्युपगमः।

स च भावाभवनस्य शशविषाणप्रख्यत्वे भावविरुद्धत्वस्य पीतादिव्यापकत्वस्य चाऽभावाद् नोपपद्यत इति। न च तदभवने तदग्रहणमात्रमेव, न तु तदतिरिक्तग्रहणम्, इति न तदभवनमेव तदसत्त्वभवनमिति वाच्यम्, सद्व्यवहारनिषेधाऽसद्व्यवहारप्रवृत्त्योस्तदग्रहण-तदभावग्रहणनिमित्तत्वादिति दिक्॥१५॥

[भाव का अभाव तुच्छ नहीं है]

व्याख्याकारने इस विषय को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि भाव के अभवन-यानी असत्त्व को काल्पनिक=तुच्छ नहीं माना जा सकता क्योंकि भाव के अभवन को काल्पनिक मानने पर भाव भी काल्पनिक हो जायेगा। कहनेका आशय यह है कि बौद्धों के मत में नील-पीतादि में लक्षणमूलक विरोध माना जाता है, क्योंकि लक्षण वस्तु के स्वरूप का नियामक अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक का नियामक होता है। अतः जिसमें लक्षण का अभाव होता है उसमें लक्ष्यतावच्छेदक का अभाव होता है अर्थात् वह लक्ष्य से भिन्न होता है। इस प्रकार लक्ष्य और अलक्ष्य का जो भेदात्मक विरोध है वह लक्षणमूलक होता है। जैसे अनील (पीतादि) का लक्षण होता है नीलभाव की प्रच्युति अर्थात् नील भाव का अभाव, इस अभाव के साथ नील का विरोध है और पीतादि इस अभाव का व्याप्य है क्योंकि जो भी पीतादिरूप होता है उसमें नील प्रच्युति अर्थात् नील भाव का अभाव रहता है। नीलभावाभाव अर्थात् नील प्रच्युति के साथ नील का विरोध होने से उसके व्याप्य पीतादि के साथ भी विरोध होता है। क्योंकि व्यापक के साथ जिसका विरोध होता है उसका व्याप्य के साथ विरोध न्यायप्राप्त होता है। इसलिए नील का निश्चय करने के लिए जो प्रमाण प्रवृत्त होता है वह नीलप्रच्युति-नीलभावाभाव और उसके व्याप्य पीतादि का व्यवच्छेद करते हुए अर्थात् नील में उनके ज्ञानकी व्यावृत्ति करते हुए नीलका निश्चायक होता है। अर्थात् नीलग्राही प्रमाण से "अयम् अनीलभिन्नः, पीतादिभिन्नश्च नीलः" इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है।

अब यदि भाव का अभवन शशसींग के समान तुच्छ होगा तो नीलभावाभावरूप नीलप्रच्युति भी तुच्छ होगी। अतः उसमें नील का विरोध एवं पीतादि की व्यापकता नहीं रहेगी। क्योंकि तुच्छ वस्तु किसीकी विरोधी या व्यापक नहीं होती। फलतः नीलपीतादि में जो लक्षण मूलक विरोध बौद्धो द्वारा माना जाता है उसकी अनुपपत्ति हो जायेगी। जिसका परिणाम होगा पीतादि विरुद्ध नीलादि के असत्त्व की आपत्ति। अतः भाव के अभवन को काल्पनिक मानने पर भाव के काल्प-निकत्व की आपत्ति अपरिहार्य है।

यदि यह कहा जाय कि-'किसी वस्तु का अभवन होने पर उसका अज्ञान मात्र ही होता है। उस वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अतः द्वितीयादि क्षण में भाव के अभवन से भाव का अग्रहण मात्र हो जाता है, उसको असत्त्व की आपत्ति नहीं हो सकती'-तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सत् व्यवहार का निषेध वस्तु के अग्रहण में, और असत्-व्यवहार की प्रवृत्ति

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

मूलम्- कादाचित्कमदो यस्मादुत्पादाद्यस्य तत् ध्रुवम् ।
तुच्छत्वान्नेत्यतुच्छस्याप्यतुच्छत्वात्कथं नु यत् ॥१६॥

अदः=एतदसत्त्वम् यस्मात् कादाचित्कम् भावकालेऽसत्त्वात् , तदस्योत्पादादि=उत्पाद-विनाशादि ध्रुवं=नियतम् , यद्यत् कादाचित्कं तत्तदुत्पादादिमदिति व्याप्तेः । पर आह तुच्छ-त्वादसत्त्वस्योत्पादादि नेति । परिहरति-अतुच्छस्यापि भावस्य अतुच्छत्वात् कारणात् कथं नु तदुत्पादादि ? यद्-यस्मादेवं अतो न प्रागुक्तम्, अप्रयोजकहेतुमात्रेण साध्यासिद्धेरिति भावः ॥१५॥

वस्तु के अभाव के ग्रहण में, निमित्त होते हैं। द्वितीयादि क्षण में जैसे भाव का अग्रहण होता है उसी प्रकार भाव के अभाव का भी ग्रहण होता है। अतः उसकी उपपत्ति के लिए उस समय भाव के असत्-व्यवहार को स्वीकारना आवश्यक है। और वह व्यवहर्तव्य के आधीन होता है, इसलिए द्वितीयादि क्षण में भाव के असत् व्यवहार की उपपत्ति के लिए भाव के असत्त्व का उत्पाद मानना आवश्यक है ॥१५॥

(असत्त्व कादाचित्क होने से उत्पत्तिशील है)

१६ वीं कारिका में पूर्वोक्त को स्पष्ट किया गया है।

कारिका का अर्थः असत्त्व कादाचित्क होता है, क्योंकि भाव के उदयकाल में वह नहीं होता। इसलिए उसकी उत्पत्ति और नाश अपरिहार्य-अनिवार्य है। क्योंकि जो कादाचित्क=स्ववृत्तित्व-स्वभिन्नकालवृत्तित्वोभय सम्बन्ध से कालविशिष्ट होता है वह उत्पत्तिविनाशशाली होता है। इसपर यह शङ्का हो कि-'उत्पत्ति-विनाश शालित्व का यदि उत्पत्ति-विनाश उभयशालित्व अर्थ होगा तो उक्त कादाचित्कत्व हेतु से उत्पत्तिनाश उभयशालित्व का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस में कादाचित्कत्व हेतु उत्पत्तिविनाशउभयशालित्व का व्यभिचारी है। और यदि उत्पत्ति-विनाशउभयशालित्व का उत्पत्ति विनाश अन्यतर शालित्व अर्थ किया जायेगा तो असत्त्व में उत्पत्ति सिद्ध होने से सिद्ध साधन होगा'।-किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि अभी असत्त्व को भावकाल में अविद्यमान बताकर उसे कादाचित्क कहा गया है। उसकी उत्पत्ति अभी तक निर्धारित नहीं है। अतः उत्पत्ति विनाश अन्यतर शालित्व का साधन करने से विनिगमना के विरह से उत्पत्ति विनाश दोनों की सिद्धि असत्त्व में होगी जो बौद्ध को मान्य नहीं है।

इस पर बौद्ध की ओर से यह शङ्का की जा सकती है कि-"असत्त्व तुच्छ है, इसलिए उसका

पर आह—

मूलम्-तदाभूतेरियं तुल्या तन्निवृत्तेर्न तस्य किम् ।
तुच्छताऽऽप्तेर्न भावोऽस्तु नासत् सत् सदसत्कथम् ॥१७॥

तदाभूतेः= तदोत्पत्तिदर्शनेन, अतुच्छस्योत्पादादि न्याय्यमित्यर्थः । अत्रोत्तरम्-इयम् अनुभवसिद्धा तदाभूतिः तुल्या, तुच्छस्याऽपि सत्त्वानन्तरमसत्त्वस्यानुभूयमानत्वात् । पर आह तन्निवृत्ते=अतुच्छनिवृत्तेः न तुल्या तुच्छस्य तदाभूतिः, 'अतुच्छस्योत्पादानुभवः प्रमाणम्, तुच्छस्य तु निवृत्त्यनुपपत्तेरुत्पादानुभवो न प्रमाणम्' इति भावः ।

अत्रोत्तरम्—न तस्य किं=नञ उभयत्र सम्बन्धात् 'तस्य तुच्छस्य किं न निवृत्तिः' ? इत्यर्थः । पर आह:—तुच्छताप्तेरिति, तुच्छेन हि तुच्छताप्तेर्न तदात्मकत्वात्, न तन्निवृत्ता वऽपि तत्रान्यत् किञ्चिदाप्यमस्ति, तन्निवृत्तेरपि तुच्छत्वात् । अतो न तुच्छस्य निवृत्तिरिति ।

(तुच्छ की अनिवृत्ति हेतु से उत्पत्तिविरह को शंका)

१७ वीं कारिका में पूर्वोक्त के सम्बन्ध में बौद्ध द्वारा आशङ्कित समाधान और उसके निराकरण की चर्चा की गई हैं ।

कारिका का अर्थः जैन विद्वानों की ओर से जो यह कहा गया है कि-'यदि तुच्छत्व हेतु से असत्त्व में बौद्धो द्वारा उत्पत्ति विनाश विरह का साधन किया जायेगा तो अतुच्छत्व हेतु से भाव में भी उत्पत्ति विनाश विरह के साधन की आपत्ति होगी'-यह समीचीन नहीं है । क्योंकि अतुच्छ की उत्पत्ति अनुभव सिद्ध होने से न्यायसङ्गत है । किन्तु तुच्छ की उत्पत्ति अनुभव सिद्ध न होने से वह स्वीकार्य नहीं हो सकती । इसके उत्तर में जैन विद्वानों का कहना है कि अतुच्छ के समान तुच्छ की उत्पत्ति भी अनुभवसिद्ध है । क्योंकि सत्त्व के बाद असत्त्व का अनुभव सर्वसम्मत है । इस पर बौद्ध की यह आशङ्का है कि तुच्छ की उत्पत्ति में अतुच्छ की उत्पत्ति की तुल्यता नहीं है क्योंकि अतुच्छ की निवृत्ति भी होती है । इसलिए निवृत्ति के अनुरोध से अतुच्छ की उत्पत्ति के अनुभव को प्रमाण माना जाता है । किन्तु तुच्छ की निवृत्ति नहीं होती इसलिए तुच्छ की उत्पत्ति के अनुभव को प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

(स्वतः तुच्छ की निवृत्तिनिष्प्रयोजन है-बौद्ध)

कारिका के द्वितीय पाद में स्थित 'नञ्' पद का 'तन्निवृत्तेः तुल्या न' इस प्रकार एक बार और 'तस्य किं न निवृत्तिः इस प्रकार दूसरी बार अन्वय मानकर व्याख्याकार ने जैन विद्वानों की ओर से इस आशङ्का का उत्तर दिया है कि-जैसे अतुच्छ की निवृत्ति होती है वैसे तुच्छ की निवृत्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अतुच्छ की निवृत्ति के समान तुच्छ की निवृत्ति भी मान्यता प्राप्त होने से तुच्छ की उत्पत्ति के अनुभव को प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती । इस पर बौद्ध की ओर से यह कहा जा सकता है कि किसी भी वस्तु की निवृत्ति उसमें तुच्छता की उपपत्ति के लिए मानी जाती है । अतः अतुच्छ की निवृत्ति तो उचित हो सकती है क्योंकि निवृत्ति से निवर्तमान को तुच्छता प्राप्त होती है जो अतुच्छ में स्वभावतः प्राप्त न होने से

अत्रोत्तरम् 'न भावोऽस्तु' इति नैतदेवं यदुच्यते भवता-'तुच्छेन तुच्छताप्तैव, इति न तन्निवृत्तिः इति' यतो भावोऽस्तु तुच्छता, एवमेवैतन्निवृत्त्युपपत्तेरिति । पर आह-नासत् सदिति कथं चासत् सद् भवति येनोच्यते 'तुच्छतानिवृत्तौ भावोऽस्तु'-इत्यभिप्रायः । अत्रोत्तरम्-'सदसत् कथमिति' ? एतदुक्तम्भवति-यद्यसत् सद् न भवति प्रकृत्यन्यथायोगेन, ततः सदसत् कथं भवति ? इति ॥१७॥

पर आह—

मूलम्-स्वहेतोरेव तज्जातं तत्स्वभावं यतो ननु ।
तदनन्तरभावित्वादितरत्राप्यदः समम् ॥१८॥

स्वहेतोरेव=स्वकारणादेव तत्=सत्त्वम् जातम्=उत्पन्नम् तत्स्वभावं=असद्भवनस्वभावम् यतः=यस्मात् , तस्मात् सदसत् भवतीति न दोषः । अत्रोत्तरम्-ननु=यद्येवम् , तदा तदनन्तरभावित्वात्=सत्त्वानन्तरभावित्वात् इतरत्रापि=असत्त्वे, अदः=एतत् 'स्वहेतोरेवाऽसत् सद्भवनस्वभावं जातम्' इति कल्पनम् समं=तुल्ययोगक्षेमम् ॥१८॥

निवृत्ति द्वारा प्राप्तव्य है । किन्तु तुच्छ की निवृत्ति मानना यह उचित नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें तुच्छता स्वतःसिद्ध है । अतः उसकी निवृत्ति मानना निष्प्रयोजन है । यदि यह कहा जाय कि 'तुच्छता की निवृत्ति का तुच्छ के लिए कोई प्रयोजन न हो किन्तु निवृत्ति को निवृत्ति के लिए ही मानना उचित है क्योंकि उसको न मानने पर वह स्वयं ही सिद्ध न होगी । जो चीज नित्य नहीं होती उसका अस्तित्व उसकी उत्पत्ति से हो सिद्ध होता है' ।-तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि तुच्छ निवृत्ति भी निवृत्ति रूप होने के कारण तुच्छ ही है । अत एव उसमें कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं हो सकती, अतः तुच्छ की निवृत्ति नहीं मानी जा सकती । और जब तुच्छ को निवृत्ति मानी नहीं जाती तब उसकी उत्पत्ति का अनुमय प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

[असत् सत् नहीं होता तो सत् असत् कैसे होगा-जैन]

इस पर जैन विद्वानों का यह उत्तर है कि-तुच्छ में तुच्छता स्वभावतः प्राप्त है इसलिए तुच्छ को निवृत्ति मान्य नहीं हो सकती यह बौद्धों का कथन ठीक नहीं है । क्योंकि तुच्छ भावात्मक न बन जाय इसलिए तुच्छ की निवृत्ति मानना आवश्यक है । इसपर बौद्ध यह तर्क कर सकता है कि-'तुच्छ की निवृत्ति न मानने पर उसमें सत्त्व का आपादान उचित नहीं हो सकता । क्योंकि जो स्वभावतः असत् है वह सत् नहीं हो सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर स्वभावहानि की आपत्ति होगी, जब कि स्वभावहानि किसी भी वादी को मान्य नहीं है ।' इसका जैन विद्वान द्वारा यह उत्तर है कि यदि प्रकृति के अन्यथात्व की आपत्ति के भय से असत् सत् नहीं हो सकता । तो सत् भी कैसे असत् हो सकता है ? निष्कर्ष यह हुआ कि पूर्वक्षण में सद्भूत भाव का उत्तर काल में असत्त्व सम्भव न होने से भावमात्र क्षणिक होता है' इस बौद्ध सिद्धान्त का लोप हो जायगा ।।१७।।

पर आह—

मूलम्-नाहेतोरस्य भवनं न तुच्छे तत्स्वभावता ।
तत: कथं नु तद्भाव इति युक्त्या कथं समम् ॥१९॥

नाहेतो:=नाकारणस्य अस्य=असत्त्वस्य भवनम् । तथा, तुच्छे=असत्त्वे, न तत्स्वभावता=सद्भावस्वभावता, नि:स्वभावत्वेन तुच्छत्वव्यवस्थानात् । यत एवं अत: कथं नु तद्भाव:=असत: सद्भाव:, नैवेत्यर्थ: । इति=एवम्, युक्त्या=न्यायेन कथं समं स्वहेतोरेव जातत्वादिकल्पनम् ? इति ॥१९॥

अत्रोत्तरम्—

मूलम्-स एव भावस्तद्धेतुस्तस्यैव हि तदाऽस्थिते: ।
स्वनिवृत्तिस्वभावोऽस्य भावस्यैव ततो न किम् ॥२०॥

स एव भावो यस्याग्रिमक्षणेऽसत्त्वम्, तद्धेतु:=असत्त्वहेतु:, तस्यैव हि=भावस्य तदा द्वितीयसमये अस्थिते:=अभवनात् । एतेन नियतानन्तरभावित्वं हेतु-फलभावाङ्गमुक्तं,

---

[स्वभाव हेतुता में तुल्यता की आपत्ति]

१८ वीं कारिका में उक्त के सम्बन्ध में ही और प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं। जैसे, बौद्ध का कहना है कि-सत् वस्तु के असत्त्व की अनुपपत्ति बतलाना उचित नहीं है, क्योंकि सत् वस्तु अपने तथाभूत कारणों से बाद में असत् हो जाने के स्वभाव से युक्त होकर ही उत्पन्न होती है। इसके उत्तर में जैन का यह कहना है कि-बौद्ध का यह समाधान समीचीन नहीं हो सकता। चूं कि जैसे सत् अपने कारण से बाद में असत् हो जाने के स्वभाव से ही सम्पन्न होकर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार यह भी कल्पना की जा सकती है कि 'असत् भी अपने हेतु से बाद में सत् हो जाने के स्वभाव से अन्वित होकर ही उत्पन्न होता है' ॥१८॥

[तुच्छ का कोई स्वभाव नहीं होता-बौद्ध]

१९ वीं कारिका में बौद्धों की ओर से उक्त कथन का निम्नोक्त समाधान प्रस्तुत किया गया है कि-असत् के बारे में उक्त स्वभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि असत् का कोई कारण नहीं होता। अत: तुच्छ में सद्रूपताभवनस्वभाव का आपादान नहीं हो सकता, क्योंकि तुच्छ वस्तु सर्वस्वभाव शून्य होती है अत एव दोनों कल्पनाओं में जो साम्य बताया गया है वह ठीक नहीं है ॥१९॥

[भाव और असत्त्व में हेतु-फलभाव है]

बीसवीं कारिका में पूर्वोक्त बौद्धों के कथन का उत्तर दिया गया है जो इस प्रकार है-असत् का कोई कारण नहीं है-यह बौद्धों का कथन असङ्गत है, क्योंकि पूर्ववर्त्तीभाव ही उत्तरकाल में होने वाले असत्त्व का हेतु है। क्योंकि उत्तरकाल में पूर्ववर्ती भाव की अस्थिति अर्थात् असत्त्व होता है अत: पूर्ववर्त्ती भाव उत्तरकालभावी असत्त्व का कारण है। इस कथन से यह सूचित होता है कि नियतानन्तरभावित्व हेतु-फलभाव का अंग याने नियामक है। अर्थात् जो जिसके अव्यवहित उत्तर

कार्यदर्शनेन तत्कुर्वद्रूपानुमानमपि निराबाधमेव, तथाविधक्षणकुर्वद्रूपक्षणानुमानेऽप्यस्यैव बीजत्वात्, कार्यसामान्ये सत्कुर्वद्रूपत्वेन तु न हेतुता, मानाभावात्, गौरवाच्च।

यदि च 'अभावस्य भावीकरणमेव तद्व्यापारः अन्यथानुपयोगादिति' संप्रदायः, तदा कार्यदर्शनबलाद् भावस्याभावीकरणमपि हेतुव्यापारत्वमावश्यकं स्वीकर्तव्यमिति। अधिकमग्रे।

तथा, **स्वनिवृत्तिः**= स्वात्मनिवृत्तिः स्वभावो=धर्मः, **अस्य**=असत्त्वस्य भावस्येव, हेतुसामर्थ्यात्। यत एवं ततो न किं युक्त्या समं स्वहेतोरेव जातत्वादिकल्पनम् ॥२०॥

क्षण में होता है वह उसका फल-कार्य होता है और जो जिसके अव्यवहित पूर्वक्षण में नियत होता है वह उसका जनक हेतु होता है। यदि यह कहा जाय कि- 'भाव में असत्त्व का कुर्वद्रूपत्व असिद्ध है। अतः उसे असत्त्व का कारण माना नहीं जाता, क्योंकि बौद्ध मत में कार्यकुर्वद्रूपत्वेन ही कारणता होती है"-तो यह ठीक नहीं, क्योंकि भाव के अनंतर असत्त्व रूप कार्य के कुर्वद्रूपत्व का अनुमान निर्बाध रूप से सम्पन्न हो सकता है। क्योंकि जहाँ कहीं भी अनन्तरभावी क्षण के प्रति पूर्वभावी कुर्वद्रूप क्षण का अनुमान होता है वहाँ सर्वत्र इस अनुमान में नियतानन्तरभावित्व ही बीज होता है। यदि यह कहा जाय कि-'कार्यसामान्य के प्रति कारण को सदनुकूल कुर्वद्रूपत्व रूप से ही कारणता होती है। अतः भाव असत्त्व का कारण नहीं हो सकता क्योंकि सदनुकुलकुर्वद्रूपकारण सद्रूप कार्य को ही उत्पन्न कर सकता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है, अपितु कारणतावच्छेदक कोटि में सदनुकुलकुर्वद्रूपत्व के प्रवेश में गौरव भी है।

(भाव का अभाव में परिवर्त्तन की पूर्ण शक्यता)

यदि यह शङ्का की जाय कि-" भाव असत्त्व का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव का भाव में परिवर्त्तन करना ही कारण का व्यापार होता है अन्यथा कारण की कोई उपयोगिता ही सिद्ध न हो सकेगी, यही सम्प्रदाय की मान्यता है। अतः भावको असत्त्व का कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि भावरूप कारण से असत्त्व का भावीकरण नहीं होता यानी असत्त्व की भावात्मकता का सम्पादन नहीं होता"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जब भाव के अव्यवहित उत्तर काल में असत्त्व-रूप कार्य का दर्शन होता है तो भाव का अभाव में परिवर्त्तन करना भी हेतु का व्यापार मानना आवश्यक होगा। अतः भावको असत्त्व का कारण मानने में कोई बाधा नहीं है। फलतः, जब असत्त्व भी सकारणक हुआ तो उसके बारे में यह कल्पना की जा सकती है कि-असत्त्व अपने कारण से सद्भूवन स्वभाव से सम्पन्न होकर ही उत्पन्न होता है। इस विषय में और बात आगे ज्ञात हो सकेगी।

कारिका के उत्तरार्ध में यह बताया गया है कि उक्त रीति से असत्त्व में सकारणकत्व सिद्ध हो जाने पर यह भी कल्पना की जा सकती है कि जैसे भाव अपने कारण से, निवृत्त होने के स्वभाव से सम्पन्न ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार असत्त्व भी अपने प्रतियोगीभूत भावात्मक कारण से, निवृत्ति स्वभाव से सम्पन्न होता है। इस प्रकार तुच्छ की निवृत्ति सरलतया ही सिद्ध हो सकती है। अतः पूर्व कारिका में भाव के समान असत्त्व में भी अपने कारण से ही उत्पत्ति आदि कल्पना में जो साम्य बताया गया है वह युक्तिसङ्गत क्यों नहीं हो सकता! ॥२०॥

उपचयमाह—

मूलम्-ज्ञेयत्ववत्स्वभावोऽपि न चायुक्तोऽस्य तद्विधः ।
तदभावे न तज्ज्ञानं तन्निवृत्तेर्गतिः कथम् ॥२१॥

न चास्य=असत्त्वस्य, तद्विधः=सद्भवनलक्षणः स्वभावोऽपि ज्ञेयत्वस्वभाववदयुक्तः, भावस्वभावत्वाभाव एव हि तुच्छत्वम् न तु सर्वथा निःस्वभावत्वम् । अत एव शशविषाणादाव-खण्डेऽपनादिवासनाप्रभवविकल्पगोचरतया ज्ञेयत्वं परैरङ्गीकृतम् । 'ज्ञेयत्वमपि नास्त्येव तत्र' इत्यत्राह तदभावे=ज्ञेयत्वाभावे न तज्ज्ञानं=नासत्त्वज्ञानम् । तथा च तन्निवृत्तेः=सत्त्वनिवृत्तेः, गतिः=परिच्छेदः कथम् ? ॥२१॥

पराभिप्रायमाह—

मूलं-तत्तद्विधस्वभावं यत्प्रत्यक्षेण तथैव हि ।
गृह्यते तद्‌गतिस्तेन नैतत्त्वचिद्‌विनिश्चयात् ॥२२॥

तत्= सत्त्वानुविद्धं वस्तु, तद्विधस्वभावं=निवृत्तिरूपधर्मकम् यद्=यस्मात् , तस्मात् प्रत्यक्षेण=तथाभूतवस्तुग्राहिणा निर्विकल्पेन, तथैव हि=स्वधर्मवदेव, गृह्यते=परिच्छिद्यते ।

[असत्त्व में सद्भवनस्वभावता और ज्ञेयत्व की सिद्धि]

२१ वीं कारिका में असत्त्व में आपादित सद्भवनस्वभावता की पुष्टि की गई है । कारिका का अर्थः- असत्त्व का जैसे ज्ञेयत्वास्वभाव युक्तिविरुद्ध नहीं है उसी प्रकार उसकी सद्भवन स्वभावता भी युक्ति-विरुद्ध नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'असत्त्व की सद्भवनस्वभावता के समर्थन में ज्ञेयत्व को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । क्योंकि ज्ञेयत्व को असत्त्व का स्वभाव मानने पर तुच्छरूपता अनु-पपन्न होगी"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तुच्छता सर्वथा निःस्वभावत्वरूप नहीं है अपि तु भाव स्वभा-वत्व का अभावरूप है । अर्थात् तुच्छ होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सर्वथा स्वभावशून्य हो । किन्तु यह आवश्यक है कि भाव के असाधारण स्वभाव से शून्य हो । 'इसलिए शशसींग' इस अखण्ड रूप से भासमान को, अनादि वासनाजन्य ※ विकल्पात्मक ज्ञानका विषय होने से बौद्धादिकों ने भी माना है । यदि यह कहा जाय कि "असत्त्व में ज्ञेयत्व भी नहीं होता, अतः उसमें सद्भवनरूप भावान्तर ज्ञेय को सिद्ध करने के लिए ज्ञेयत्व का दृष्टांत रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता" तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि यदि उसमें ज्ञेयत्व का अभाव होगा तो उसका ज्ञान न होगा । फलतः उसी स्थिति में सत्त्वनिवृत्ति का परिच्छेद कैसे हो सकेगा ? ॥२१॥

※ विकल्पात्मक ज्ञानः-जो ज्ञान शब्दज्ञान से उत्पन्न हो और जिसका विषयभूत पदार्थ वास्तविक न हो उस ज्ञान को विकल्पात्मकज्ञान कहते हैं । शशसींग का ज्ञान 'शशशृङ्ग' इस शब्द से उत्पन्न होता है और उसका विषय 'शशशृंग' वास्तविक नहीं है । अतः 'शशसींग' का ज्ञान विकल्पात्मकज्ञान कहा जाता है, उस ज्ञान का विषय होने से 'शशशृङ्ग' ज्ञेय कहा जाता है ।

यत एवं तेन कारणेन तद्गतिः=सत्त्वनिवृत्तिगतिः । यद्यप्येवमपि तदधर्मभूतनिवृत्तेर्भ्रमविषयतयापि ज्ञेयत्वस्वभाववत् कार्यत्वस्वभावोऽविरुद्ध एव, तथापि वस्तुस्थित्या समाधानमाह–नैतद्-यदुक्तं परेण 'प्रत्यक्षेणैव सत्त्वनिवृत्तिर्गृह्यते' इति । कुतः ? इत्याह क्वचिदनिश्चयात्=प्रतीत्यभावेन क्वाप्यनिश्चयात् । यद्वा, क्वचित्=सभागसंततावनिश्चयात् , निश्चय एव ह्यध्यक्षकल्पकः, यथा नीलादिनिश्चयात् तदध्यक्षकल्पनम् । अन्यथा दानहिंसाविरतिचेतसां स्वर्गप्रापणशक्तेरप्यध्यक्षत एवावसितेर्न तत्र विप्रतिपत्तिः, इति तद्व्युदासार्थमनुमानप्रवर्तनं शास्त्रविरचनं वा वैयर्थ्यमनुभवेत् ॥२२॥ पराभिप्रायमाशङ्क्याह–

मूल–समारोपादसौ नेति गृहीतं तत्त्वतस्तु तत् ।
यथाभावग्रहास्त्यातिप्रसङ्गादद्वोऽप्यसत् ॥२३॥

समारोपात्=तुल्यसत्त्वाध्यारोपात् , **असौ**=सत्त्वनिवृत्तिनिश्चयः न, यथा रजत-

[सत्त्वनिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है]

बाईसवीं कारिका में सत्त्वनिवृत्ति के सम्बन्ध में बौद्ध का अभिप्राय प्रस्तुत कर के उसका निराकरण किया गया है। सत्त्व की आश्रय भूत सद्वस्तु स्वभावतः निवृत्तिधर्मक होती है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा वह सद् वस्तु निवृत्तिधर्मकरूप में गृहीत होती है । सत्त्वनिवृत्ति का परिच्छेद भी इसीलिए हो सकता है। यद्यपि निवृत्ति को असत्त्व का धर्म न मानने पर भी भ्रम द्वारा उसमें ज्ञेयत्वस्वभाव हो सकता है। इसी प्रकार कार्यत्व को उसका स्वभाव मानने में कोई विरोध नहीं है, इसलिए निवृत्ति को उसका धर्म बताने की आवश्यकता नहीं है। तथापि वस्तुस्थिति के अनुरोध से ऐसा समाधान किया गया है। इस समाधान के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना यह है कि सत्त्वनिवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि उसका सविकल्प निश्चय अर्थात् प्रत्यक्ष कहीं सिद्ध नहीं है। अथवा सभागसन्तान में कहीं उसका निश्चय नहीं है। और निश्चय ही निर्विकल्पक का अनुमापक होता है। जैसे, नीलादि के निश्चय से नीलादि के निर्विकल्पक की कल्पना होती है । जिस विषय का निश्चय नहीं होता यदि उसका भी प्रत्यक्ष माना जायगा तो जिस पुरुष का चित्त दान और अहिंसा में संलग्न है, उसकी स्वर्गप्रापक शक्ति का भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञान हो जायगा । अतः उस विषय में कोई विरोध संभवित न होने से विरोधनिराकरण के लिए स्वर्ग प्रापण शक्ति का अनुमान और उसके प्रतिपादन के लिए शास्त्र की रचना व्यर्थ हो जायेगी ।।२२।।

[समारोप के कारण सत्त्वनिवृत्तिग्रह न होना अयुक्त है]

२३ वीं कारिका में पूर्वकारिका गत आक्षेप के सम्बन्ध में बौद्ध के अभिप्राय को प्रस्तुत कर के उसका प्रतिकार किया गया है। बौद्ध का कथन यह है कि वस्तु के सत्त्व की निवृत्ति मानने पर भी उसका निश्चय इसलिए नहीं होता है कि उसमें सत्त्व का आरोप होता है। यह आरोप ही सत्त्वनिवृत्ति के निश्चय का बाधक हो जाता है। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व में विरोध है, और एक विरोधी धर्म का आरोप दूसरे विरोधी धर्म के निश्चय का प्रतिबन्धक होता है। जैसे शुक्तित्व के विरोधी रजतत्व

समारोपाद् न शुक्तिनिश्चयः ! तत्त्वतस्तु तत्=असत्त्वम् गृहीतम्=अध्यक्षेण परिच्छिन्नम्, तस्य=अध्यक्षस्य यथाभावग्रहात्=प्रतिनियतधर्मकस्वलक्षणग्राहित्वात्, तद्बलेनैव तदुत्पत्तेः, अन्यधर्मानुकरणे भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, तद्धर्माननुकरणे चानुत्पत्तेरेवेति। अत्र यद्यपि वस्तुनो निवृत्तिधर्मकत्वसिद्धावध्यक्षस्य तद्ग्राहित्वसिद्धिः, तस्य तद्ग्राहित्वसिद्धौ च वस्तुनस्तथात्वसिद्धिः, अनुमानेऽपि प्रत्यक्षस्य मूलत्वात्, इति स्फुट एवान्योन्याश्रयः, तथाऽप्युत्कटदोषान्तरमाह–अदोऽप्यतिप्रसङ्गादसत्=अकिञ्चित्करम् ॥२३॥ तथाहि–

मूलम्–गृहीतं सर्वमेतेन तत्त्वतोऽनिश्चयः पुनः ।
मितग्रहसमारोपादिति तत्त्वव्यवस्थितेः ॥२४॥

गृहीतं सर्वं=त्रैलोक्यम्, एतेन=अध्यक्षेण, तत्त्वतः=परमार्थतः, अनिश्चयः पुनः सर्वविषयः मितग्रहसमारोपात्=यावद् यत्र निश्चीयते तावत एव तत्रारोपात्, इति=एवं

के आरोप से अग्रवेशवर्ती वस्तु में शुक्तित्व का निश्चय प्रतिबद्ध हो जाता है। किन्तु सत्त्वनिवृत्ति वस्तु का वास्तविक स्वरूप है। अत एव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उसका ग्रहण होता है। क्योंकि निर्विकल्पक का यह स्वभाव होता है कि वह जिस वस्तु का जो धर्म होता है, उस धर्म के द्वारा ही वह स्वलक्षण यानी वास्तविक वस्तु को ग्रहण करता है, क्योंकि वस्तु के बल से ही अध्यक्ष की उत्पत्ति होती है। यदि प्रत्यक्ष अन्य वस्तु के भी धर्म को ग्रहण करेगा तो भ्रम हो जायेगा, और वस्तु के वास्तविक धर्म को ग्रहण न करेगा तो उसकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी।

यद्यपि इस बौद्ध समाधान में अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। क्योंकि वस्तु में निवृत्तिधर्मकत्व सिद्ध होने पर ही निर्विकल्पक से उसका ग्रहण सिद्ध हो सकता है। और निर्विकल्पक से उसका ग्रहण सिद्ध होने पर ही वस्तु में निवृत्तिधर्मकत्व की सिद्धि हो सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निवृत्तिधर्मकत्व की सिद्धि अनुमान से होगी। क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष-मूलक ही होता है। अतः ग्रन्थकार द्वारा इस अन्योन्याश्रय का उद्भावन उचित था, किन्तु ग्रन्थकार ने इसकी उपेक्षा इसलिए की है कि उसके सम्मुख बलवत्तर दोष उपस्थित था और वह दोष अतिप्रसङ्ग है। जिसे अग्रिम कारिका में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है ॥२३॥

[निर्विकल्प से त्रैलोक्यग्रह की प्रसक्ति]

२४ वीं कारिका में पूर्व कारिका में संकेत किये गये अतिप्रसङ्ग को स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है वस्तु की सत्त्वनिवृत्ति का यदि उसके निश्चय के बिना भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ग्रहण माना जायेगा तो निश्चय के बिना भी सम्पूर्ण त्रिलोकवर्ती वस्तु का, निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष द्वारा असद्रूप में ग्रहण होने का अतिप्रसङ्ग होगा। क्योंकि जिस वस्तु में जितने धर्मों का निश्चय होता है उतने ही धर्मों का उसमें आरोप माना जाता है। असत्त्व का निश्चय किसी वस्तु में नहीं होता, अत एव किसी वस्तु में असत्त्व का आरोप नहीं माना जाता। फलतः असत्त्व सम्पूर्ण वस्तु का अनारोपित-वास्तविक रूप होगा। अत एव सम्पूर्ण वस्तु का असत्त्व रूप से निर्विकल्पक द्वारा ग्रहण का अतिप्रसङ्ग दुर्निवार्य है।

तत्त्वव्यवस्थिते:=स्वलक्षणाध्यक्षस्वरूपोपपत्तेः सम्भवात् । 'त्रैलोक्याऽसंनिकर्षात् कथं तद्ग्रहणापादानम्' ? इति चेत् ? अभिप्रायाऽनभिज्ञोऽसि, स्वलक्षणस्यैव त्रैलोक्यात्मकत्वापादनात्, 'इतरग्रहप्रतिबन्धकल्पनापेक्षयेतराग्रहस्यैव कल्पने लाघवमि'ति चेत् ? तदाऽसत्त्वस्याऽप्यग्रह एव कल्प्यताम्, किं समारोपेण तन्निश्चयप्रतिबन्धकल्पनया ? ।

यद्वा, परमार्थतोऽसदृशानामपि भावानां समारोपबलेन तादृशविकल्पोत्पादकदर्शनहेतुत्वे स्वयमनीलादिस्वभावानामपि भावानां नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शनहेतुत्वसम्भवाद् निर्धर्मकमेवाऽस्तु स्वलक्षणम्, तथा च सर्वं=धर्माभावाद् निरवशेषमित्यर्थः, नञोऽप्रश्लेषाद् निश्चयः=मितनिश्चयः पुनर्मितग्रहसमारोपाद्–नियतवासनाप्रबोधात्, इति व्याख्येयम् । वासनाप्रबोधनियमेऽप्यनुभवस्यैव नियामकत्वाद् नायं दोष' इति चेत् ? तर्ह्यत्यन्तासति विषये कथं वासनास्वीकारः ? 'समनन्तरा-ऽसमनन्तरविकल्पविभागार्थं वासनाभेदस्वीकाराद् न दोष' इति चेत् ? सोऽपि किमर्थम् ? 'परम्परया संवादा-ऽसंवादनियमार्थमि'ति चेत् ? तर्हि साक्षादेव तदभ्युपगमोऽस्तु, किमीदृशकुसृष्ट्या ? इति दिक् ॥२४॥

यदि बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि–'सम्पूर्ण वस्तु के साथ सन्निकर्ष न होने से असद्रूप में सम्पूर्ण वस्तु के ग्रहण का आपादान नहीं हो सकता'–तो उनका यह कथन आपादक के अभिप्राय के अज्ञान का ही सूचक होगा क्योंकि आपादक का अभिप्राय सम्पूर्ण वस्तुग्रहण के आपादन में नहीं है किन्तु 'जो कोई एक स्वलक्षण वस्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होती है उसीमें सम्पूर्ण जगत् के परिसमाप्त हो जाने' में है । यदि पुन: उसके उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि 'इस आपादान में सन्निकृष्ट स्वलक्षणवस्तु से अतिरिक्त वस्तु के ज्ञान का प्रतिबन्ध फलित होता है । किन्तु इतर वस्तु का ज्ञान नहीं होता'' इस कल्पना में लाघव है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने पर सत्त्व के आरोप से असत्त्व निश्चय के प्रतिबन्ध की कल्पना भी उचित नहीं होगी, किन्तु असत्त्व के अग्रह की कल्पना ही उचित होगी । अत: ज्ञेयत्व को असत्त्व का स्वभाव न मानने पर असत्त्व के परिच्छेद की अनुपपत्ति जो बतायी गई थी वह तदवस्थ रहेगी । फलत: जैसे ज्ञेयत्व असत्त्व का स्वभाव होगा उसी प्रकार उसमें कारणजनसे सद्भूतलक्षण स्वभाव की आपत्ति का परिहार भी नहीं हो सकेगा ।

[स्वलक्षण में निर्धर्मकत्व का अतिप्रसङ्ग]

अथवा इस पूरी कारिका को पूर्व कारिका में संकेतित अतिप्रसङ्ग के स्पष्टीकरण में ही न लगा कर अन्य प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है । जैसे यह कहा जा सकता है कि "गृहीतं सर्वमेतेन तत्त्वत:" इस अंश से अतिप्रसङ्ग का स्पष्टीकरण किया गया है और 'निश्चय: पुनर्मितग्रहसमारोपात्' इस भाग से बौद्ध द्वारा अतिप्रसङ्ग के समाधान की आशङ्का की गई है, और अन्तिम अंश से उसका निराकरण किया गया है । आशय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से असत्त्व के ग्रहण का बौद्ध द्वारा समर्थन करने पर जैन द्वारा यह अतिप्रसङ्ग बताया गया कि 'असत्त्व निश्चय के बिना भी असत्त्व का ग्रहण मानने पर असद्रूप से सम्पूर्ण जगत् का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ग्रहण हो जायेगा, अत:

किसी भी वस्तु का सद्रूप से निश्चय न हो सकेगा ।' बौद्ध की दृष्टि से यह उचित नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्धमत में समस्त भाव परमार्थदृष्टि से परस्पर में एक दूसरे के सदृश नहीं होते । क्योंकि भाव क्षणिक होते हैं। और सादृश्य तभी हो सकता है जब क्रमोत्पन्न भाव में अनुगत स्थायी कोई धर्म हो किन्तु वह सर्वक्षणिकत्ववादी बौद्ध के मत में सम्भव नहीं है । अतः उनके मतमें यही व्यवस्था करनी होगी कि भाव अपने दर्शन=निर्विकल्पक ग्रहण को उत्पन्न करते हैं। और वह दर्शन वासना के बल से भाव में सादृश्यग्राही सविकल्प प्रत्यक्ष को उत्पन्न करता है इसके अनुसार यह निष्कर्ष सर्वथा सम्भव है कि भावात्मक पदार्थ वास्तविक दृष्टि से अनीलादि स्वभाव होते हैं । किन्तु वे वासना के सहयोग से नीलादि विषयक सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करनेवाले दर्शन=निर्विकल्पक ग्रहण के हेतु होते हैं । अतः प्रत्येक स्वलक्षण भाव निर्धर्मक ही होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु धर्मशून्य होने पर सर्व पद का अर्थ कर सकते हैं 'निरवशेष'। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु निरवशेष=निर्धर्मक होने से उसके ग्रहण में कुछ भी शेष न रहा, सर्व गृहीत हो गया। यही आशय 'निश्चयः पुनर्मितग्रहसमारोपात्' इस अंश भी से स्पष्ट हो जाता है । इस व्याख्या में 'तत्त्वतो निश्चयः' इन शब्दो के मध्य नञ् यानी अकार प्रश्लेष करना जरुरी नहीं है, अतः उस भाग में निश्चय शब्द का अर्थ है 'मितनिश्चय' अर्थात् मित यानी निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ का सविकल्पक निश्चय । पुनः से उसकी उपपत्ति सूचित की गई है और उसमें हेतु है मितग्रह का समारोप । मितग्रहसमारोप का अर्थ है वासना का नियत प्रबोध । यह अर्थ 'मितस्य निर्विकल्पेन गृहीतस्य ग्रहः=निश्चयः यतः स मितग्रहः=वासना अपरपर्यायः संस्कार, तस्य समारोपः=नियतप्रबोधः' इस व्युत्पत्ति से नियत होता है। इस भाग से उक्त अतिप्रसङ्ग के सम्बन्ध में बौद्ध का यह समाधान प्राप्त होता है कि असत्त्व का निश्चय न होने पर भी असत्त्व का ग्रहण मानने पर सम्पूर्ण विश्व के असद्रूप में ग्रहण का अतिप्रसङ्ग बताकर जो जगत् के निश्चय की अनुपपत्ति बतायी गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि असद्रूप में वस्तु का निर्विकल्पक ग्रहण होने पर भी सत्त्वधर्म विषयक वासना के प्रबोध से सत्त्वादि धर्म द्वारा विश्व का निश्चय उपपन्न हो सकता है। क्योंकि व्यवस्थित निश्चय वासना के प्रबोध का नियामक अनुभव ही होता है अतः उक्त दोष की आपत्ति नहीं हो सकेगी।

बौद्ध के इस समाधान को ध्वस्त करने के अभिप्राय से व्याख्याकार ने यह प्रश्न उठाया है कि जब विषय अत्यन्त असत् है तो उसमें विभिन्न प्रकार की वासना कैसे स्वीकारी जा सकती है ? यदि बौद्ध की ओर से उसका यह उत्तर दिया जाए कि–' लोक में दो प्रकार के विकल्प यानी विशिष्ट ज्ञान अनुभूत होते हैं, एक समनन्तरविकल्प और एक असमनन्तरविकल्प । समनन्तरविकल्प अर्थात् सदृशविकल्प पूर्वक विकल्प याने व्यवहार दृष्टि से सत्यविकल्प । और असमनन्तरविकल्प=सदृश विकल्पापूर्वकविकल्प याने असद्विकल्प । इस विकल्प भेद की उपपत्ति के लिए ही वासनाभेद मानना आवश्यक है । अतः विषय के अत्यन्त असत् होनेपर वासनाभेद की अनुपपत्ति रूप दोष नहीं हो सकता है।'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दो प्रकार के जो लोकसिद्ध विकल्प बताये गये हैं उन विकल्पों के भेद का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। यदि यह कहा जाए कि-'समनन्तर विकल्प का व्यवहार दृष्टि से अर्थप्रापक प्रवृत्ति के साथ संवाद होता है । और दूसरे में उसका संवाद नहीं होता है। इसलिए इस संवाद और असंवाद को नियमित करने के लिए उक्त विकल्पभेद मानना आवश्यक

अत्रैवोपचयमाह—

मूलम्-एकत्र निश्चयोऽन्यत्र निरंशानुभवादपि ।
न तथा पाटवाभावादित्यपूर्वमिदं तमः ॥२५॥

एकत्र=सत्त्वे निश्चयः अनुभवपाटवात्; अन्यत्र च=असत्त्वे निरंशानुभवादपि पाटवाभावात् न तथा=न निश्चयः, इतीदमपूर्वं तमः=महत्तममज्ञानम्, 'निरंशे एकत्र पाटवम् अन्यत्र न' इति विभागाऽभावात् । 'सत्त्वनिश्चयजननी शक्तिरेव पाटवम्, असत्त्वनिश्चयहेतुशक्त्यभावश्चाऽपाटवम्, न तु तत्र विषयावच्छेदोऽपि निविशते, येन निरंशत्वविरोधः स्यादि' ति चेत्? न, तद्विषयत्वेनैव तच्छक्तिनियमात्, अन्यथा नीलादिस्वभावेऽप्यनाश्वासप्रसङ्गात् । विसभागसंततावसत्त्वनिश्चयदर्शनेनाऽनुभवे तच्छक्तिकल्पनाऽऽवश्यकत्वाच्च, अन्यथा अतिप्रसङ्गात् सर्वाऽनुभवेऽपि सितनिश्चयः शक्तिसम्भवादिति दिक् ॥२५॥

है'-सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसकी उपपत्ति विषय के सत्त्वअसत्त्व को मानकर साक्षात् भी की जा सकती है । अतः उसके लिए उक्त अप्रमाणिक कुसृष्टि की कल्पना निष्प्रयोजन है ॥२४॥

(पटुता और अपटुता का निरंश में असम्भव)

२५ वीं कारिका में पूर्व कारिका के अर्थ का ही उपोद्बलन=समर्थन किया गया है । आशय यह है कि भाव जब वस्तुगत्या निर्धर्मक-निरंश है, तो यह कहना कि "वस्तु में सत्त्व का निश्चय हो सकता है क्योंकि सत्त्वग्राही वस्तु का अनुभव सत्त्वनिश्चय के जनन में पटु होता है किन्तु असत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि यद्यपि उसका निरंश अनुभव- निर्विकल्पक ग्रहण–अनुभव होता है फिर भी उसमें असत्त्व निश्चय उत्पन्न करने को पटुता नहीं होती । इसलिए असत्त्व का निश्चय नहीं होता ।"-यह बौद्धों का कथन एक विचित्र अन्धकार है, अत्यन्तविशाल अज्ञान ही है । क्योंकि भाव और उसका निर्विकल्पक अनुभव दोनों ही निरंश है । इसलिए उसमें सत्त्व निश्चय उत्पादन की पटुता और असत्त्व निश्चय उत्पादन की अपटुता के विभाग की कल्पना नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाए कि-"सत्त्वनिश्चय को उत्पादिका शक्ति पटुता है और असत्त्व निश्चय के उत्पादक शक्ति का अभाव ही अपटुता है और अपटुता की कुक्षि में विषयभेद का प्रवेश नहीं है । अतः निरंश भाव के निर्विकल्पक ग्रहण में उक्त पटुता और अपटुता के कारण निरंशत्व का विरोध नहीं हो सकता"-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि भावके निरंश अनुभव में निश्चयजनिका शक्ति सत्त्वविषयकत्वावच्छेदेन और शक्ति का अभाव असत्त्वविषयकत्वावच्छेदेन मानना होगा । अतः पाटव-अपाटव के द्वारा निर्विकल्पक ग्रह के निरंशत्व का विरोध अनिवार्य है । तथा यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वस्तु की नीलादिस्वभावता भी अविश्वसनीय हो जायेगी । तथा वस्तु की विसभाग–विसदृश सन्तान में असत्त्व का निश्चय देखा जाता है इसलिए अनुभव में असत्त्वनिश्चय की उत्पादक शक्ति की कल्पना आवश्यक है । आशय यह है कि किसी वस्तु का सदृशसन्तान जब तक अनुवर्तमान होता है तब तक तो उस वस्तु के असत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता है । किन्तु जब उसका विसदृश विशिष्टसन्तान प्रादुर्भूत होता है तो उसके

प्रस्तुतमेव समर्थयति-

मूलम्-स्वभावक्षणतो ह्यूर्ध्वं तुच्छता तन्निवृत्तितः ।
नासावेकक्षणग्राहिज्ञानात् सम्यग्विभाव्यते ॥२६॥

स्वभावक्षणतः=स्वसत्ताक्षणात् , ऊर्ध्वं=अग्रिमक्षणेषु, हि=निश्चितम् , तुच्छता=तदसत्त्वरूपा । कुतः ? इत्याह-तन्निवृत्तितः=भावनिवृत्त्यभ्युपगमात् । यत एवम् , अतो नासौ=तुच्छता, एकक्षणग्राहिज्ञानात् सम्यग् विभाव्यते=न्यायतो निश्चीयते, तदा तुच्छताया असत्त्वेन तदननुभवादिति भावः ॥२६॥ ततः किम् ? इत्याह-

मूलम्-तस्यां च नाऽगृहीतायां तत्तथेति विनिश्चयः ।
न ह्यतीन्द्रियमतीतादिग्राहकं सद्भिरिष्यते ॥२७॥

तस्यां च द्वितीयादिक्षणाऽस्थितिरूपायां तुच्छतायाम् अगृहीतायां सत्याम् , तद्=वस्तु तथा=क्षणस्थितिधर्मकम् इति न विनिश्चयः, तत्त्वेन विनिश्चयस्य द्वितीयादिक्षणाऽस्थितिग्रहणसापेक्षत्वात् । न च तद्ग्रहोऽपीन्द्रियेणैव भविष्यति, इत्याह-न हीन्द्रियं=चक्षुरादि, अती-

---

असत्त्व का निश्चय होता है, जैसे बीजसन्तान से अङ्कुरसन्तान का आरम्भ होने पर बीज के असत्त्व का निश्चय होता है । यदि बीज सन्तान के अन्त्यबीजक्षणअनुभव में बीज के असत्त्वनिश्चय को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं मानी जायेगी तो अङ्कुरसन्तान का आरम्भ होने पर बीज के असत्त्व का निश्चय नहीं हो सकेगा । यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो पूरे अनुभव में गृहीत अर्थ के निश्चय को उत्पन्न करने की शक्ति का सम्भव होने से अतिप्रसङ्ग होगा । अर्थात् नील वस्तु के ग्रहण से पीत निश्चय की उत्पत्ति की आपत्ति होगी ।।२५।।

२६ वीं कारिका में असत्त्व का ग्रहण असम्भव है इस बात का प्रतिपादन किया गया है । तुच्छता यानी भावका असत्त्व वह भाव के सत्ताक्षण में नहीं होता किन्तु उस क्षण के अग्रिम क्षण में भाव की निवृत्ति मानी जाती है । इसलिए भावक्षण को ग्रहण करने वाले ज्ञान से तुच्छता का निश्चय न्यायसङ्गत नहीं है, क्योंकि उस समय तुच्छता यानी असत्त्व के न होने से उसका अनुभव ही नहीं होता है ।।२६।।

(तुच्छता के अग्रह से क्षणिकत्व निश्चय का असंभव)

२७ वीं कारिका में तुच्छताग्रहण की असम्भाव्यता बतलाने का परिणाम बताया है । जैसे, द्वितीयादि क्षणो में भावकी अविद्यमानता यानी तुच्छता का ग्रहण सम्भव नहीं होता, इसलिए भावमें क्षणिकत्व का निश्चय नहीं हो सकता, क्षणिकत्व के निश्चय के लिए द्वितीयादि क्षणमें असत्त्व का ज्ञान अपेक्षित होता है । यदि यह कहा जाय कि-"भावक्षण में भी उसके असत्त्व का इन्द्रिय से ही ग्रहण हो जायेगा या द्वितीयादि क्षण में भाव के असत्त्व का इन्द्रिय से ग्रहण हो जायेगा"-तो यह कथन उचित नहीं हो सकता । क्योंकि चक्षुआदि इन्द्रिय अतीत और अनागत की ग्राहक नहीं होती-यही विद्वानों का सिद्धान्त है ।

तादिग्राहकम्-अतीतैष्यत्परिच्छेदकम् सद्भिः=पण्डितैः इष्यते । न च वर्तमानक्षणग्रहे पूर्वाऽपरयोरदर्शनादेवाभावग्रह इति शङ्कनीयम् , दृश्याऽदर्शनस्यैवाऽभावग्राहकत्वात् ॥२७॥

प्रस्तुतोपचयमाह-

मूलम्-अन्तेऽपि दर्शनं नास्य कपालादिगतेः क्वचित् ।
न तदेव घटाऽभावो भावत्वेन प्रतीतितः ॥२८॥

अन्तेऽपि=विभागमन्तत्युत्पत्तावपि, **अस्य**=घटाऽसत्त्वस्य **क्वचिद् दर्शनं न** । कुतः इत्याह-**कपालादिगतेः**=कपालादेरेव परिच्छेदात् । 'कपालाद्येव घटाभावः स्यात् , इत्यत्राह-**न तदेव**=कपालाद्येव **घटाऽभावः**=घटाऽसत्त्वम् । कुतः ? इत्याह **भावत्वेन प्रतीतितः**= सत्त्वेनाऽनुभवात् , न चाऽसत् सत्त्वेनाऽनुभूयते ॥२८॥

आशय यह है कि भाव की उत्पत्ति के क्षण में उसका असत्त्व नहीं रह सकता इसलिए असत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता । द्वितीय क्षण में असत्त्व रहता है किन्तु भाव नहीं रहता इसलिए भावके असत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता । क्योंकि इन्द्रिय द्वारा 'विशिष्ट' ग्रहण करने के लिए 'विशेष्य-विशेषण' दोनों का वर्तमान होना आवश्यक है । इसमें यह शङ्का हो सकती है कि-"वर्तमान क्षण के ग्रहण काल में उसके पूर्वक्षण का और उत्तर क्षण का दर्शन नहीं होता इसलिए इस अदर्शन से ही दोनों के अभाव का ग्रहण हो सकता है । अतः यह कहना व्यर्थ है कि उत्तरक्षण में भावी असत्त्व का पूर्वक्षण में ग्रहण नहीं हो सकता"—किन्तु यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि दृश्य का अदर्शन ही अभाव का ग्राहक होता है, वर्तमान क्षणके ग्रहण कालमें पूर्व और उत्तरक्षण दृश्य नहीं होते । अत एव उस कालमें उसके अदर्शन को दृश्य का अदर्शन नहीं कहा जा सकता । क्योंकि कोई वस्तु दृश्य उसी समय मानी जाती है जब उसका दर्शन होता है अथवा उस वस्तु और उस वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष ईन दोनों से अतिरिक्त उस वस्तु के दर्शन के सम्पूर्ण कारण विद्यमान होते हैं । जैसे घटशून्य भूतल में आलोक का सन्निधान और चक्षु का संयोग रहने पर घट दृश्य माना जाता है किन्तु दृश्य होते हुए भी उसका अदर्शन होता है । अत एव उस अदर्शन से उसके अभाव का ग्रहण होता है । वर्तमान क्षण के ग्रहण कालमें पूर्वोत्तर क्षण का न तो दर्शन होता है न तो उनके दर्शन के इतर कारण तत्कालीन द्रष्टा आदि विद्यमान होते हैं । अत एव उस समय उन्हें दृश्य नहीं कहा जा सकता । इस लिये उस समय का उन का अदर्शन दृश्य का अदर्शन न होने से, उनके अभाव का ग्राहक नहीं हो सकता ॥२७॥

(असत्त्व का दर्शन नहीं होता)

२८ वीं कारिका में पूर्वोक्त अर्थ का ही समर्थन किया गया है । कारिका का अर्थ:-किसी भी भाव के, उसके अन्त में भी अर्थात् उसके विसदृश सन्तान का आरम्भ होने पर भी उसके असत्त्व का दर्शन किसी को नहीं होता । क्योंकि उस समय भी असदृशसन्तानवर्ती किसी भाव का ही दर्शन होता है । जैसे घट का ध्वंस होने पर घट के विसदृश कपाल के सन्तान का आरम्भ होने पर कपालादि का ही दर्शन होता है, घटके असत्त्व का नहीं । यदि यह कहा जाय कि-'उस समय दृश्यमान कपाल ही घटाभाव है । अत एव जो कपाल का दर्शन होता है वह घटाभाव का ही दर्शन है ।'-तो यह ठीक नहीं हो

'मा भूत् कपालादिकमेव घटाऽसत्त्वम् , तथाऽपि कपालादिदर्शनेन घटाऽसत्त्वमनुमास्यते' इत्यत्राह–

मूलम्–न तद्गतेर्गतिस्तस्य प्रतिबन्धविवेकतः ।
तस्यैवाऽभवनत्वे तु भावाऽविच्छेदताऽन्वयः ॥२९॥

न तद्गतेः=कपालादिदर्शनात् , तस्य=घटाऽसत्त्वस्य, गतिः=ज्ञानम् । कुतः ? इत्याह–प्रतिबन्धविवेकतः=कपालादिघटाभावयोर्व्याप्त्यभावात् । "तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामेव हि व्याप्तिः" इति सुगतसुतस्य सम्प्रदायः, न च कपाले घटाऽभावतादात्म्यम् तदुत्पत्तिर्वा, इति न व्याप्तिरिति निष्कर्षः ।

सकता । क्योंकि कपालादि का दर्शन भावरूप में होता है । यदि वह घट का अभाव रूप होता तो उसका भाव रूप में अनुभव न हो कर अभाव रूप में ही अनुभव होता, क्योंकि असत्त्व का सद्रूप से अनुभव कभी किसी को नहीं होता ।।२८।।

(व्याप्ति बिना असत्त्व के ज्ञान का असंभव)

२९ वीं कारिका में कपालादि के दर्शनकाल में घट के असत्त्वज्ञान का बौद्ध की ओर से उपपादन करके उसका निराकरण किया गया है ।

बौद्ध का आशय यह है कि कपालादि का भाव रूप में दर्शन होने के कारण उसे घटाभाव रूप भले न माना जाय, किन्तु यह स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती की कपालादि सन्तान के समय घट का अभाव होता है और वह कपालादि के दर्शन से अनुमित होता है । इस कथन का आधारभूत अभिप्राय यह है कि घटदर्शन के बाद कपालादि सन्तान का आरम्भ होने पर भी यदि घटका अस्तित्व होता तो उसका दर्शन होना न्यायप्राप्त था । किन्तु उस समय उसका दर्शन नहीं होता, कपालादि का ही दर्शन होता है । अतः यह अनुमान बेरोकटोक किया जा सकता है कि उस समय घटका अभाव हो जाता है । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है "घटदर्शनोत्तर-कपालादिदर्शनकालः घटाभाववान्, घटदर्शनोत्तरदृश्यमानकपालादिमत्त्वात्=घट दर्शन के अनन्तर जिस कालमें कपालादि का दर्शन होता है वह काल घटशून्य है या घटाभाववान् है, क्योंकि वह घट दर्शन के उत्तर काल में दृश्यमान कपाल का आश्रय है" ।

किन्तु यह कपालादि के दर्शन से घटके अभाव का आनुमानिक ज्ञान मानना ठीक नहीं है क्योंकि कपाल में घटाभाव के प्रतिबन्ध यानी व्याप्ति का विवेक=अभाव है । आशय यह है कि बौद्ध सम्प्रदाय में तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही व्याप्ति की उपपत्ति होती है, जैसे 'एष वृक्षः, शिंशपायाः' यह वृक्ष है क्योंकि सीसम है । जो सीसम होता है वह सब वृक्ष होता है । अर्थात् जिसमें तादात्म्य सम्बन्ध से सीसम होता है उसमें तादात्म्य सम्बन्ध से वृक्ष होता है । तदुत्पत्ति से व्याप्ति ग्रह का उदाहरण है वह्नि और धूम । अर्थात् , धूम वह्नि से उत्पन्न होता है इसलिए धूम में वह्नि की व्याप्ति होती है, कपाल में न तो घटाभाव का तादात्म्य है, क्योंकि उसकी भावरूपसे प्रतीति होती है और न उसकी घटाभाव से उत्पत्ति होती है । अतः कपाल से घटाभाव का अनुमान नहीं हो सकता ।

'अस्तु तर्हि अनायत्या घटाभावतादात्म्यमेव कपालादौ, अधिकरणानतिरिक्ताभावस्य शशविषाणप्रख्यत्वात्, एकस्यैवाऽखण्डतया प्रतीयमानस्य नाशस्य सांवृतिकत्वात्' इति पक्षाङ्गीकारे परस्याह–तस्यैव=कपालादेरेव, अभवनत्वे तु=घटाऽभवनत्वे तु, तुनाऽभ्युपगमः सूच्यते, 'भावाऽविच्छेदतो'=ऽन्योत्पादनस्य नाशाऽव्यवहारेण कपालरूपघटनाशे घटस्य तादात्म्यसम्बन्धस्वीकारे कपालतया घटस्य परिणामेऽपि 'घट एव कपालीभूत' इत्यर्थप्रतीयमानया भावतोऽविच्छित्त्या, अन्वयः सिद्धः । घटाऽसत्त्वस्याऽखण्डस्य स्वीकारे तु 'शशविषाणम्' इत्यादाविव षष्ट्यर्थाऽपर्यालोचनात् स्यादप्यनन्वय इति भावः ॥२६॥

(कपालमें घटाभावतादात्म्य मानने में क्षणिकत्वभंग)

यदि यह कहा जाय कि 'दूसरा चारा न होने से कपालादि के साथ घटाभाव का तादात्म्य मानना आवश्यक है। क्योंकि कपालादि काल में घटका दर्शन नहीं होता और घटाभाव का भी कपालादिभिन्न रूप में दर्शन नहीं होता, अतः घटका दर्शन न होने से उस समय घट के अभाव का होना प्राप्त होता है। और कपालादि से भिन्न घटाभाव का दर्शन न होने से उसकी कपालादिरूपता भी प्राप्त होती है, क्योंकि अधिकरण से भिन्न अभाव शशसींग के समान असत् है किन्तु अधिकरण से अभिन्न अभाव शशसींग के समान् असत् नहीं है। और जो एक अखण्ड नाश की प्रतीति मानी जाती है वह सांवृतिक=काल्पनिक है।"

तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, यदि कपालादि को ही घट का अभाव माना जायेगा तो भाव का अविच्छेद प्राप्त होगा। क्योंकि उत्तर वस्तु की उत्पत्ति में पूर्व वस्तु के नाश का व्यवहार नहीं होता। इसलिए यदि कपालमें होनेवाला घटनाश कपालरूप है, तब कपालोत्पत्ति और घटनाश इन दोनों को एक वस्तु की उत्पत्ति और अन्य वस्तु के नाशरूप नहीं माना जा सकता किन्तु इन दोनों को एककर्तृक मानना होगा। फलतः दोनों के कर्ता में ऐक्य होनेसे कपाल और घटमें ऐक्य होगा। और घटनाश को कपाल रूप मानने से घटनाश में घटका तादात्म्यसम्बन्ध स्वीकृत हो सकेगा। फलतः घटनाश का अर्थ होगा घटका कपाल रूपमें परिणाम। और इस स्थिति में 'घट ही कपाल हो जाता है" इस प्रकार घटभाव यानी घट के अस्तित्व का अविच्छेद प्राप्त होगा। अर्थात् जो घट के रूपमें प्रतीत–दृष्ट होता था वह कपाल बन गया-कपाल रूपमें दृष्ट होने लगा। इस प्रकार घट और कपाल दोनों अवस्थाओं में एक वस्तु का अन्वय–अनुवर्त्तन सिद्ध होगा जिससे भाव के क्षणिकत्व के सिद्धान्त का ध्वंस हो जायेगा।

हाँ, यदि घटाऽसत्त्व को अधिकरण से अतिरिक्त एक अखण्ड अभाव माना जाय तो जैसे तुच्छ रूप में प्रतीत होनेवाले विषाण के साथ शश का कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, उसी प्रकार घटाऽसत्त्व के साथ भी घटका कोई सम्बन्ध न होने से घटाऽसत्त्व कालमें घटका अनन्वय हो सकता है। किन्तु यदि घटाऽसत्त्व कपालादि रूप होगा तब तो घटाऽसत्त्व कालमें घटके अन्वय का उक्त रीति से परिहार न हो सकेगा। फलतः अभाव के अधिकरणात्मक पक्ष में क्षणिकत्वसिद्धान्त की हानि अनिवार्य होगी ॥२६॥

उपसंहरन्नाह–

मूलम्–तस्मादवश्यमेष्टव्यं तदूर्ध्वं तुच्छमेव तत् ।
ज्ञेयं सज्ज्ञायते ह्येतदपरेणाऽपि युक्तिमत् ॥३०॥

तस्मात्=उक्तयुक्तेः, तदूर्ध्वं=क्षणस्थितिधर्मणः सत्त्वादूर्ध्वम् तद्=घटासत्त्वम्, तुच्छमेव=भावविलक्षणमेव, अवश्यमेष्टव्यम्=अङ्गीकर्तव्यम् । हि=निश्चितम्, एतत्=असत्त्वम्, ज्ञेयं सत्=ज्ञेयस्वभावं सत्, अपरेणाऽपि=अग्रिमज्ञानेनाऽपि ज्ञायते=परिच्छिद्यते, युक्तिमत्=न्याय्यमेतत्, विषयसत्त्वे तज्ज्ञानसंभवात्, तत्तुच्छत्वा-ऽतुच्छत्वयोः प्रामाण्या-ऽप्रामाण्ययोरेव प्रयोजकत्वात्, सन्मात्रविषयत्वरूपप्रामाण्याभावेऽपि भ्रमभिन्नत्वरूपस्य तस्याऽक्षयत्वाच्चेति निगर्वः । तदेवमसत्त्वस्योत्पादादि व्यवस्थापितम् ॥३०॥

अत्राऽनिष्टाऽऽपत्तिजिहीर्षयाह–

मूलम्–नोत्पत्त्यादेस्तयोरैक्यं तुच्छेतरविशेषतः ।
निवृत्तिभेदतश्चैव बुद्धिभेदाच्च भाव्यताम् ॥३१॥

नोत्पत्त्यादेः कारणात्, तयोः=सत्त्वाऽसत्त्वयोः ऐक्यम् । कुतः ? इत्याह-तुच्छेतरत्वभेदात्, असत्त्वं हि तुच्छस्वभावं, सत्त्वं चाऽतुच्छस्वभावमिति । तथा, निवृत्तिभेदतश्चैव=

(घट का असत्त्व भाव से विपरीत है)

३० वीं कारिका में असत्त्व के विषय में अब तक के सम्पूर्ण विचारों का उपसंहार करते हुए उनका निष्कर्ष बताया गया है जो इस प्रकार है,-उक्त युक्ति के अनुरोध से 'क्षणिकभाव के उत्तरकालमें जो उसका असत्त्व होता है वह भावात्मक न होकर तुच्छ ही होता है' यह बात अवश्य स्वीकार करनी होगी और यह असत्त्व ज्ञेय स्वभाव होगा । अत एव अग्रिम ज्ञानसे उसका निश्चय न्यायप्राप्त है । क्योंकि विषय के रहने पर यदि कोई बाधा न हो तब उसका ज्ञान होता ही है । विषय की तुच्छता और अतुच्छता केवल उसके ज्ञानमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य की प्रयोजक होती है ।

इस पर यह शङ्का करना कि-'पूर्वभाव के उत्तरक्षणमें असत्त्व मानने पर भाव भी सत् नहीं रह जायगा इसलिए उस भाव का ज्ञान भी प्रमाण नहीं माना जायेगा । क्योंकि सन्मात्रविषयक ज्ञान ही प्रमाण होता है।'-ठीक नहीं है । क्योंकि उत्तरक्षण में असत्त्व से ग्रस्त होने वाले पूर्वभाव के ज्ञान में सन्मात्र-विषयकत्व रूप प्रामाण्य भले न हो किन्तु भ्रम-भिन्नत्वरूप प्रामाण्य होने में कोई बाधा नहीं है । फलतः उपर्युक्त रीति से असत्त्व के उत्पत्ति आदि की सिद्धि निर्विवाद रूपसे अपरिहार्य है ॥३०॥

(उत्पत्ति-नाश के कारण सत्त्व-असत्त्व में ऐक्य प्रसंग नहीं है)

३१ वीं कारिका में असत्त्व की उत्पत्ति मानने पर अनिष्टापत्ति का उद्भावन कर के उसका परिहार किया गया है । कारिकामें अनिष्टापत्ति इस प्रकार से प्रस्तुत की गई है कि यदि असत्त्व का उत्पत्ति और विनाश माना जायेगा तो उत्पत्तिविनाशशाली सत्त्व से उसका कोई भेद न रहेगा । क्योंकि दोनों ही उत्पत्तिविनाशशाली हैं तो दोनों के भेद का कोई आधार नहीं हो सकता ।

सत्त्वस्य निवृत्तिस्तुच्छा, असत्त्वस्य त्वतुच्छेति । तथा, **बुद्धिभेदाच्च**-सत्त्वे 'अस्ति' इत्येव बुद्धिः, असत्त्वे च 'नास्ति' इति **विभाव्यताम्**=विमृश्यताम्, विरुद्धधर्माध्यासस्यैव भेदकत्वात्, अन्यथा नीलपीतादीनामपि भावत्वेन भेदो न स्यादिति। एवं तावदभिहितः परपक्षेऽनिष्टप्रसङ्गः ॥३१॥

अथैतेन यद्पाकृतं तदुपन्यस्यन्नाह--

मूलम्-एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं न्यायमानिना ।
न तत्र किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम् ॥ ३२ ॥

एतेन=अनन्तरोदितेन प्रसङ्गदोषेण एतत् प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं न्यायमानिना=तर्कावलिप्तेन धर्मकीर्तिना । किं तदुक्तमिति सार्धकारिकाद्वयमाह-न तत्र वस्तुनि क्षणादूर्ध्वं किञ्चिद् भवति वस्तुशब्दवाच्यम् । किं तर्हि तत्? इत्याह-**केवलं न भवत्येव**-प्राक्क्षणे भवनशीलं तदेव न भवति, अन्यथा तन्नाशायोगादित्यर्थः ॥३२॥

ननु 'तद् घटाभवनं यदि घटस्वभावम् अनीदृशं वा? उभयथापि घटाप्रच्युतिः, घटस्वभावनाशकाले घटस्याऽपि सत्त्वात्, घटाऽस्वभावेन नाशेन घटस्वरूपाप्रच्युतेश्च' इत्यादिदोषोपनिपातः कथं वारणीयः? इत्यत आह—

इसका उत्तर कारिका में इस प्रकार दिया गया है कि सत्त्व-असत्त्व में उत्पत्ति और विनाश का साम्य होने पर भी उनमें ऐक्य नहीं हो सकता है । क्योंकि असत्त्व तुच्छ है सत्त्व अतुच्छ है। अतः तुच्छाऽतुच्छ में ऐक्य सम्भावना नहीं हो सकती । उन दोनों की निवृत्ति में भेद है अर्थात् सत्त्व की निवृत्ति तुच्छ है और असत्त्व की निवृत्ति अतुच्छ है। उनकी प्रतीतियों में भी भेद है जैसे, सत्त्व की 'अस्ति' रूपमें प्रतीति होती है और असत्त्व की 'नास्ति' रूपमें प्रतीति होती है। तो इस प्रकार सत्त्व और असत्त्व में जब अनेक विरोधी धर्मों का समावेश है, तो उनमें अभेद की कल्पना नितान्त अयुक्त है। क्योंकि यदि विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी भेद न मान कर ऐक्य माना जायगा तो नील पीतादि रूपमें भी भावस्वरूपसे साम्य होने के कारण उनमें भी भेद न होकार ऐक्य हो जायेगा। इस प्रकार अब तक की युक्तिओं से बौद्ध के सिद्धान्त में अनिष्टापत्ति का प्रदर्शन किया गया है ॥३१॥

(पंडितमानी धर्मकीर्ति के मत का उपक्रम)

३२ वीं कारिका में उस बात को बताया गया है जो बौद्ध पक्ष में अनिष्टापत्ति के उद्भावन से फलित होती है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अभी तक जिस अनिष्ट प्रसङ्ग का उद्भावन किया गया है उससे तार्किकता के दर्प से अवलिप्त न्यायवादी धर्मकीर्त्ति के कथन का निराकरण हो जाता है । धर्मकीर्त्ति का कथन (पूर्वपक्ष) ३२ वीं कारिका के उत्तरार्ध और अग्रिम ३३-३४ वीं दो कारिका में प्रस्तुत है । प्रस्तुत कारिका के उत्तरार्ध का तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का उसकी उत्पत्ति क्षण के बाद ऐसा कुछ नहीं होता जिसे वस्तु

मूलम्–'भावे ह्येष विकल्पः स्याद्विधेर्वस्त्वनुरोधतः ।
न भावो भवतीत्युक्तमभावो भवतीत्यपि ॥३३॥

भावे हि=वस्तुनो भवने, एषः=तत्त्वा-ऽन्यत्वयोरनिष्टप्रसङ्गादिरूपः विकल्पः स्यात् । कुतः ? इत्याह–विधेः=शब्दादिना विधिव्यवहारस्य वस्त्वनुरोधतः=वस्त्वालम्ब्यैव प्रवृत्तेः, अवस्तुनि तदभावात् ।

ननु यद्येवं, कथं तर्हि 'शशविषाणमभावो भवति' इत्यादिर्व्यवहारः ? इत्यत आह- 'अभावो भवति' इत्यप्युक्ते 'भावो न भवति' इत्युक्तम्, तस्य तत्रैव तात्पर्यात् ; अन्यथा विधिव्यवहारविषयत्वे तत्र तुच्छतैव न स्यात् ।

ननु योग्याऽनुपलब्ध्या शशशृङ्गाभावग्रहात् तत्र कालसम्बन्धार्थकभवनविधानम-विरुद्धम्, प्रतियोगि-प्रतियोगिव्याप्येतरत्ववद् दोषेतरत्वस्याऽपि योग्यताशरीरे निवेशात्, अन्यथा ह्रदादौ वह्न्यादिभ्रामकदोषसत्त्वे नानुपलम्भः, तदसत्त्वे तु न योग्यता इति तत्र वह्न्या-

कहा जा सके, किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्व क्षण में होनेवाली वस्तु उत्तरक्षण में नहीं होती है । यदि इतना भी नहीं होगा तो उसका नाश नहीं होगा ॥३२॥

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि-पूर्वक्षण में विद्यमान घटका उत्तरक्षणमें जो अभवन होता है उसको घटस्वभाव अथवा घटका अस्वभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों ही स्थिति में घटके द्वितीय क्षण में भी घट की अप्रच्युति यानी घटके अन्वय का प्रसंग होगा । क्योंकि घटाभवन को घटका स्वभाव मानने पर घटनाश कालमें भी घटका अस्तित्व मानना आवश्यक होगा, क्योंकि आश्रय के बिना स्वभाव का अस्तित्व नहीं माना जा सकता । और यदि घटाभवन घटका अस्वभाव माना जायेगा तो घटका नाश होने पर भी घटस्वरूप की निवृत्ति न होगी, क्योंकि किसी वस्तु के पूर्व स्वभाव की निवृत्ति उस वस्तु के ही उत्तरवर्ती विरोधी स्वभावान्तर से ही होती है ।

इस शङ्का में प्रयुक्त दोषारोपण का उत्तर ३३ वीं कारिका में दिया गया है ।

[विकल्प प्रयोग अवस्तु में नहीं हो सकता]

घटके अभवन के विषय में जो यह विकल्प उठाया गया है कि-"वह घटस्वभाव होगा या घट-स्वभाव से भिन्न होगा"-यह विकल्प उसके सम्बन्ध में नहीं उठाया जा सकता । क्योंकि शब्दादि द्वारा इस प्रकार का व्यवहार वस्तु अनुरोधी होता है । अर्थात् किसी वस्तु के ही सम्बन्ध में ऐसे व्यवहार की प्रवृत्ति होती है अवस्तु में नहीं होती । अभवन अभावात्मक होने से अवस्तु रूप है । अत एव उसके विषयमें उक्त विकल्प का उत्थान असम्भव है ।

इस पर यदि कहा जाय कि "ऐसा मानने पर तो "शशविषाणं अभावो भवति ।" यह भी व्यवहार न हो सकेगा ।"-सो यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि 'अभावो भवति'=अभाव होता है-इस शब्द से भी 'भावो न भवति'=भाव नहीं होता-इसी की पुनरुक्ति होती है । 'अभावो भवति' शब्द का तात्पर्य 'भावो न भवति' इसी अर्थमें होता है, क्योंकि ऐसा न मानकर यदि शशविषाण को 'अभावो भवति' इस प्रकार विधिरूप व्यवहार का विषय माना जायेगा तो उसकी तुच्छता ही समाप्त हो जायेगी ।

घभावप्रत्यक्षमपि न स्यात् । न च प्रतियोग्यंशे भ्रमजनकदोषेतरत्वं निवेशनीयम्, ह्रदे वह्नि-भ्रामकदोषकाले वह्निविशिष्टह्रदत्वाभावप्रत्यक्षापत्तेः, तत्र तदनुपलम्भविघटकदोषेतरत्वनिवेशे च 'अत्र पीतशङ्खो नास्ति' इत्यादाविव तत्र तद्वत्ताभ्रमजनकदोषाऽतिरिक्तस्य प्रतियोगिनि प्रतियोगितावच्छेदकवैशिष्ट्यांशे भ्रमजनकस्य दोषस्य सत्त्वेऽपि तत्र तदनुपलम्भस्याऽबाधात् ।

(धर्मकीर्ति के विरुद्ध विस्तृत पूर्वपक्ष)

यदि बौद्ध प्रतिद्वन्द्वी की ओर से इस पर यह शङ्का की जाय कि-' योग्यानुपलब्धि से शशशृङ्गा-भाव का ग्रहण होने से शशशृङ्ग का अभाव प्रामाणिक है । अत एव उसमें कालसम्बन्धरूप भवन का विधान मानने में कोई विरोध नहीं हो सकता ।

यदि यह शङ्का की जाय कि-"शशशृङ्ग को अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं होगी । क्योंकि प्रतियोगी से और प्रतियोगिव्याप्य से इतर प्रतियोगिग्राहक यावत्कारणकलाप को ही प्रतियोगी की योग्यता मानी जायेगी । अब शशशृङ्ग-अभाव के प्रतियोगी और प्रतियोगिव्याप्य इतर प्रतियोगीग्राहक यावत्कारण के मध्य में शशशृङ्ग ग्राहक दोष भी आता है । अतः उस दोष के रहने पर ही योग्यता रह सकती है, किन्तु उस क्षण में दोष महिमा से शशशृङ्ग की (भ्रमात्मक) उपलब्धि हो जाती है । अत एव शशशृङ्ग की अनुपलब्धि नहीं रह सकती, अत एव योग्यानुपलब्धि से शशशृङ्गअभाव का ग्रहण मानना सङ्गत नहीं हो सकता"—

तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि योग्यता के शरीर में प्रतियोगी और प्रतियोगिव्याप्यइतरत्व के समान दोषेतरत्व का निवेश करना भी आवश्यक होता है । अतः शशशृङ्ग के ग्राहक दोष के अभाव में प्रतियोगी प्रतियोगीव्याप्य एवं दोष से इतर यावत्-कारणसामग्रीस्वरूप योग्यता एवं शशशृङ्ग की अनुपलब्धि होने से, शशशृङ्ग के अभाव का ग्रहण हो सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि ' शशशृङ्ग-अभाव का ग्रहण होने में कोई प्रमाण न होने से शशशृङ्ग के ग्राहकदोष के असत्त्व कालमें शशशृङ्ग ग्राहक योग्यता को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है । अतः अनुपलम्भ के सहकारीभूत योग्यता की कुक्षि में दोषेतरत्व का निवेश अनावश्यक है । फलतः शशशृङ्ग के अनुपलम्भ काल में प्रतियोगी और तद्व्याप्य से इतर प्रतियोगिग्राहक यावत्कारण रूप योग्यता के न होने से शशशृङ्ग-अभाव का ग्रहण नहीं माना जा सकता"—

तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि यदि योग्यता के शरीर में दोषेतरत्व का निवेश न किया जाएगा तो जलाशय में वह्नि के अभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि जलाशय में जब वह्निभ्रमजनकदोष रह गया उस समय में वह्नि का अनुपलम्भ नहीं होगा, और जब उक्त दोष नहीं रहेगा उस काल में वह्निग्रहण की योग्यता नहीं रहेगी । फलतः योग्यताविशिष्टानुपलब्धि के सम्भव न होनेसे जलाशय में वह्न्यभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा ।

यदि इस आपत्ति के परिहारार्थ योग्यता की कुक्षिमें प्रतियोगी अंशमें भ्रमजनक जो दोष तदितरत्व मात्र का निवेश करे तो जलाशय में वह्निभ्रमजनक दोष के समय जलाशय में वह्निविशि-ष्टह्रदत्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी । क्योंकि ह्रदमें वह्निभ्रम का जनकदोष वह्निविशिष्टह्र-दत्वाभाव के प्रतियोगी-अंश में भ्रमजनक नहीं है । अत एव दोष के रहने पर भी प्रतियोगि-अंशमें

एतेन-*दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता । न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति, नास्ति साऽनुपलम्भने [न्या. कु. ३-३] ।" इत्युदयनोक्तमपास्तम् ।

न च पदवृत्त्याद्यभावात् तादृशशाब्दव्यवहाराऽसङ्गतिरिति वाच्यम् , पदवृत्त्याद्यभावेऽपि दोषविशेषमहिम्ना शब्दादपि तद्बोधसम्भवात्, वेदान्तवाक्याद् निर्दोषत्वमहिम्ना पदवृत्त्यादिकं विनैव वेदान्तिनो निर्गुणब्रह्मबोधवत् ।

भ्रमजनकदोष से इतर एवं प्रतियोगी-तद्व्याप्य से इतर प्रतियोगिग्राहकसामग्रीरूप योग्यता और वह्नि विशिष्ट ह्रदत्व के अनुपलम्भ रहने से वह्निविशिष्टह्रदत्वाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति अनिवार्य होगी । यदि इस दोषके भी परिहार के लिए जिस अधिकरण में जिस प्रतियोगीके अभाव का ग्रहण होता है उस अधिकरण में उस प्रतियोगी के अनुपलम्भ का विघटन करने वाले दोष से इतरत्व का निवेश करेंगे तब, जैसे शंख में पीतत्ववैशिष्ट्य के भ्रम का जनक दोष रहने पर और एतद्देशमें पीतशङ्ख-भ्रम का जनक दोष न रहने पर एतद्देश में पीतशङ्ख के अनुपलम्भ के विघटक दोष से इतर एवं प्रतियोगी-प्रतियोगिव्याप्यइतर प्रतियोगिग्राहक यावत् कारण कलापरूप योग्यता और पीतशङ्ख की अनुपलब्धि से एतद्देशमें पीत शङ्ख का अभाव ग्रहण होता है, उसी प्रकार शृङ्ग में शशवृत्तित्वके भ्रम का जनक दोष रहने पर भी एतद्देश में शशशृङ्ग के भ्रमका जनक दोष न रहने पर एतद्देश में शशशृङ्ग के अनुपलम्भ का विघटन करनेवाले दोषसे अतिरिक्त एवं प्रतियोगी और तद्व्याप्यसे अतिरिक्त प्रतियोगीके ग्राहक यावत्कारण का सन्निधान और शशशृङ्गकी अनुपलब्धि होनेसे एतद्देश में शशशृङ्ग के अभाव का ग्रहण हो सकता है । इस प्रकार प्रतियोगी की अनुपलब्धि के सहकारी रूपमें स्वीकरणीय प्रतियोगिग्राहकयोग्यता की कुक्षिमें दोषेतरत्व का निवेश होने से शृङ्गमें शशवृत्तित्व के भ्रामक दोष रहने परभी अधिकरणभूत अश्वादि में शशशृङ्ग के भ्रमजनक दोष न रहने से अश्वादि में शशशृङ्ग-अभाव के ग्रहण की जनिका शशशृङ्ग की अनुपलब्धि को योग्यता का सन्निधान प्राप्त होनेसे शशशृङ्ग-अभाव का ग्रहण हो सकता है।

[नैयायिक उदयनमत का प्रतिक्षेप]

अत: उदयनाचार्य का यह कथन भी कि-"शृङ्गमें शशवृत्तित्व के ग्राहक दोष से घटित सामग्री ही शशशृङ्ग की योग्यता है। अत: उस योग्यता के रहनेपर शशशृङ्ग का उपलम्भ ही हो जानेसे उस समय शशशृङ्ग का अनुपलम्भ नहीं हो सकता है । और शशशृङ्गके अनुपलम्भ काल में शशशृङ्ग का ग्राहक दोष न होने से योग्यता नहीं रहती। क्योंकि शशशृङ्गग्राहक योग्यता के गर्भ में शशशृङ्ग ग्राहक

---

* शशशृङ्गादियोग्यता शशशृङ्गादिस्थलेऽनुपलब्धियोग्यता 'दुष्टा' दोषघटिता. उपलम्भसामग्री शशशृङ्गोपलम्भस्य भ्रमत्वेन तज्जनकसामग्र्या दोषघटितत्वनियमात् प्रतियोगिग्राहकस्यैवोक्तयुक्त्या योग्यतात्वनिर्वचनात् । 'तस्यां' सत्यां 'नोपलम्भ:'=उपलम्भाभाव इति नास्ति । 'अनुपलम्भने'=अनुपलब्धौ 'सा' पूर्वोक्ता योग्यतैव नास्तीत्यर्थः । तथा च यदा तादृशसामग्री तदा न प्रतियोग्युपलम्भाभाव:, यदि तु न तादृशसामग्री तदा न निरुक्तयोग्यानुपलब्धिरिति न यथा शशशृङ्गाभावसिद्धि: तथा निरुक्तयोग्यानुपलब्धिविरहादीश्वराभावोऽपि न सिध्यतीति भाव: ।

यदाह कविहर्षः—"अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि । अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥" [खंडनखंडखाद्य १-१] इति । न चैवं तदुपलम्भकसामग्र्यादिकल्पने गौरवम् , प्रामाणिकत्वात् । अन्यथा प्रातीतिकपदार्थमात्रविलयापत्तेरिति चेत् ?

न, दोषेतरतदुपलम्भकहेतोरत्राभावात् , आलोक-मनस्कारादेर्भावस्यैवोपलम्भकत्वात् ।

दोष का सन्निवेश है। अत: योग्यानुपलम्भ से शशशृङ्ग के अभाव का ग्रहण असम्भव है।"-यह कथन निर्मूल हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि-'घटादि का अभवन तुच्छ होता है और तुच्छ में किसी पदकी शक्ति अथवा लक्षणारूप वृत्ति नहीं होती है । अत: उसके सम्बन्ध में शाब्द व्यवहार असङ्गत है।' तो यह कहना ठीक नहीं हो सकता है । क्योंकि, पदवृत्ति का अभाव होने पर भी दोषविशेष के प्रभाव से, शब्द से भी घटादि के अभवन का बोध हो सकता है जैसे निर्गुणब्रह्म में किसी भी पदका संकेतादि न होने पर भी निर्दोषत्व के बल से 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्य से निर्गुणब्रह्म का बोध होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैसे इन्द्रिय यद्यपि सन्निकृष्ट अर्थ का ही ग्रहण करती है फिर भी चक्षु द्वारा शङ्ख में असन्निकृष्ट पीलेपन का ग्रह, अपने में रहे हुए पीत्त दोषकी महिमा से [सहयोग से] होता है। एवं शुक्तिगत रजतसादृश्य रूप दोष के बलसे शुक्ति में असन्निकृष्ट रजतत्व का भी ग्रहण नेत्र से होता है। उसी प्रकार पद, वृत्ति से उपस्थाप्य अर्थ का ग्राहक होने पर भी वृत्ति के अयोग्य अर्थ का भी ग्राहक हो सकता है यदि उसे किसी अतिरिक्त सहाय का सन्निधान प्राप्त हो जाए। यही कारण है कि वेदान्तवाक्यघटक सत्यादि पद को निर्गुण ब्रह्म में वृत्ति सम्भव न होने पर भी ब्रह्मगत निर्दोषत्व की सहायता से उसका बोध होता है । तो जैसे वेदान्त वाक्य घटक सत्यादिपद से वृत्ति से अनुपस्थाप्य भी निर्गुण ब्रह्म का बोध होता है उसी प्रकार घटादि के अभवन में पदकी वृत्ति न होने पर भी उसके तुच्छत्व रूप दोषकी सहायता से उसका बोधन हो सकता है । इस मान्यता का मूल अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी गुणधर्म आदि से विशिष्ट होता है उसका शब्द द्वारा बोध होने के लिए उस गुणधर्म विशिष्ट वस्तु में शब्द की वृत्ति अपेक्षित होती है। इसलिए एक गुणधर्म विशिष्ट के बोधक शब्द से अन्य गुणधर्म विशिष्ट पदार्थ का बोध नहीं होता। किन्तु जिस पदार्थ में कोई मुख्य धर्म वैशिष्ट्य नहीं होता है, शब्द द्वारा उसके बोध के लिए उसमें शब्द की वृत्ति अपेक्षित नहीं होती। इसलिए जैसे वेदान्त वाक्य से निर्गुणब्रह्म का बोध सम्भव होता है उसी प्रकार घटाभवन शब्दसे घटादिके अभवनादि तुच्छ *पदार्थ का भी बोध हो सकता है।

* इस पर यह शङ्का हो सकती है कि-"घटाभवन जैसे तुच्छ पदार्थ है उसी प्रकार पटादि का भवन भी तुच्छ पदार्थ है और उसमें भी कोई गुणधर्म वैशिष्ट्य न होनेसे उसके भान के लिए भी शब्द की वृत्ति अपेक्षित नहीं होगी। तब वृत्ति की अपेक्षा का अभाव तुल्य होने पर घटाऽभवन शब्द से जैसे घटाभवन तुच्छ का बोध होता है तो पटाभवन रूप तुच्छ का भी बोध हो जायेगा"-किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि घटाभवन शब्द के साथ घटाभवन रूप तुच्छ के बोध का ही अन्वयव्यतिरेक देखने में आता है पटाभवन रूप तुच्छ के बोध का उसके साथ अन्वयव्यतिरेक देखने में नहीं आता है इसलिए घटाभवन शब्द को केवल घटाभवन रूप तुच्छ का ही बोधक मानना होगा।

शब्दस्थलेऽपि शशशृङ्गमुख्यविशेष्यके नास्तित्वप्रकारकशब्दविकल्प एव तत्तदानुपूर्व्याः सामर्थ्यकल्पनात् । नहि 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यत्र 'शशशृङ्गाभावोऽस्ति' इति कस्यचिद् व्यवहारः किन्तु 'शशशृङ्गमस्तित्वाभाववत्' इत्येव । न च व्यवहारप्रातिकूल्येन कल्पना युक्तिमतीति ॥३३॥

(असत् पदार्थ का भी शब्द से ज्ञान)

श्रीहर्षने भी इस बात का समर्थन किया है कि-शब्द अत्यन्त असत् अर्थ का, जिसमें उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका भी बोधक होता है । अतः निर्गुण ब्रह्म के साथ वेदान्तवाक्यघटक सत्यादि शब्द का कोई सम्बन्ध न होने पर भी शब्दों से उसका बोध हो सकता है। असदर्थ के बोधकी अपेक्षा ब्रह्मविषयक बोध में यह अन्तर है कि जहां असदर्थका बोध अप्रमाणिक होता है वहां ब्रह्म विषयक बोध प्रमा होता है क्योंकि उस बोधका कोई बाधक नहीं है अत एव उसका स्वतःप्रामाण्य अभंग रहता है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का होती है कि-"शशशृङ्ग आदि की योग्यता के शरीरमें यदि दोषेतरत्व का निवेश किया जायेगा तो शशशृङ्ग उपलम्भक दोष से भिन्न भिन्न शशशृङ्ग के उपलम्भक हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी अतः गौरव है"-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रामाणिक होनेसे यह गौरव दोष रूप नहीं है । यदि इस गौरव का स्वीकार नहीं किया जायेगा तो प्रातीतिक पदार्थों की प्रातीतिकता का उपपादन न हो सकेगा अर्थात् 'उनकी केवल प्रतीति ही होती है-अस्तित्व नहीं होता' इस बात का उपपादन नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रातीतिकता के उपपादन के लिए उनके अभाव का ग्रहण आवश्यक है । यदि उसके अभाव का ग्रहण नहीं होगा, तो यह कहना कठिन होगा कि 'उसकी केवल प्रतीति ही होती है, अस्तित्व नहीं होता ।' और जब उसके अभाव का ग्रहण मानना आवश्यक है तो उसके लिए प्रतियोगी की योग्यता माननी होगी । वह योग्यता दोष घटित मानी जायेगी तो प्रतियोगी का ही उपलम्भ होगा किन्तु अभाव का ग्रहण नहीं होगा। अतः दोष से इतर उसके उपलम्भक कारणों को ही योग्यता मानना होगा और यह तभी सम्भव हो सकता है जब दोष से अतिरिक्त भी उसके उपलम्भ का हेतु माना जाय। इस प्रकार प्रातीतिक पदार्थों के, दोष से इतर भी उपलम्भहेतु प्रामाणिक होने से उक्त हेतु की कल्पना का गौरव दोष नहीं माना जा सकता।

[धर्मकीर्ति का प्रत्युत्तर]

इस सम्बन्ध में बौद्ध का यह कहना है कि-योग्यता के शरीर में दोषेतरत्व का निवेश करके शशशृङ्ग की अनुपलब्धि के काल में शशशृङ्ग की योग्यता का उपपादन कर जो शशशृङ्गाभाव के ग्रहण की उपपत्ति की गई है वह युक्तिसङ्गत नहीं है । क्योंकि दोष से भिन्न शशशृङ्ग का कोई उपलम्भक ही नहीं है। आलोक-संस्कार आदिको उसका उपलम्भक नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें भाव पदार्थ-सद्वस्तु की ही उपलम्भकता सिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि-'शशशृङ्ग नास्ति' इस शब्द से शशशृङ्गाभाव का ग्रहण हो सकेगा, क्योंकि अभाव के शाब्दबोधात्मक ज्ञानमें प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित नहीं होती-तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि 'शशशृङ्ग नास्ति' इस वाक्य की आनुपूर्वी में शशशृङ्ग मुख्य विशेष्यक अस्तित्वाभावप्रकारक शाब्दबोधात्मक विकल्प प्रतीति की ही कारणता मानी जाती है। क्योंकि 'शशशृङ्ग नास्ति' इस वाक्य से उत्पन्न बोध का 'शशशृङ्गाभावोऽस्ति' इस

एवं समर्थिते स्वमते परः स्वयमेव प्रसङ्गदोषं परिहरन्नाह–

मूलम्-एतेनाऽहेतुकत्वेऽपि ह्यभूत्वा नाशभावतः ।
सत्त्वाऽनाशित्वदोषस्य प्रत्याख्यातं प्रसञ्जनम् ।।३४।।

एतेन=नाशस्य विधिव्यवहाराऽविषयत्वप्रतिपादनेन, नाशस्याऽहेतुकत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे हि=निश्चितम् अभूत्वा=प्रथममभवनरूपेणोत्पद्य, नाशभावतः=अनन्तरं भावरूपतया नाशोत्पत्तेः, सत्त्वानाशित्वदोषस्य=अङ्कुरादिवत् सत्त्वोन्मज्जनरूपस्यानिष्टस्य, प्रसञ्जनम्= आपादानम् , प्रत्याख्यातं=निराकृतम् ।।३४।।

एतद् धर्मकीर्तिनोक्तम् , तच्च सर्वं 'सतोऽसत्त्वे'० (का० १२) इत्यादिनेह दूषितमेव, तथापि 'एतेन' इत्यादि योजयन्नाह–

मूलम्-प्रतिक्षिप्तं च यत्सत्त्वानाशित्वागोऽनिवारितम् ।
तुच्छरूपा तदाऽसत्ता भावाप्तेर्नाशितोदिता ।।३५।।

शब्दों से व्यवहार नहीं होता किन्तु 'शशशृङ्ग' अस्तित्वाभाववत्' ऐसा ही व्यवहार होता है । और व्यवहार के प्रतिकूल कोई कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं होती ।।३३।।

[नष्ट भाव के उन्मज्जन की आपत्ति का प्रतिकार]

३४ वीं कारिका में यह बात बतायी गई है कि धर्मकोत्ति ने उक्त प्रकार से अपने मत का समर्थन कर के बौद्ध सिद्धान्त में प्रसक्त होने वाले दोष का स्वयं ही परिहार किया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

'नाश विधिव्यवहार का विषय नहीं हो सकता' इस तथ्य का प्रतिपादन कर देने से 'नाश अहेतुक होता है, इसलिए अपने प्रतियोगी के उत्पत्ति क्षण में ही उत्पन्न हो जाता है' इस बौद्ध सिद्धान्त में जो प्रतिवादीयों द्वारा अनिष्टापादन होता है उसका निराकरण हो जाता है । आशय यह है कि-नाश को अहेतुक मानने पर प्रतिवादी द्वारा बौद्ध मतमें यह अनिष्टापादन किया जाता है कि पूर्वक्षण में उत्पन्न का द्वितीयक्षण में अभवन-असत्त्व उत्पन्न होगा और उसके अनन्तर भाव रूप नया उसका नाश उत्पन्न होगा । क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसका नाश अवश्य होता है । फलत: पूर्वक्षण में उत्पन्न होने वाले भाव के नाश का अभाव हो जायगा जिससे उस भाव के उन्मज्जन-पुनर्दर्शन-पुनः अस्तित्व रूप अनिष्ट की आपत्ति होगी । पूर्वभाव के असत्त्व का नाश होनेपर उसका पुनरुन्मज्जन उसी प्रकार प्रसक्त होगा जैसे बीजका नाश होने पर अङ्कुर का उन्मज्जन होता है ।' किन्तु उक्त रीतिसे जब यह तथ्य स्फुट कर दिया गया कि नाश अर्थात् पूर्वक्षणमें होनेवाले भाव का द्वितीयक्षणमें असत्त्व तुच्छ होने से विधिव्यवहार का विषय नहीं है, तो फिर भावरूप में उसकी उत्पत्ति की कल्पना नहीं हो सकती ।।३४।।

प्रतिक्षिप्तं चैतत्, यद्=यस्मात्, सत्त्वानाशित्वागः=भावोन्मज्जनापराधः अनिवारितम्=अतस्तदवस्थ एव। कथम्? इत्याह-तुच्छरूपा=निःस्वभावात्मिका, तदा=द्वितीयक्षणे असत्ता, तस्या नाशिता निवृत्तिः, भावाप्तेः=सत्त्वरूपप्रवेशात्, उदिता=प्राक् प्रसञ्जिता ॥३५॥ ननूक्तं 'अभावे विकल्पाभावाद् न प्रसङ्गः' इत्यत्राह-

मूलम्-भावस्याभवनं यत्तदभावभवनं तु यत्।
तत्तथाधर्मके ह्युक्तविकल्पो न विरुध्यते ॥३६॥

भावस्याभवनं यत्=तुच्छरूपं तत्=तदेव अभावभवनम्, आर्थप्रत्ययाऽविशेषात्, 'घटो नास्ति' इत्यतो घटाऽस्तित्वाऽभावबोधवद् घटाऽभावेऽस्तित्वबोधस्याऽप्यानुभविकत्वात्, उभयथापि संशयाऽभावात्, तात्पर्यभेदेनोभयोपपत्तेश्च।

(धर्मकीर्तिमत का प्रतिक्षेप प्रारम्भ)

३५ वीं कारिका में यह बताया गया है कि "धर्मकीर्ति ने जो कुछ कहा है उस सबका 'सतोऽसत्त्वे' इस १२ वीं कारिका में खण्डन कर दिया है। फिर भी ३४ वीं कारिका में पूर्वभाव के असत्त्व की निवृत्ति होने पर पूर्वभाव का पुनः उन्मज्जन रूप अनिष्ट प्रसङ्ग के निराकरण की जो बात कही गई है उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती।" कारिका का अर्थ इस प्रकार है-सत्त्व के अनाशित्व का अर्थात् पूर्वक्षरणमें उत्पन्न भाव के द्वितीयक्षणमें होनेवाले नाश का अभाव अर्थात् तृतीयक्षण में भाव के पुनरुन्मज्जन का जो अनिष्टापादन बताया गया है, वह धर्मकीर्ति द्वारा प्रदर्शित रीति से भी निवारित नहीं होता। अतः वह दोष यथापूर्व बना रहता है, क्योंकि पूर्वक्षणोत्पन्न भाव का द्वितीयक्षणमें जो तुच्छ असत्त्व उत्पन्न होता है, भावकी प्राप्ति=उत्पत्ति होने के कारण उसकी भी नाशिता अर्थात् निवृत्ति की आपत्ति उद्भावित की गई है जिससे द्वितीय क्षणमें विनष्ट पूर्वभाव का अग्रिम क्षणमें उन्मज्जन अपरिहार्य हो जाता है ॥३५॥

[अभाव में विकल्प के असंभव कथन का प्रतिकार]

'अभाव के तुच्छ होने से उसमें उसके भवन-उत्पत्ति आदि का विकल्प सम्भव न होने के कारण उक्त अनिष्ट प्रसङ्ग नहीं हो सकता' इस प्रकार बौद्ध द्वारा स्मरण कराये गये पूर्वोक्त तर्क का ३६ वीं कारिका में निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

भाव का जो तुच्छ अभवन होता है वही अभाव का भवन है। क्योंकि 'भावो न भवति' और 'अभावो भवति' इन दोनों वाक्यों से उत्पन्न होने वाले अर्थबोध में कोई भेद नहीं होता। जैसे 'घटो नास्ति' इस वाक्य से घट में अस्तित्वाभाव का बोध होता है उसी प्रकार घटाभाव में अस्तित्व का बोध भी उस वाक्य से अनुभव सिद्ध है। क्योंकि 'घटो नास्ति' इस वाक्य जन्य बोध के बाद जैसे 'घटः अस्ति न वा' इस संशय की निवृत्ति होती है उसी प्रकार 'घटाभावः अस्ति न वा' इस संशय की भी निवृत्ति होती है।-'घटो नास्ति' इस एक ही वाक्य से घटमें अस्तित्वाभाव के और घटाभाव में अस्तित्व के द्विविध बोध की उपपत्ति नहीं हो सकती-यह शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि तात्पर्य-

यत्तु-'भूतले घटो नास्तीत्यादौ सप्तम्या निरूपितत्वमर्थः, धातोराधेयत्वम्, तथा च भूतलनिरूपितवर्तमानाधेयत्वाश्रयत्वाभावस्यैव घटादावन्वयः, तथैव सुप्-तिङोर्वचनैक्यनियमोपपत्तेः। यदि च 'गगनमस्ति' इत्यादौ कालसम्बन्ध एव 'अस्' धात्वर्थः, तदा सप्तम्यर्थोऽवच्छिन्नत्वमस्त्यर्थेऽन्वेति, 'घटे मेयत्वमस्ति' इत्यादौ तु मेयत्वनिष्ठकालसम्बन्धस्यानवच्छिन्नत्वेन बाधात् सप्तम्या वृत्तित्वमात्रमर्थ इति न दोषः। अन्यथा तु-भवनाद् निर्गते घटे 'भवने घटोऽस्ति' इति, भवनस्थे च घटे 'भवने घटो नास्ति' इति व्यवहारप्रामाण्यापत्तिः, भवनवृत्तिघटस्य भवनवृत्तिघटाभावस्य च क्वचित् सत्त्वात्। न च 'जातौ न सत्ता' इत्यत्रान्वयानुपपत्तिः, जातिसमवेतत्वस्याऽप्रसिद्धत्वात्, संबन्धान्तरेण जातिवृत्तित्वस्य च सत्तायां सत्त्वादिति वाच्यम्; एकार्थसमवायादिभिन्नसम्बन्धेन वृत्तित्वे सप्तम्या निरूढलक्षणास्वीकारात्' इति केषाञ्चिद् नैयायिकानां मतम्-तदसत्, 'भूतले न घटः' इत्यादौ द्विविधबोधस्यैवानुभवसिद्धत्वात्, भवननिर्गते घटादौ कथञ्चिद् घटादिपृथग्भूताधेयत्वपर्यायविगमेनानुपपत्त्यभावात्, विशिष्टेऽस्तित्वान्वये विशेषणेऽपि तदन्वयात्, अन्यथा पाकरक्ततादशायां 'श्यामो घटोऽस्ति' इति धीप्रसङ्गात्। किञ्च, एवं 'वृक्षे न संयोगः' इति व्यवहारो न प्रमाणं स्यात्, संयोगस्य वृक्षवृत्तित्वाऽभावाऽभावात्, संयोगाभावस्य वृक्षवृत्तित्वान्वये तु नानुपपत्तिः, अवयव्यमेदं देशवृत्तित्वं स्वादाय तथाविधव्यवहारप्रवृत्तेः, इति व्युत्पादितं नयरहस्ये।

भेदसे दोनों की उपपत्ति हो सकती है। अर्थात् 'घटो नास्ति' इस वाक्य का घटनिष्ठ अस्तित्वाभाव के बोध में तात्पर्य ज्ञान होने पर घट में अस्तित्वाभाव का बोध और घटाभाव निष्ठ अस्तित्व के बोध में तात्पर्य का ज्ञान रहने पर घटाभाव में अस्तित्व का बोध भी हो सकता है।

[कुछ नैयायिक अभिमत सप्तम्यर्थ निरूपितत्व--पूर्वपक्ष]

इस सम्बन्ध में नैयायिकों का यह कहना कि-'भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य में सप्तमी का अर्थ है निरूपितत्व, उसका अन्वय होता है 'अस्' धात्वर्थ आधेयता में, और आधेयता का अन्वय होता है तिङ्अर्थ आश्रयता में, उसीमें तिङ् के दूसरे अर्थ वर्तमानत्व का अन्वय होता है, और अभाव का घटमें अन्वय होता है, इस प्रकार उक्त वाक्य से 'घटः भूतलनिरूपितवर्तमानाऽऽधेयताऽऽश्रयत्ववान्' यह बोध होता है। ऐसा मानने पर ही घट पदोत्तर सुप् और अस् धातु के उत्तर तिङ् उभय के समानवचनकत्व के नियम की उपपत्ति होगी। क्योंकि यह नियम है कि जिस सुबन्तपद से उपस्थाप्य अर्थ में जिस तिङन्त उपस्थाप्य अर्थ का अन्वय होता है, उस सुप् और तिङ् में समानवचनकत्व का नियम होता है। यदि उक्त वाक्य से इस प्रकार का बोध न मानकर 'घटाभावः भूतलनिरूपितवर्त्तमानाधेयताश्रयतावान्' ऐसा बोध माना जायेगा तो 'भूतले घटो न सन्ति' इत्यादि वाक्यमें भी साधुत्व की

आपत्ति होगी। क्योंकि घटपद और अस्ति पद में समानवचनकत्व का कोई नियामक न होगा। यदि 'गगनमस्ति' इस वाक्यमें गगन प्रवृत्ति पदार्थ होने से अस् धातुका आधेयत्व अर्थ न मानकर 'कालसम्बन्ध' रूप ही अर्थ माना जाय, तो भूतले घटो नास्ति' इस वाक्य में सप्तमी का अवच्छिन्नत्व अर्थ स्वीकार कर कालसम्बन्ध रूप अस् धात्वर्थ में इसका अन्वय होगा। 'घटे मेयत्वं अस्ति' इस वाक्य में तो सप्तमी का आधेयत्व ही अर्थ मानना उचित हो सकता है क्योंकि मेयत्व में कालसम्बन्ध व्याप्यवृत्ति होता है। अत एव उसमें अवच्छिन्नत्व बाधित हो जाता है । अवच्छिन्नत्व रूप सप्तम्यर्थ का बाध होने पर ही सप्तमी का वृत्तित्व अर्थ मानना उचित होगा। जहां अवच्छिन्नत्वरूप अर्थ का बाध नहीं है वहां अवच्छिन्नत्वरूप अर्थ ही करना होगा । अन्यथा, सर्वत्र सप्तमी का वृत्तित्वार्थ मानकर यदि उसका प्रथमान्त अर्थ में अन्वय किया जायगा तो किसी भवन से घट बाहर हो जाने पर भी 'भवने घटः अस्ति' एवं पूर्व कालमें भवनमें अविद्यमान घट वर्तमान में भवनवर्त्ती होने पर 'भवने घटो नास्ति' इस व्यवहार में प्रामाण्य की आपत्ति होगी क्योंकि घटमें पूर्व वाक्य से भवनवृत्तित्व और कालसम्बन्धरूप अस्तित्व का बोध होता है और वह दोनों ही घटमें विद्यमान है। और दूसरे वाक्य में घटाभाव में भवनवृत्तित्व और कालसम्बन्ध का बोध होता है और वे दोनों भी घटमें विद्यमान है।

यदि यह कहा जाय कि-'ऐसा मानने पर 'जाती न सत्ता' इस वाक्य से अन्वय बोध न हो सकेगा। क्योंकि सत्तामें जातिसमवेतत्व का अभाव मानने पर अप्रसिद्धि होगी । क्योंकि समवेतत्व-समवायावच्छिन्नवृत्तिता जातिनिरूपित नहीं होती और जातिनिरूपित वृत्तित्वसामान्याभाव का बोध मानने पर बाध होगा। क्योंकि सत्तामें किसी न किसी सम्बन्ध से तो जातिनिरूपितत्व होता है । अत एव जातिनिरूपितत्वसामान्याभाव उसमें बाधित है ।'-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त वाक्य में जातिपदोत्तर सप्तमी विभक्ति की निरूढलक्षणा 'स्वसमवायिसमवाय आदि सम्बन्ध से भिन्न जो सम्बन्ध तदवच्छिन्नवृत्तिता' रूप अर्थ में है । अतः स्वसमवायिसमवायादि सम्बन्ध से भिन्न स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न जातिनिरूपितवृत्तिता घटाभावादि में प्रसिद्ध है । अतः सत्ता में उसके अभाव का बोध मानने से 'जातौ न सत्ता' इस वाक्य से भी अन्वय बोध की उपपत्ति हो सकती है।

(सप्तम्यर्थसम्बन्धी नैयायिक मत प्रतिक्षेप)

किन्तु विचार करने पर नैयायिक का यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'भूतले न घटः' इस वाक्य से 'घटः भूतलवृत्तित्वाभाववान्' और घटाभावः भूतलनिरूपितवृत्तितावान्' इन दोनों प्रकार का बोध अनुभव सिद्ध है।- "उक्त वाक्य से दोनों प्रकार के बोध मानने पर-'भवने घटोऽस्ति' इस वाक्य से भी घटमें भवननिरूपिताधेयत्व का बोध होनेसे उक्त वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति होगी"- यह शङ्का नहीं की जा सकती। क्योंकि घटमें भूतल निरूपित आधेयता कथञ्चित् घटसे भिन्न होती है। और जब घट भवन से बाहर होता है तब घटका वह भूतलनिरूपिताधेयता रूप पर्याय नष्ट हो जाता है। अतः उक्त व्यवहार में अप्रामाण्य की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि भूतलनिरूपिताधेयताविशिष्ट घटमें अस्तित्व का अन्वय करने पर भूतलनिरूपिताधेयता का विलय हो जाने के कारण उसमें तत्कालमें अस्तित्व बाधित है। विशिष्टमें अस्तित्व का अन्वय होने पर विशेषण में भी अन्वय मानना आवश्यक है, अन्यथा जिस समय घट पाक से रक्त हो जाता है उस समय भी 'श्यामो घटोऽस्ति' इस बुद्धि की आपत्ति होगी। क्योंकि घट में श्याम रूप भी रह चुका है और अस्तित्व उस कालमें भी है अत एव घटमें श्यामरूप और अस्तित्व के बोधका कोई बाधक नहीं है।

अपि च 'जातौ न सत्ता' इत्यत्रापि न सुष्ठु समाधानम्, 'जातौ समवायेन सत्ता न वा' इत्यादिप्रश्नाऽनिवृत्तेः ।

अथात्र सप्तम्यर्थो निरूपितत्वं समवेतत्वं च, तथा च 'जातिनिरूपितत्वाभाववत्समवेतत्ववती सत्ता' इति बोधः, अन्यथा 'जातिघटयोर्न सत्ता' इत्यादौ का गतिः ? सत्ताभावस्योभयत्वपर्याप्त्यधिकरणाऽवृत्तित्वात्, उभयत्वाधिकरणवृत्तित्वान्वये च 'पृथिवी-तद्भिन्नयोर्न द्रव्य-

---

(जाति में समवायसम्बन्ध से सत्ता का संशय तदवस्थ)

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि 'भूतले न घटः' इस वाक्य से प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक ही बोध माना जायगा तो 'वृक्षे न संयोगः' इस वाक्य से भी संयोग में वृक्षवृत्तित्व के अभाव का ही बोध मानना पड़ेगा फलतः वह वाक्य अप्रमाण हो जायेगा । क्योंकि संयोग में वृक्षवृत्तित्व विद्यमान है और वृत्तित्व व्याप्यवृत्ति होता है इसलिए संयोगमें वृक्षवृत्तित्वाभाव नहीं रहता । और, जब संयोगाभाव में वृक्षवृत्तित्व का अन्वय मानेंगे तब 'वृक्षे न संयोगः' इस वाक्य में प्रामाण्य की अनुपपत्ति न होगी क्योंकि वृक्षरूप अवयवी की अभिन्नता एवं संयोग और संयोगाभाव में वृक्ष के विभिन्न देश की वृत्तिता को लेकर 'वृक्षे संयोगः' और 'वृक्षे न संयोगः' इन दोनों प्रामाणिक व्यवहारों की उपपत्ति हो सकती है । यह बात उपा॰ यशोविजयनिर्मित नयरहस्य नामक ग्रन्थ में विशेष स्पष्ट की गई है ।

यह भी द्रष्टव्य है कि 'जातौ न सत्ता' इस स्थल में जो नैयायिक ने समाधान किया वह भी समीचीन नहीं है । क्योंकि उस वाक्य से उन्होंने सत्ता में एकार्थसमवायादि भिन्न सम्बन्धावच्छिन्न जातिवृत्तित्वाभाव का बोध माना । उस बोध से सत्तामें एकार्थसमवायादिभिन्न सम्बन्ध से जातिवृत्तित्व की शङ्का की अर्थात् एकार्थसमवायादिभिन्न सम्बन्ध से 'जातौ सत्ता न' इस संशय की निवृत्ति हो सकती है किन्तु "जातौ समवायेन सत्ता न वा" इस संशय की निवृत्ति न होगी, क्योंकि वह संशय समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितात्वरूपसे समवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वको विषय करता है । इसलिए इस संशय के प्रति समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव का निश्चय ही प्रतिबन्धक हो सकता है न कि एकार्थसमवायादिभिन्नसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितात्वावच्छिन्नाऽभाव का निश्चय । क्योंकि तद्धर्मावच्छिन्न प्रकारताक बुद्धि में तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावनिश्चय ही प्रतिबन्धक होता है । अतः "जातौ न सत्ता" इस निश्चय से "जातौ समवायेन सत्ता न वा" इस संशय की निवृत्ति का उपपादन अशक्य होगा ।

(सप्तमी का अर्थ निरूपितत्व और समवेतत्व-नव्यपरिष्कार)

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाए कि 'जातौ न सत्ता' इस वाक्यमें सप्तमी के दो अर्थ हैं, निरूपितत्व और समवेतत्व । इन दोनों में से निरूपितत्व का नञर्थअभाव के साथ अन्वय होता है और अभाव का समवेतत्व के साथ अन्वय होता है तथा समवेतत्व का सत्ता में अन्वय होता है इस प्रकार उक्त वाक्य से 'जातिनिरूपितत्वाभाववत्समवेतत्ववती सत्ता' ऐसा बोध होता है । इस बोध के होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि जातिनिरूपितत्वाभाववत् द्रव्यसमवेतत्वादि सत्ता में है । यदि यह व्यवस्था न मान कर सत्ताभावमें ही जातिनिरूपितत्व का अन्वय माना जायेगा तो 'जातिघटयोर्न सत्ता' इस स्थल में शाब्दबोध की उपपत्ति न हो सकेगी । क्योंकि सत्ता में घटवृत्तित्व रहने के कारण जाति-

त्वम्' इत्यस्याप्यापत्तेः । न चैवं 'संयोगेन भवने न घटः' इति स्यात् , भवनावृत्तिप्राङ्गणादि-संयोगवैशिष्ट्यस्य घटे सत्त्वादिति वाच्यम् , घटान्वयिसंयोगत्वावच्छेदेन भवनाऽवृत्तित्वस्या-न्वय एव तथा व्यवहारात् । प्रकारतया तथाभानाऽसंभवेऽपि तदवच्छिन्नसंयोगस्य संसर्ग-मर्यादया भानात् । तथैव साकाङ्क्षत्वात् , 'जातौ समवायेन न गगनम्' इत्यादौ च नञ उभयत्र सम्बन्धात् जातिवृत्तित्वाभाववत्समवायवैशिष्ट्याभाववद् गगनमित्यर्थः इत्यस्मन्मतपरिष्कार इति चेत् ?

घटोभयवृत्तित्वाभाव अर्थात् 'जातिघटोभयत्व' का पर्याप्तिसम्बन्ध से अधिकरणभूत जाति-घटोभय-निरूपितवृत्तित्व में ही रहता है । यदि इस दोष के निवारण के लिए उक्त वाक्य से सत्ताभावमें जातिघटोभयत्वपर्याप्त्यधिकरण के अवृत्तित्व का बोध माना जायेगा तो जाति-घटोभयत्व' का अधिकरण जातिनिरूपितवृत्तित्व सत्ताभाव में रहने से उक्त वाक्य स्थल में अन्वय बोध की उपपत्ति सम्भव होने पर भी 'पृथ्वीतद्भिन्नयोर्न द्रव्यत्वम्' इस वाक्य में प्रामाण्य की प्रापत्ति होगी क्योंकि पृथ्वीतद्भिन्नोभयत्व का अधिकरण गुणादि से निरूपित वृत्तित्व द्रव्यत्वाभाव में रहता है । अतः द्रव्य-त्वाभाव में पृथ्वीतद्भिन्नोभयत्वाऽधिकरणनिरूपित वृत्तित्व बोध के यथार्थ होने से उक्त वाक्य में प्रामाण्य की उपपत्ति हो सकती है । यदि यह शङ्का की जाय कि–"इस प्रकार की व्यवस्था मानने पर भवनस्थ घटमें 'संयोगेन भवने न घटः' इस प्रयोग में प्रामाण्यापत्ति होगी क्योंकि उक्त व्यवस्था के अनुसार इस वाक्य से भवनाऽवृत्तिसंयोगवैशिष्टयवान् घटः' यही बोध होगा, और यह बोध प्रमा है । क्योंकि भवनमें अवृत्तिघटप्राङ्गण का संयोग घट के प्राङ्गणस्थ होने के समय घट में रहता है । अत एव इस बोध के किसी भी अंश में अयथार्थ न होने से इस बोध के जनक 'संयोगेन भवने न घटः' इस वाक्य के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि घटान्वयिसंयोग-त्वावच्छेदेन भवनाऽवृत्तित्व का अन्वय होने पर ही 'संयोगेन भवने न घटः' यह व्यवहार मान्य है । अतः घटान्वयी संयोग परिधि में आने वाले घट-भवन का संयोग भवनाऽवृत्ति न होने से घटान्वयिसंयोग-त्वावच्छेदेन भवनावृत्तित्व का अन्वय सम्भव न होने के कारण उक्त व्यवहार में प्रामाण्यापत्ति नहीं हो सकती । इस मान्यता पर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि उक्त वाक्य में किसी भी शब्द से घटान्वयी संयोगत्व उपस्थित नहीं है, अत एव भवनाऽवृत्तित्वरूप प्रकार में घटाऽन्वयिसंयोगत्वव्या-पकत्वस्वरूप घटान्वयिसंयोगत्वावच्छिन्नत्व का भान नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त वाक्य जन्य बोध में संयोगमें भवनावृत्तित्व का अन्वय घटान्वयिसंयोगत्व व्यापक भवनाऽवृत्तित्व प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्ध से मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सम्बन्ध की कुक्षि में घटाऽवृत्तिसंयोगत्व-व्यापकत्व का संसर्गमर्यादा से भान मानने में उसकी अनुपस्थिति बाधक नहीं हो सकती, कारण यह है कि संसर्ग अथवा संसर्गघटक पदार्थ के भान में संसर्ग और संसर्गघटक पदार्थ की उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती । संयोगेन भवने न घटः' इस वाक्य को घटान्वयिसंयोगत्वावच्छेदेन भवनाऽवृत्तित्व के अन्वय बोध में साकांक्ष मानने से उक्त वाक्य से ऐसे बोध के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

उक्त प्रकार की व्यवस्था स्वीकार करने पर 'जातौ समवायेन न गगनम्' इस वाक्य से अन्वय बोध की अनुपपत्ति की आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि नञ् का 'जातौ' और 'समवायेन' दोनों

न, नञ उभयत्र संबन्धेन गच्छत्यपि चैत्रे 'न गच्छति' इति प्रयोगयोग्यतापादनस्य तात्पर्यसत्त्वे इष्टापत्त्या निराससंभवेऽपि 'जातौ समवायेन न गगनजाती' इत्यस्यानुपपत्तेः, गगनजात्युभयत्वावच्छेदेन जातिवृत्तित्वाभाववत्समवायवैशिष्ट्याभावाभावात्; द्वित्वसामानाधिकरण्येन तद्बोधे च 'घटे सत्ता तद्भिन्नजाती न स्तः' इत्यस्यापि प्रसङ्गात्। एवं च 'ह्रद-पर्वतयोर्न वह्निः' 'शिखरविशिष्टे पर्वते न वह्निः' इत्यादि प्रतीत्या व्यासज्यवृत्तिविशिष्टधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकाभावाभ्युपगमेन घटवत्यपि 'घटपटौ न स्तः' इत्यस्य 'गुणे न गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता' इत्यस्य चोपपादनेऽपि न निर्वाह इति दिक्। वस्तुतः श्रुतज्ञानस्थलीयक्षयोपशमपाटवात् समनियतपर्यायाणामेकतरभानेऽन्यतरभानमप्यावश्यकम्, इति सिद्धं भावाऽभवनभानेऽभावभवनभानम्॥

के साथ सम्बन्ध मान कर जातिवृत्तित्वाभाववत् समवायवैशिष्ट्याभाव का गगन में बोध माना जा सकता है। अतः नैयायिक का यह मत ठीक ही है कि सप्तम्यन्त पद एवं नञ् पद घटित वाक्य से प्रथमान्त पदार्थ में सप्तम्यन्तपदार्थ निरूपित वृत्तित्वाभाव का ही बोध होता है न कि प्रथमान्तपदार्थ के अभाव में सप्तम्यन्त पदार्थ निरूपित वृत्तिता का"।—

[नव्य मत में नवीन अनुपपत्तियां]

किन्तु व्याख्याकार के कथनानुसार यह नैयायिक मत असङ्गत प्रतीत होता है। क्योंकि जिस समय चैत्र गमन कर रहा है उस समय 'चैत्रो न गच्छति' इस प्रयोग की आपत्ति हो सकती है। क्योंकि नञर्थ का दो बार भान मानने पर चैत्र में गमनानुकूल कृति-अभाव के बोध के तात्पर्य से उक्त वाक्य का प्रयोग सर्वथा सम्भव है। क्योंकि जिस समय चैत्र केवल गमन करता है और कोई कार्यान्तर नहीं करता उस समय उसमें गमनानुकूल कृति का अभाव अक्षुण्ण होता है। यदि यह कहा जाए-उक्त प्रकार के बोध में वक्ता का तात्पर्य रहने पर गमनकर्ता चैत्र में 'चैत्रो न गच्छति' इस प्रयोग की सम्भावना इष्ट है अतः इस प्रकार की आपत्ति का उद्भावन उचित नहीं है, तो भी इस पक्षका समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर "जातौ समवायेन न गगनजाती" इस प्रयोग की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि जाति में जातिनिरूपितत्वाभाववत्समवाय का वैशिष्ट्य रहने से गगन-जाति उभय में तादृशोभयत्वावच्छेदेन जातिनिरूपितत्वाभाववत् समवायवैशिष्ट्याभाव नहीं रहता। और यदि इस वाक्य की उपपत्ति के लिए गगन-जाति उभय में द्वित्वसामानाधिकरण्येन उक्त वैशिष्ट्याभाव माना जायेगा तो घटे 'सत्तातद्भिन्नजाती न स्तः' इस प्रयोग की आपत्ति होगी। क्योंकि सत्ता-तद्भिन्नजाति गत उभयत्व के आश्रय पटत्वादि जाति में घटसमवेतत्व का अभाव रहता है। अतः उक्त बोध के यथार्थ होनेसे उक्त वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति होगी। जब कि सत्ता और सत्ताभिन्न घटत्वादि जाति में घटसमवेतत्व के रहने से उक्त वाक्य का प्रामाण्य इष्ट नहीं है। केवल घटाधिकरण देश में अत्र 'घटपटौ न स्तः' यह प्रयोग होता है एवं 'गुणे न गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता' यह भी प्रयोग होता है। किन्तु इसकी उपपत्ति भी 'घटपटोभयत्वावच्छेदेन एतद्देशवृत्तित्वाभाव' एवं

ननु न भावाऽभवनमेवाऽभावभवनं, यत्र कदापि न घटस्तत्र तदभवनेऽपि तदभावाऽभवनादिति चेत् ? दर्वीकरवदनादयममृतोद्गारः येन स्वयमेव तुच्छत्वेऽप्यनुभवेन गले हीतो ऽत्यन्ताभावाद् नाशं विशेषयसि । तदिदमाह-यद्=यस्मादेवम् , तत्=तस्मात् , तथाधर्मके= ज्ञेयत्वादिस्वभावे, तस्मिन्=अभवने, हि=निश्चितम् , उक्तविकल्पः=तत्त्वा-ऽन्यत्वलक्षणः

गुणकर्मान्यत्व और सत्ता उभयत्वावच्छेदेन गुणवृत्तित्वाभाव का बोध मानकर नहीं की जा सकती। क्योंकि घटमें घटवद्देशनिरूपितवृत्तित्व होने से एतद्देशवृत्तित्वाभाव में घटपटोभयत्वावच्छेद्यत्व एवं सत्ता में गुणवृत्तित्व होने से गुणकर्मान्यत्व और सत्ता उभयत्वावच्छेदेन अथवा सत्तात्वावच्छेदेन गुणवृत्तित्वाभाव नहीं रहता।

यद्यपि 'ह्रद-पर्वतयोर्न वह्निः' इस बोध के एवं 'शिखरविशिष्टे पर्वते न वह्निः' इस बोध के प्रामाण्य के सर्व सम्मत होने से प्रतियोगी के अधिकरण में भी व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकाभाव और विशिष्टधर्मावच्छिन्नाधिकरणताकाभाव माना जाता है, अतः घटवाले देश में 'घटपटौ न स्तः' इस वाक्य की और 'गुणे न गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता' इस वाक्य की उपपत्ति की जा सकती है तथापि 'संयोगेन भवने न घटः' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति का परिहार करने के लिए 'घटान्वयिसंयोगत्वावच्छेदेन भवनावृत्तित्व' और 'जातौ समवायेन न गगनम्' इस वाक्य के प्रामाण्य की उपपत्ति के लिए नञर्थ का द्विधा भान मानने पर जो 'जातौ समवायेन न गगनजाती' इस वाक्य के प्रामाण्य की अनुपपत्ति, अथवा 'घटे सत्ता-तद्भिन्नजाती न स्तः' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति का उद्भावन किया गया है उसका परिहार नहीं हो सकता। इसलिए 'भूतले न घटः' इत्यादि वाक्य से 'भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः' और 'घटाभावः भूतलवृत्तितावान्' इस प्रकार द्विविध बोध मानना ही उचित है। इस प्रकार 'भावो न भवति' इस वाक्य से 'अभावो भवति' इस बोध का जो सम्भव बताया गया है वह सर्वथा उचित है।

सच बात तो यह है कि श्रुतज्ञान के प्रयोजक क्षयोपशम की पटुता से समनियत पदार्थों में एक का भान होने पर अन्य का भान होना भी आवश्यक है। अतः भाव के अभवन का भान होने पर अभाव के भवन का भान अनिवार्य है । क्योंकि भावका अभवन और अभाव का भवन ये दोनों ही पूर्वक्षणवर्त्ती भाव के समान पर्याय है।

(भाव का अभवन और अभावभवन के ऐक्य में शंका)

बौद्ध की ओर से यदि कहा जाय कि-"भाव का अभवन ही अभाव का भवन नहीं हो सकता। क्योंकि जहां कभी भी घट उत्पन्न नहीं हुआ वहां घटका अभवन तो होता है। किन्तु वहां घटाभाव का भवन नहीं होता है" तो यह कथन सर्प की जिह्वा से अमृत के उद्गार निकलने समान है। क्योंकि बौद्ध स्वयं नाश को तुच्छ मानने पर भी अत्यन्ताभाव और नाश के विलक्षण अनुभव से गला पकड़ जाने के कारण नाश को अत्यन्ताभाव से भिन्न बता रहा है। इसी बातको प्रस्तुत ९६ वीं कारिका के उत्तरार्ध में निष्कर्ष के साथ प्रस्तुत किया गया है-

न विरुध्यते, तुच्छतयाऽत्यन्ताऽभावतुल्यत्वेऽपि कादाचित्कत्वेन भावतुल्यत्वात् ; अन्यथा शशविषाणादेरिव नित्यमभावोपरागेणैव भानं स्यात् , तथा च 'घटाऽसत्त्वं नास्ति' इत्युल्लेखः स्यात् । अथास्तित्वं यदि सत्ता तदा तथोल्लेखे इष्टापत्तिरेव, यदि च कालसबन्धस्तत् तदा बाधान्न तथोल्लेख इति चेत् ? तर्हि अवच्छिन्नकालसम्बन्धात् तदेवोत्पादादिमत्त्वमायातम् , इति घट्टकुट्यां प्रभातम् । 'काल्पनिक एवायं नाशः, काल्पनिकमेव चास्योत्पादादिकमिति न तेन प्रसङ्ग' इति चेत् ? तर्हि तद्घटितं क्षणिकत्वमपि काल्पनिकमेव इति गतं सौगतस्य सर्वस्वम् ॥३६॥

दोषान्तरमाह–

मूलम्–तदेव न भवत्येतद्विरुद्धमिव लक्ष्यते ।
'तदेव' वस्तुसंस्पर्शाद् भवनप्रतिषेधतः ॥३७॥

भाव का अभवन ही अभाव का भवन है इसलिए अभवन निश्चितरूपसे तथाधर्मक यानीज्ञेयत्व-स्वभाव है। अत एव उसमें उक्त विकल्प अर्थात् 'वह घटका स्वभाव है या अस्वभाव है' इस प्रकार-का विकल्प प्रसक्त नहीं हो सकता। क्योंकि तुच्छ होने के कारण अत्यन्ताभाव के तुल्य होने पर भी कादाचित्क होने से भाव के तुल्य भी होता है। यदि वह अत्यन्ताभाव के ही तुल्य होता तो शशविषाणादि के समान सर्वत्र अभाव द्वारा ही उसका बोध होता, फलतः 'घटाऽसत्त्वं नास्ति' इस रूपमें ही घटासत्त्व की प्रतीति का उल्लेख होता।

यदि कहा जाय–'इस सन्दर्भ में यदि अस्तित्व सत्तारूप हो तो 'घटाऽसत्त्वं नास्ति' इस उल्लेख की आपत्ति इष्ट ही है क्योंकि घटाऽसत्त्व में सत्ता का अभाव नहीं होता और यदि अस्तित्व काल-सम्बन्धरूप हो तब तुच्छ घटाऽसत्त्व में कालसम्बन्धाभाव का बाध होने से 'घटाऽसत्त्वं नास्ति' इस उल्लेख का प्रसङ्ग ही नहीं हो सकता है।'–तो बौद्ध का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अव-च्छिन्न काल का सम्बन्ध मानने से उत्पत्ति ही प्राप्त हो जाती है अर्थात् असत्त्व के साथ कालविशेष का सम्बन्ध मानने से उसकी उत्पत्ति आदि का ही प्रसङ्ग हो जाता है। अतः इस प्रकार का विचार नदी के घाट उपर नदी पार उतरने वाले के पास से कर-उद्ग्रहण के लिए बनी हुई कुटी में प्रभात होने के समान हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि-"नाश काल्पनिक है और उत्पत्ति आदि भी काल्पनिक ही है। अत एव वास्तव उत्पत्ति और नाश का प्रसङ्ग नहीं हो सकता एवं च घटाऽसत्त्व के काल्पनिक नाश से घट के पुनरुन्मज्जन की आपत्ति नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि उत्पत्ति और नाश कल्पित ही होगा तो उससे घटित क्षणिकत्व भी काल्पनिक ही होगा। फलतः, ऐसा मानने पर 'भाव मात्र क्षणिक होता है' सौगत का यह सिद्धान्तसर्वस्व ही समाप्त हो जाता है ॥३६॥

[बौद्ध पक्ष में विरोध का उद्भावन]

इस (३७) कारिकामें, ३३ वीं कारिका में 'अभावो भवति' इस कथन का 'भावो न भवति' इस कथन में बताये गये पर्यवसान में, विरोध दोष का उद्भावन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

'तदेव न भवति' एतत्=यत् परेणोक्तम् तद् विरुद्धमिव लक्ष्यते=व्याहतमिव दृश्यते कथम् ? इत्याह-'तदेव' इत्यनेन वस्तुसंस्पर्शात्=अविकृतवस्तुपरामर्शात्; भवनप्रतिषेधतः=भवननिषेधात् 'भवनमभवनम्' इत्यापत्तेः, एवं च निषेधमुखेनैव विधिसमावेशात् तदा सत एवाऽसत्त्वं व्यवस्थापितवान् देवानांप्रियः। "तद् यदि तदाऽसत् स्यात् प्रागपि तथा स्यादिति तत्पदपरामृष्टं सांवृतमेव निषिध्यते" इति चेत् ? तर्हि तद्वस्तुनस्तदवस्थत्वाद् वृथैव क्षणिकता प्रसाधनप्रयासः। स्यादेतत्-घटनाशस्य क्षणिकत्वेऽपि न प्रतियोग्युन्मज्जनापत्तिः, तन्नाशनाशादिपरम्परानधिकरणतत्प्रागभावानधिकरणक्षणस्यैव तदधिकरणत्वव्याप्यत्वादिति। मैवम्, लाघवेन तदभावानधिकरणत्वेनैव तदधिकरणत्वव्याप्तिकल्पनात्, सभागसन्ततौ तन्नाशक्षणे तज्जातीयस्वीकारेण बीजाङ्कुरवदुन्मज्जनापत्तेर्दुर्निवारत्वात्, तन्नाशादिपरम्पराया दुर्ग्रहत्वेन तद्घटितक्षणिकत्वस्य दुर्ग्रहत्वाच्चेति दिक् ॥३७॥

बौद्ध की ओर से जो 'अभावो भवति' का तात्पर्य 'स एव भावो न भवति' इस अर्थ में बताया गया है वह विरुद्ध जैसा प्रतीत होता है. क्योंकि 'स एव भावो न भवति' इस वाक्य में तत् 'स'. शब्द से अविकृत (वास्तविक) वस्तु का ही परामर्श होता है, क्योंकि अविकृत वस्तु ही अपने उत्पत्ति क्षण में गृहीत होती है और 'तत्'पद पूर्वगृहीत वस्तु का ही परामर्शक होता है। इस प्रकार तत्शब्द से अविकृत वस्तु का परामर्श कर के भवन का निषेध करने से 'स एव न भवति' का तात्पर्य 'भवनमभवनम्' इस रूप में प्रसक्त होता है। फलतः निषेध मुख से ही विधि का प्रतिपादन होने से तत्काल में सत् पदार्थ का ही असत्त्व व्यवस्थापित होता है. जिससे, 'अभावो भवति' का 'भावो न भवति' इस अर्थ में विवरण करने वाले बौद्ध का 'देवताओं का प्रियत्व'=मौढ्य सूचित होता है। यदि इस के विरोध में यह कहा जाय कि-"पूर्वक्षणोत्पन्नभाव यदि द्वितीयक्षण में असत् ही होगा तो पूर्व क्षण में भी असत् ही होगा-इस प्रकार तत्पद से सांवृतिक (काल्पनिक) सत् भाव का ही परामर्श करके उसका निषेध किया जाता है।"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि द्वितीयक्षण में सांवृत का ही निषेध मानने पर पूर्वक्षण में उत्पन्न प्रामाणिक-पारमार्थिक वस्तु की द्वितीयक्षण में यथावत् स्थिति बनी रहेगी। फलतः क्षणिकता के साधन का प्रयास ही व्यर्थ होगा।

यदि यह कहा जाय कि-'क्षणिकत्ववादी का यह अभिप्राय है कि पूर्वक्षण में उत्पन्न घट का द्वितीयक्षण में नाश उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के नाते वह भी क्षणिक होता है किन्तु इसके क्षणिक होने पर भी प्रतियोगी के पुनर्भाव-पुनर्दर्शन की आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि तद् वस्तु का नाश और उसके नाश आदि की परम्परा का अनधिकरण और तद्वस्तु के प्रागभाव का अनधिकरण जो क्षण उसी में तद्वस्तु के अधिकरणत्व का नियम है। इसलिए भाव के उत्तरक्षण में भाव का नाश और उसके नाशादि होते रहने पर भी उसमें भावाधिकरणत्व न होने से उसके उन्मज्जन की आपत्ति नहीं हो सकती"।-किन्तु यह ठीक नहीं है। कारण, तदभावानधिकरणत्व में तदधिकरणत्व की व्याप्ति मानने में लाघव है। सभागसन्तति अर्थात् सजातीयसन्तान में सन्तानघटक पूर्वभाव के नाशक्षण में

ततः सिद्धं 'सतोऽसत्त्वे'० (का० १२) इत्यादि, इत्युपसंहरन्नाह--

मूलम्-सतोऽसत्त्वं यतश्चैवं सर्वथा नोपपद्यते ।
नाभावो भावमेतीह तदप्येतद्व्यवस्थितम् ॥३८॥

यतश्चैवम्=उक्तेन प्रकारेण सतोऽसत्त्वम् **सर्वथा**=सर्वैः प्रकारैर्विचार्यमाणं नोपपद्यते, भावोन्मज्जनप्रसङ्गात् । ततश्चेह यदुक्तं प्राक्-'भावो नाभावमेति' इति, एतद् **व्यवस्थितम्**=उपपन्नम्, भावविच्छेदेनाऽभावानुत्पत्तेः तदविच्छेदे च द्रव्यांशान्वयादिति ।

अत्र नैयायिकाः-नन्वेवं वराकस्य सौगतस्य तूष्णींभावेऽपि न वयमिदं मृषाभाषितं सहामहे, भावभिन्नस्यैवाभावस्य घटमानत्वात् । तथाहि-अभावो भावातिरिक्त एव, अधिकरणस्याऽप्रतियोगिकत्वात्, तस्य च सप्रतियोगिकतयाऽनुभूयमानत्वेन तद्रूपत्वायोगात् ।

उस भाव के सजातीय की सत्ता मानी जाती है। इसलिए जैसे अङ्कुरक्षण में बीज का नाश हो जाने पर अङ्कुर-वृक्षादि की परिणति के बाद बीज का उन्मज्जन होता है उसी प्रकार सजातीयसन्तान के पूर्वोत्पन्नभाव का नाश हो जाने के बाद भी उसके पुनःउन्मज्जन की आपत्ति का वारण नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि यदि क्षणिकत्व का जो उत्पत्तिक्षणमात्रवृत्तित्वरूप अर्थ किया जाता है उसका यदि स्वनाशनाशादि परम्परानधिकरणक्षणवृत्तित्व रूपमें निर्वचन किया जायगा तो क्षणिकत्व का ग्रहण भी दुर्घट होगा। क्योंकि किसी वस्तु और उसके नाश का अधिक से अधिक उस नाश तक ग्रहण तो सम्भव हो सकता है किन्तु उसके आगे नाश परम्परा के ग्रहण का कोई साधन नहीं है और न उस प्रकार का ग्रहण होना अनुभवसिद्ध-प्रमाणान्तरसिद्ध ही है ॥३७॥

[द्रव्यात्मकरूप से वस्तु की स्थिरतासिद्धि]

३८ वीं कारिका में, 'सतोऽसत्त्वे' इत्यादि १२ वीं कारिका में विवृत अर्थ का उक्त युक्तिओं से समर्थन कर उसका उपसंहार किया गया है। कारिकार्थ इस प्रकार है—

नष्टभाव के उन्मज्जनदोष से सत् का असत् होना किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं होता अतः "भाव का अभाव होना भी सम्भव नहीं" यह बात उक्तयुक्तिओं द्वारा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि भाव का विच्छेद मानकर अभाव की उत्पत्ति का समर्थन नहीं होता और भावका अविच्छेद मानने पर वस्तु के द्रव्यांश का अन्वय भावका कथञ्चित् नाश होने पर भी बना रहता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अनुभव में आनेवाले प्रत्येक पदार्थ में दो अंश होते हैं। एक स्थायी और एक आगमापायी (उत्पत्ति-विनाशशील)। स्थायी पदार्थ को 'द्रवति इति द्रव्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्रव्य पद से अभिहित किया जाता है। क्योंकि वह पूर्व-अपर भाव में द्रुत यानी अनुगत होता रहता है और आगमापायी को 'आधारं परित्यज्य अयते=गच्छति=निवर्तते' इस व्युत्पत्ति से पर्यय या पर्याय शब्द से पुकारा जाता है। इस प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने पर्यायात्मक रूपसे निवृत होता रहता है, और अपने द्रव्यात्मक रूपसे स्थिर बना रहता है भाव के उत्पत्तिविनाश का यही तथ्य मान्य हो सकता है। किसी भी पदार्थ का सर्वथा विनाश उक्त युक्तिओं से सम्भव नहीं है।

अथ सप्रतियोगिकत्वं प्रतियोग्यविषयकबुद्धिविषयत्वम् । तच्च तवापि नाभावस्य, इदंत्वादिनाऽप्यभावप्रत्यक्षात् , किन्त्वभावत्वस्य, तस्य च ममापि तथात्वमेव, घटवद्भिन्नत्वरूपस्य तस्य घटधीसाध्यत्वादिति चेत् ? न, तद्भिन्नत्वस्यापि स्वरूपानतिरेकेणाप्रतियोगिकत्वात् , वस्तुतः प्रतियोग्यवृत्तिरनुयोगिवृत्तियों धर्मस्तज्ज्ञानस्य, प्रतियोगिवृत्तित्वेन अज्ञातधर्मग्रहस्य चाभेदग्रहहेतुत्वेन, तस्य चात्र भेदरूपस्यैव संभवेनान्योन्याश्रयाच्च ।

[अभाव और भाव भिन्न हैं-नैयायिकपूर्वपक्ष]

जैनों द्वारा प्रस्तुत उक्त तर्कों के सम्मुख बौद्ध के चुप हो जाने पर नैयायिक ऊठ खडे होते हैं और यह उद्‌घोष करते हैं कि तार्किक विचार में दुर्बल बौद्ध के मौनावलम्बन कर लेने पर भी जैनों का मृषाभाषण हमें सह्य नहीं हो सकता क्योंकि भाव से सर्वथा भिन्न अर्थात् भाव के किसी भी प्रकारके अन्वय से रहित अभाव की उपपत्ति हो सकती है। जिसे इस रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है कि अभाव भाव से भिन्न ही होता है। (=भाव के अन्वय से सर्वथा मुक्त ही होता है—अर्थात् स्वप्रतियोगी के अनधिकरण कालमें ही वृत्ति होता है) क्योंकि किसी वस्तु के विनाश काल में वह वस्तु नहीं रहती, किन्तु उसका अधिकरण मात्र रहता है। और वह अधिकरण उस नाशात्मकअभाव का प्रतियोगी नहीं होता, अभाव सदैव सप्रतियोगिक रूप में ही अनुभूयमान होता है और अधिकरण अप्रतियोगिक होता है। अतः अभाव कभी भी अधिकरण स्वरूप नहीं हो सकता।

इसके विरुद्ध जैनोंको यह कहना हो कि-अभाव सप्रतियोगिक होता है, और प्रतियोगी के साथ विरोध होने से अभाव के बुद्धिकाल में प्रतियोगी की बुद्धि न होने से, सप्रतियोगिकत्व का अर्थ है प्रतियोग्यविषयकबुद्धि का विषयत्व, और यह न्याय मत में भी क्वचित् अभाव में नहीं हो सकता है, क्योंकि इदन्त्व-ज्ञेयत्वादि के रूप में भी अभाव का प्रत्यक्ष होता है और वह प्रत्यक्ष अभाव के प्रतियोगी को विषय नहीं करता, इसलिए अभाव में प्रतियोगि-अविषयक बुद्धि विषयत्व आ जाता है। अतः नैयायिक भी उक्त अर्थ में अभाव को सप्रतियोगिक नहीं कह सकते, किन्तु अभावत्व को सप्रतियोगिक कहना पडेगा। क्योंकि, अभावत्व का ज्ञान प्रतियोगीविशेषित रूप में ही होता है। जैसे 'घटो नास्ति' 'पटो नास्ति' इत्यादि। इसप्रकार जब अभावत्व में ही उक्त सप्रतियोगीकत्व मान्य है तो अभाव को अधिकरणस्वरूप माननेवाले हमारे मत में भी अभावत्व रूप से अधिकरण का ज्ञान भी प्रतियोगिविषयक ही होगा। इसलिए प्रतियोगि-अविषयक बुद्धि विषयत्व रूप सप्रतियोगिकत्व अधिकरण में भी है। अतः अधिकरण को अप्रतियोगिक कह कर उसमें सप्रतियोगिकत्वाभावरूपता की अनुपपत्ति बताना ठीक नहीं है। अभावत्व में प्रतियोगि-अविषयकबुद्धिविषयत्व रूप सप्रतियोगिकत्व अत्यन्त स्पष्ट ही है, जैसे-घटाभावत्व का स्वरूप है घटवद्भिन्नत्व, घटवत् जो कपालादि तद्भिन्नत्व और घटवद्भिन्नत्व स्वरूप घटाभावत्व का ज्ञान घटात्मक प्रतियोगी के ज्ञान बिना असाध्य है अर्थात् घटज्ञान-साध्य है इस में कोई विवाद नहीं है।

तो नैयायिक को जैन का यह कथन मान्य नहीं है। क्योंकि तद्भिन्नत्व अधिकरण के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं होगा तो अधिकरण अप्रतियोगिक होनेसे उसका भी अप्रतियोगिकत्व अनिवार्यरूप

न चाभावव्यवहारार्थमेव प्रतियोगिज्ञानापेक्षा, अभावस्त्वप्रतियोगिक एवेति वाच्यम् ,

से प्रसक्त होगा। और सच बात तो यह है कि अभाव और अधिकरण में अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव और अधिकरण में अभेद का अभ्युपगम अन्योन्याश्रयदोष से ग्रस्त है। जैसे, प्रतियोगी में अवृत्ति और अनुयोगी में वृत्ति ऐसा जो धर्म उसके ज्ञान को तथा प्रतियोगी में वृत्तित्वेन अज्ञात धर्म के ज्ञान को अधिकरण और भेदके अभेदग्रह का हेतु मानना होगा और यह धर्म भेदरूप ही सम्भव है। अतः अधिकरण में भेदके अभेदज्ञान के लिए अधिकरण में भेद ज्ञान अपेक्षित हुआ, और अधिकरण में भेद ज्ञान के लिए भेदका अभेद-ज्ञान अपेक्षित है। क्योंकि भेद और अधिकरण की अभिन्नता के पक्ष में भेद से अभिन्नतया गृहीत में ही भेद ज्ञान हो सकता है। अतः 'अधिकरणमें भेदके अभेद ज्ञान' के लिए 'अधिकरण में भेदज्ञान' की अपेक्षा और 'अधिकरणमें भेद ज्ञान' के लिए 'अधिकरणमें भेद के अभेदज्ञान' की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रयदोष का होना अनिवार्य है।

इस संदर्भ को स्पष्ट रूपसे समझने के लिये—

यह ज्ञातव्य है कि प्रतियोगी में अवृत्ति धर्म के ज्ञान को ही अधिकरण में भेद के अभेद ग्रह का हेतु नहीं माना जा सकता-क्योंकि घटभेद के प्रतियोगी घट में अवृत्ति मठत्व का पटमें भ्रमात्मकज्ञानदशा में 'पटः घटभिन्नः' यह ज्ञान नहीं होता, अतः प्रतियोगीमें अवृत्ति और अनुयोगी में वृत्ति धर्म के ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है। मठत्व घटभेद के प्रतियोगी में अवृत्ति होने पर भी पटात्मक अनुयोगी में वृत्ति नहीं है। अत एव मठत्व का ज्ञान रहने पर पटत्वावच्छिन्न घटभेद ग्रह तथा घटभेद के अभेदग्रह की आपत्ति नहीं हो सकती। एवं प्रतियोगिअवृत्ति न कहकर मात्र अनुयोगीवृत्ति धर्म के ही ज्ञान को अधिकरणमें भेद के अभेदग्रहका हेतु माना जायगा तो घटभेद के अनुयोगी पटमें वृत्ति द्रव्यत्व के 'द्रव्यं' इत्याकारक ज्ञानकालमें 'द्रव्यं न घटः' अथवा 'द्रव्यं घटभेदः' इस ज्ञानकी आपत्ति होगी। प्रतियोगि-अवृत्तित्व कहने पर यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यत्व प्रतियोगी में अवृत्ति नहीं है।

एवं यदि प्रतियोगीवृत्तित्वेन अज्ञात धर्म के ज्ञान को कारण न मानकर केवल प्रतियोग्यवृत्ति और अनुयोगीवृत्ति धर्मके ही ज्ञान को कारण माना जायेगा तो पटत्व में घटवृत्तित्वज्ञानकालमें भी वस्तुगत्या प्रतियोग्यवृत्ति एवं अनुयोगीवृत्ति पटत्वरूप धर्म के 'पटः' इत्याकारक ज्ञानदशामें भी पटमें घटभेद एवं उसके अभेदग्रहकी आपत्ति होगी, जबकि पटत्व में घटवृत्तित्वज्ञानदशा में उक्त ज्ञान इष्ट नहीं है।

निष्कर्ष यह फलित हुआ कि प्रतियोगिवृत्तित्वेन अज्ञातधर्मज्ञान को भी अधिकरण में भेद के अभेद ग्रह का हेतु मानना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में प्रतियोगि में अवृत्ति और अनुयोगी में वृत्ति तथा प्रतियोगीवृत्तित्वेन अज्ञात ऐसा धर्म केवल घटभेद ही हो सकता है, पटत्व नहीं। क्योंकि, पटत्व में घटभेद प्रतियोगी वृत्तित्व का भ्रमात्मक ज्ञान सम्भव होने से उसे प्रतियोगीवृत्तित्वेन अज्ञात=प्रति-योगीवृत्तित्वेन ज्ञानानर्ह नहीं समझा जा सकता किन्तु घटभेद में घटावृत्तित्व का नियम होने से वही एवं भूत धर्म हो सकता है। अत एव भेदग्रह और भेद का अधिकरण के साथ अभेदग्रह इन दोनों में प्रदर्शित अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य है।

[अभाव व्यवहार में भी प्रतियोगिज्ञान अपेक्षित नहीं है]

इस पर यदि यह कहा जाय कि-'प्रतियोगिज्ञान अभाव के व्यवहार में ही कारण होता है, अभाव के ज्ञान में नहीं। इसलिए अभाव भी अप्रतियोगिक ही होता है। अतः उसे अप्रतियोगिक अधिकरण

व्यवहर्तव्यज्ञाने सति, तस्यां चेच्छायां व्यवहारोदयेन तत्राधिकस्यानपेक्षणात् , हस्तवितस्त्या-द्यवच्छेद्यत्वेन दीर्घत्वग्रह एव सजातीयसाक्षात्कारप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वेन तारत्वादिग्रह एव चावध्यपेक्षणात् । न चाभावस्याभावस्याधिकरणानतिरेकेण सर्वमिदं प्रतिबन्दिकवलितमिति वाच्यम् , अभावसिद्ध्युत्तरमुपस्थितायास्तस्याः फलमुखगौरववददोषत्वात् । न चाभावग्रह-सामग्र्यैव तदुपपत्तेः किमन्तर्गडुनाऽभावेनेति वाच्यम् , 'नास्ति' इति धीविषयस्य तस्या-न्तर्गडुत्वायोगात् ।

से अभिन्न मानने में कोई बाधा नहीं है' किन्तु-यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्यवहर्तव्य का ज्ञान और व्यवहार की इच्छा होने पर व्यवहार की उत्पत्ति होती है अतः व्यवहारमें उन दोनों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होगी। किन्तु सावधिक पदार्थ के व्यवहार के लिए अवधि की अपेक्षा अवश्य होती है। जैसे हाथ और बेंत आदि की अपेक्षा दीर्घत्व व्यवहार के लिए हाथ और बेंत आदि की अपेक्षा से उद्भूत दीर्घत्व ज्ञान ही अपेक्षित होता है। एवं वीणा के ध्वनि आदि की अपेक्षा मृदङ्ग आदि की ध्वनि तार (तीव्र) होती है' इस व्यवहार के लिए वीणा आदि की ध्वनि के साक्षात्कार का सजातीय विरोधी मृदंग ध्वनि में प्रतिबन्धकतावच्छेदक रूप से तारत्वग्रह की ही अपेक्षा रहती है। इसलिए दीर्घत्व और तारत्वादि सावधिक होते हैं। उसी प्रकार सप्रतियोगिकत्व रूपसे अभाव व्यवहार के लिए सप्रतियोगिकत्व रूपसे अभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है। इसलिए अभाव को सप्रतियोगिक मानना आवश्यक है।

यदि यह कहा जाय कि-' नैयायिक भी अभाव वृत्ति अभाव को अनवस्था प्रसङ्ग भय से और कोई बाधक न होने से अधिकरण स्वरूप मानते हैं । अतः अभाव में भावात्मक अधिकरण की अभि-न्नता का खण्डन प्रतिबन्दि(समान प्रत्युत्तर) से कवलित हो जायेगा' -तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अभावात्मक अधिकरण से अभाव की अभिन्नता सिद्ध होने के बाद ही प्रतिबन्दि की उपस्थिति होती है। अत एव वह फलमुखगौरव के समान दोष नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि "जिस सामग्री से अभाव का ज्ञान होता है उस सामग्री से ही अभाव ग्रह और अभाव व्यवहार की सिद्धि हो जायेगी जैसे अधिकरण और इन्द्रिय का सन्निकर्ष-अधिकरणज्ञान -प्रतियोगीज्ञान-अधिकरण में आलोक सन्निधान आदि से ही अभाव का ग्रहण हो कर अभाव व्यवहार की उत्पत्ति हो सकती है । अतः अधिकरण से अतिरिक्त अभाव का अभ्युपगम निरर्थक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अतिरिक्त अभाव का अभ्युपगम न करने पर 'नास्ति' यह बुद्धि निर्विषयक हो जायेगी क्योंकि भूतलरूप अधिकरण अथवा घटादिरूपप्रतियोगी को उस बुद्धि का विषय नहीं माना जा सकता। क्योंकि भूतल में घटके अदर्शनकाल में 'भूतलं नास्ति' यह बुद्धि नहीं होती। यदि 'नास्ति' इस प्रतीति का विषय भूतल से अतिरिक्त किसी को न मानकर भूतल को ही माना जायेगा तो 'भूतलं नास्ति' इस प्रतीति की आपत्ति अनिवार्य होगी। अतः 'नास्ति' इस प्रतीति में सविषयकत्व की उपपत्ति के लिए अधिकरण से भिन्न अभाव का अभ्युपगम अनिवार्य होनेसे अभाव की कल्पना को निरर्थक नहीं कहा जा सकता।

किञ्च, अभावप्रत्यक्षस्य विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षरूपत्वेन मम विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयमुद्रयैव। प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वं, न तु स्वातन्त्र्येण, तव तु तद्व्यवहारे तस्य स्वातन्त्र्येण हेतुत्वं कल्पनीयमिति गौरवम् ।

किञ्च, अधिकरणानामननुगतत्वात् कथमनुगतव्यवहारः ? मम तु समवाय-स्वाश्रयसमवायान्यतरसम्बन्धेन सत्तात्यन्ताभाव एवानुगतमभावत्वम् , तच्च स्ववृत्त्यपि, इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।

(अधिकरण-अभाव अभेद पक्ष में गौरव)

यह भी ज्ञातव्य है कि अभाव और अधिकरण के अभेदवाद में प्रतियोगिविशेषित अभावव्यवहार में प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगी के ज्ञान को स्वतन्त्र कारणता माननी पडेगी। क्योंकि अभाव को अधिकरण से अभिन्न मानने पर अभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगीज्ञान को कारण मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि अधिकरण रूप में अभाव का ज्ञान प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगीज्ञान के अभाव में भी होता है। अतः अभावव्यवहार के प्रति प्रतियोगीतावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिज्ञान को पृथक् कारण माने बिना प्रतियोगी की अज्ञानदशामें अभाव व्यवहार की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता। किन्तु न्यायमत में इस कार्यकारणभावकी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि न्यायमत में अभाव अधिकरण से भिन्न होता है। अत एव प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगी की अज्ञान दशा में अभाव ज्ञान सम्भव न होने से अभाव के उक्त व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि-'न्यायमतमें भी प्रतियोगि-विशेषित अभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगी ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से कारण मानना होगा; अन्यथा प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगी की अज्ञान दशा में उस मत में अभावज्ञान सम्भव होनेसे अभाव व्यवहार की आपत्ति होगी।'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'रक्तो दण्डः' इत्यादि ज्ञान की अभाव दशा में 'रक्तदण्डवान् पुरुषः' इस प्रकार रक्तत्वविशिष्टदण्डवैशिष्ट्यावगाही बुद्धि की उत्पत्ति न होने से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अनुभव मात्र के प्रति विशेषणतावच्छेदक प्रकारक निश्चय की कारणता सम्मत है। अतः प्रतियोगिविशेषित अभावव्यवहार के लिए अपेक्षित प्रतियोगिविशेषित अभाव का प्रत्यक्ष भी प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही होने से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही होता है। अत एव प्रतियोगितावच्छेदकरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारक निश्चय की असत्त्व दशा में उक्त अभाव-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत एव प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्टप्रतियोगी की अज्ञान दशामें व्यवहर्तव्य ज्ञान का अभाव होनेसे ही प्रतियोगि विशेषित अभाव के व्यवहारकी आपत्ति का वारण हो जायगा इसलिए न्यायमत में प्रतियोगिविशेषित अभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगी के ज्ञान को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता नहीं होती। अतः कार्यकारणभाव कल्पनासम्बन्धी लाघव के अनुरोध से अभाव को अधिकरण से भिन्न मानने का पक्ष ही उचित है।

(अनुगत व्यवहार अभेदपक्ष में अघटित)

दूसरी बात, अभाव और अधिकरण के अभेद पक्ष में यह भी एक दोष है कि उस मत में अधिकरणों के अननुगत होने से अभावत्व का अननुगत व्यवहार नहीं हो सकेगा-जब कि 'घटाभावः अभावः, पटाभावः अभावः' इत्यादि रूपसे अभावत्व का अनुगत व्यवहार सर्वमान्य है। यदि घटाभाव-

न चातिरिक्ताभावस्याधिकरणेन समं सम्बन्धानुपपत्तिः, सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वस्यैव तत्संबन्धत्वात् ।

नन्वेवं घटाभावभ्रमानुपपत्तिः, योग्यतायाः फलैकगम्यतया तत्रापि सत्त्वात् । न च प्रमायोग्यता सम्बन्धः, सम्बन्धसत्त्वे तस्यापि प्रमात्वात् , अन्यथाऽन्योन्याश्रयात् , योग्यतायाः

घटाभावादि भूतलादिस्वरूप हुआ तो उन सभी में किसी अनुगत अभावत्व का निर्वचन अशक्य होने से अभावत्व के अनुगत व्यवहार की उपपत्ति करना असम्भव होगा। न्यायमत में यह दोष नहीं होगा चूँकि अभावत्व को समवाय-स्वाश्रयसमवाय इन दो में किसी एक सम्बन्धसे सत्ता का अत्यन्ताभावरूप माना जाता है जो एक अनुगत धर्म है। किन्तु इससे अभाव को भूतलादि स्वरूप मानने पर अभावों में अनुगत व्यवहार की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि भूतलादि में समवाय-स्वाश्रय-समवाय अन्यतर सम्बन्ध से सत्ता के रहने से उक्त अन्यतर सम्बन्ध से सत्ताभाव नहीं रह सकता। किन्तु यदि घटाद्यभाव जब भूतलादि अधिकरण से भिन्न होगा तो उसमें समवाय-स्वाश्रयसमवाय अन्यतर सम्बन्ध से सत्ताभाव के रहने में कोई बाधा न होने के कारण घटाभावादि में अभावत्व का अनुगत व्यवहार हो सकेगा। समवाय-स्वाश्रयसमवाय अन्यतर सम्बन्ध से सत्ताभाव को स्व में भी वृत्ति मानने से उसमें भी अभावत्व व्यवहार न होने की कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

[भेद पक्ष में सम्बन्ध की अनुपपत्ति नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि "अभाव और अधिकरण में भेद होने पर अधिकरण के साथ अभाव का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि संयोगसमवायादि समस्त प्रमाणसिद्ध सम्बन्ध भावपदार्थों के मध्य ही होते हैं"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अधिकरण के साथ अभाव का कोई अतिरिक्त सम्बन्ध न होने पर भी अधिकरण में अभाव की विशिष्ट प्रतीति 'भूतलं घटाभाववत्' इत्यादि रूपमें होती है। अत एव इस प्रतीतिके जनन की योग्यता अभाव और अधिकरण में मानना आवश्यक है। और यह योग्यता ही अधिकरण के साथ अभाव का सम्बन्ध है। इसलिए अभाव और अधिकरण में सम्बन्ध की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। उक्त सम्बन्ध स्वीकार करने पर, जैनों की ओर से—

यदि यह शङ्का की जाय कि-ऐसा मानने पर तो घटवाले देश में भी घटाभाव का भ्रम नहीं हो सकता। क्योंकि घटवालेदेश में भी घटाभाव की भ्रमात्मक विशिष्ट प्रतीति होती है। अतः घटवालेदेश में भी घटाभाव विशिष्ट की प्रतीति के जनन की योग्यता माननी ही होगी। क्योंकि योग्यता फल से अवगत होती है। अतः घटवालेदेश में भी घटाभाव का उक्त सम्बन्ध सम्भव होने से उसमें होनेवाली घटाभाव की बुद्धि भी प्रमा हो जायगी। फलतः घटाभावभ्रम का उच्छेद होगा। यदि यह कहा जाय कि-'विशिष्टप्रमाजननयोग्यता ही सम्बन्ध है।'-तो यह कहने पर भी उक्त दोषका निस्तार नहीं हो सकता। क्योंकि जब घटवाले देश के साथ भी घटाभाव का सम्बन्ध उक्तरीति से सम्भव है तो घटवाले देश में होनेवाली घटाभाव की प्रतीति भी प्रमा ही होगी अतः घटवाले देश में भी घटाभाव की विशिष्ट प्रमाकी योग्यता रूप सम्बन्ध अक्षुण्ण है। तथा यदि विशिष्ट प्रतीति जनन योग्यता को सम्बन्ध न मानकर विशिष्ट प्रमा योग्यता को सम्बन्ध मानेंगे तो अन्योन्याश्रय की आपत्ति होगी, क्योंकि प्रमायोग्यता रूप सम्बन्ध सिद्ध होने पर प्रमा की सिद्धि और प्रमा सिद्ध होने पर प्रमायोग्यतारूपसम्बन्ध सिद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि विशिष्ट प्रतीति जनन योग्यता तो 'भूतलं

प्रत्यथाऽविषयत्वेन विभागाभावाच्च । अथ योग्यतालिङ्गितं स्वरूपमेव सम्बन्धः, भ्रम-प्रमयोश्च वस्तुगत्या घटतदभाववद्वयक्त्यवगाहित्वेनैव विभाग इति चेत् ? न, अतीन्द्रियाभावस्वरूपसंबन्धेऽव्याप्तेः, तस्य विशिष्टज्ञानाभावादिति चेत् ? न, योग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपद्वयस्यैव संबन्धत्वात्, योग्यतावच्छेदकं च क्वचित् प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम्, क्वचित् प्रतियोगिदेशत्वे सति प्रतियोगिदेशान्यकालत्वम्, क्वचित् प्रतियोगितावच्छेदकाभाववत्त्वम् ।

घटाभाववत्' इत्यादि प्रतीति का विषय होती नहीं है, अतः यह विभाग करना भी कठिन है कि घटशून्य देश में घटाभाव की प्रतीति प्रमा है और घटवालेदेश में घटाभाव की प्रतीति भ्रम है क्योंकि यह निश्चय विशेष्य में विशेषण सम्बन्ध के सत्त्व-असत्त्व पर निर्भर है और विशेष्य में विशेषण के सत्त्व और असत्त्व का निश्चय विशेष्यमें विशेषण-सम्बन्ध के निश्चय के आधीन है। अब यहाँ विशिष्ट प्रतीति जनन योग्यत्व रूप सम्बन्ध भूतलादि घटाभावादि की प्रतीति में भासित नहीं होता अतः 'घटशून्य में घटभाव की प्रतीति प्रमा और घटवाले देश में घटाभाव को प्रतीति भ्रम' यह विभाग दुर्घट है ।

[प्रत्यक्षयोग्य अभाव का स्वरूप सम्बन्ध है]

नैयायिक यदि यह उत्तर करे कि–"योग्यता से आलिङ्गित=विशिष्ट स्वरूप ही अभाव का सम्बन्ध है । अर्थात् जो अभाव प्रत्यक्षयोग्य हो उसका स्वरूप ही उसका सम्बन्ध होता है । मात्र इतना विशेष है कि योग्यता का अभावबुद्धि में सम्बन्धविधया भान नहीं होता, सम्बन्धविधया भान अभाव के स्वरूप का ही होता है । भ्रम और प्रमा का विभाग योग्यता के अभान और भान से अथवा अभावस्वरूप के अभान और भान से नहीं होता, क्योंकि अभाव बुद्धि में उसकी योग्यता का भान ही नहीं होता । अभाव स्वरूप का भान भ्रम और प्रमा दोनों में ही होता है । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जब घटाभाव की बुद्धि घटवद्विषयक है तब उसे भ्रम माना जाता है और जब घटाभाव की बुद्धि घटाभाववद्व्यक्तिविषयक है तब उसे प्रमा माना जाता है । इस प्रकार प्रतियोगी के अधिकरण और अभाव के भान द्वारा ही अभाव बुद्धि में भ्रमत्व और प्रमात्व का विभाग होता है । " तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है,

ऐसा मानने पर अतीन्द्रियाभाव के स्वरूपसम्बन्ध में अभावसम्बन्धत्व की अव्याप्ति हो जायगी क्योंकि यदि योग्यप्रतियोगिकत्वरूप योग्यता से विशिष्ट स्वरूप को सम्बन्ध माना जायेगा तो अतीन्द्रिय अभाव में योग्यप्रतियोगिकत्व न होनेसे उसका स्वरूप योग्यताऽऽलिङ्गित नहीं होगा । और यदि प्रत्यक्षात्मकविशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता को अभावस्वरूप की योग्यता माना जायेगा तब भी अतीन्द्रियाभाव स्वरूप में योग्यता न रहेगी क्योंकि अतीन्द्रिय अभाव की प्रत्यक्षात्मक विशिष्ट प्रतीति नहीं होती ।

(योग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपद्वय की सम्बन्धता-नैयायिक)

इस समग्र जैनों के प्रतिवाद पर नैयायिकों का उत्तर यह है कि–योग्यतावच्छेदक से विशिष्ट अभाव और अधिकरण दोनों का ही स्वरूप अभाव का सम्बन्ध होता है । अर्थात् कहीं योग्यतावच्छेदकविशिष्टाभाव का स्वरूप अभाव का सम्बन्ध होता है, तो कहीं योग्यतावच्छेदकविशिष्टाधिकरण का स्वरूप अभाव का सम्बन्ध होता है । अभाव के चार प्रकार १ अत्यन्ताभाव २ प्रागभाव ३ ध्वंसा-

न चात्रापि मत्वर्थसम्बन्धानुयोगः, तत्रापि तादृशयोग्यतावच्छेदकानुसरणात् । न चैवमनवस्था, वस्तुनस्तथात्वात् । प्रत्ययानवस्था तु नास्त्येव, उक्तावच्छेदकस्य स्वरूपपरिचायकत्वात् । एवं च तादृशस्वरूपाभावेयत्र भावधीस्तत्र भ्रमत्वम् , इति किमनुपपन्नम् ।

भाव ४ अन्योन्याभाव हैं । इनमें प्रथम की योग्यता है प्रतियोगिदेशान्यदेशत्व अर्थात् स्वप्रतियोग्यधिकरणभिन्नाधिकरणवृत्तित्व । तथा प्रागभाव एवं ध्वंस की योग्यता का अवच्छेदक है प्रतियोगिसद्देशमें वृत्ति होते हुऐ प्रतियोगिसत्काल से भिन्न काल में रहना । तथा अन्योन्याभाव की योग्यता का अवच्छेदक है प्रतियोगितावच्छेदकाभाववत्त्व । इनमें पहले दो योग्यतावच्छेदक अभावगत है अत एव उन योग्यतावच्छेदक से विशिष्ट अभाव का स्वरूप क्रम से अत्यन्ताभाव तथा प्रागभाव-ध्वंस का सम्बन्ध है । तृतीय योग्यता-अवच्छेदक अधिकरणगत है । अत एव तृतीय योग्यताअवच्छेदक से विशिष्ट अधिकरण का स्वरूप अन्योन्याभाव का सम्बन्ध है । यह योग्यतावच्छेदक अतीन्द्रिय अभाव के स्वरूप एवं अधिकरण में भी है । जैसे, अतीन्द्रियमनस्त्व का अभाव अपने प्रतियोगी मनस्त्व के अधिकरणभूत देश से भिन्न देश में रहता है । एवं पार्थिव परमाणुगत श्यामरूपादि का प्रागभाव और ध्वंस अपने प्रतियोगी के अधिकरण पार्थिव परमाणु में रहते हुए भी अपने प्रतियोगी के काल में न रहकर अन्यकाल में रहता है । एवं मन आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक मनस्त्वादि का अभाव मनोभिन्न देशमें रहता है । इस प्रकार योग्यतावच्छेदकावच्छिन्न अभाव और अधिकरण के स्वरूप को सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है । भ्रम-प्रमा का विभाग तो, जैसा बताया गया है-प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेदक के वस्तुतः अधिकरण के अथवा उसके अभावाधिकरण के अवगाहन से, उपपन्न होता है । अतः अभाव को अधिकरण से भिन्न मानने पर अधिकरण के साथ अभाव का सम्बन्ध मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।

(मत्वर्थ सम्बन्ध के बारे में शंकानिवारण)

इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि-"भूतलं घटाभाववत्' 'घटः पटभेदवान्' इत्यादि प्रतीतिओं में 'मतुप्' प्रत्यय से अभाव का सम्बन्ध भी विशेषणरूप से भासित होता है अतः उसके सम्बन्ध के विषय में भी प्रश्न होना स्वाभाविक है ।"-तो इस शङ्का के समाधान में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि मत्वर्थ सम्बन्ध का भी जो उक्त योग्यतावच्छेदक विशिष्टस्वरूप है उस को सम्बन्ध माना जा सकता है । इसमें अनवस्था की शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव का स्वरूप और अभावबोधक शब्द के उत्तर में लगे हुए 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ का स्वरूप इन दोनों में भेद न होने से अनन्त सम्बन्धों की व्यर्थ कल्पनारूप आपत्ति नहीं हो सकती । यह अनवस्था तब होती यदि, जैसे अभाव की प्रतीति का 'मतुप्' प्रत्ययान्तशब्दघटितवाक्य से अभिलाप होता है, उसी प्रकार मत्वर्थ सम्बन्ध की प्रतीति का भी 'मतुप्' प्रत्ययान्तर्घटित शब्द से अभिलाप होता । किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः प्रतीति की अनवस्था के आपादान की सम्भावना नहीं हैं, क्योंकि यही वस्तुस्थिति है अतः वस्तु में अनवस्था प्रसक्त ही नहीं है ।

यह ज्ञातव्य है कि उक्त योग्यतावच्छेदकावच्छिन्न स्वरूप को अभाव का सम्बन्ध मानने पर भी अभाव के सम्बन्ध की बुद्धि में उक्त योग्यतावच्छेदक का भान नहीं होता । किन्तु उक्त योग्यतावच्छेदक से उपलक्षित स्वरूप का ही भान होता है, क्योंकि उक्त योग्यतावच्छेदक अभाव के स्वरूप का विशेषण न होकर उपलक्षणरूप से परिचायक मात्र होता है । यही कारण है-उक्त योग्यतावच्छेदक के भान के लिये अनवस्था का सर्जन नहीं होता । निष्कर्ष यह फलित हुआ-तादृश स्वरूपसम्बन्ध का

वस्तुतः स्वसम्बद्धप्रकारावच्छेदेन यत्र ज्ञाने धर्मिसम्बन्धः, स्वसम्बद्धधर्म्यवच्छेदेन वा प्रकार-संबन्धः तत्र प्रमात्वम्, अन्यत्र भ्रमत्वम् । अत एव विशिष्टज्ञाने प्रकारधर्मिणोः * संयोगादिवद्ज्ञानस्यापि परस्परसम्बन्धतया भासमानत्वात् 'इदं रजतम्' इति भ्रमे रजतत्वस्य शुक्तौ वैज्ञानिकसम्बन्धेन प्रमात्वम्, संयोगेन च भ्रमत्वमिति दिक् ।

अभाव रहने पर जहाँ अभावकी बुद्धि होती है वहाँ अभाव बुद्धि भ्रमात्मक होती है। तथा तादृश-स्वरूप के सद्भाव होने पर जहाँ अभाव की बुद्धि होती है वह बुद्धि प्रमा होती है। जैसे, घटमंडित-देशमें यदि घटाभाव की बुद्धि होगी तो घटाभावमें प्रतीयोगीदेशान्यदेशत्व नहीं रहेगा क्योंकि उस समय उसमें (बुद्धिकृत) प्रतियोगिसमानदेशत्व हो जाता है, अत एव उस समय घटाभाव का स्वरूप प्रतियोगिदेशान्यदेशत्व रूप योग्यतावच्छेदकावच्छिन्न नहीं होता। अतः घटाभाव की वह बुद्धि घटाभाव के यथोक्त स्वरूपसम्बन्ध के अभावमें होनेसे भ्रम होती है । तथा जब घटशून्यदेशमें घटाभाव की बुद्धि होती है तब घटाभाव में प्रतियोगीदेशान्यदेशत्व रहता है । अतः घटाभाव के उक्त स्वरूपसम्बन्ध के सद्भाव में उस बुद्धि के होने से वह प्रमा होती है। अतः अभाव को अधिकरण से भिन्न मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

सत्यबात तो यह है कि-जिस ज्ञानमें धर्मी का सम्बन्ध धर्मी से सम्बद्ध प्रकारावच्छेदेन भासित होता है वह ज्ञान प्रमा होता है और उससे भिन्न ज्ञान भ्रम होता है जैसे 'भूतले घट:' इस बुद्धिमें भूतल रूप धर्मी (अधिकरण) का घटमें आधेयत्व सम्बन्ध घटानुयोगिक भूतलप्रतियोगिक आधेय-तात्व रूपसे भासित होता है । यह भान ही 卐धर्मिसम्बद्ध प्रकारावच्छेदेन धर्मिसम्बन्ध का भान है। इसी प्रकार 'भूतलं घटवत्' इस ज्ञानमें घटरूप प्रकार का संयोगसम्बन्ध घटसम्बद्ध भूतल रूप धर्मि-अवच्छेदेन भासित होता है । अर्थात् घटका संयोग भूतलानुयोगिक घटप्रतियोगिकसंयोगत्वेन भासित होता है । यह भान ही प्रकारसम्बद्धधर्मीअवच्छेदेन प्रकारसम्बन्ध का भान है, अतः यह दोनों ही ज्ञान प्रमा होते हैं । किन्तु यदि घटशून्य देशमें 'अत्र घट:' अथवा 'अयं देश: घटवान्' यह ज्ञान होगा तो उसमें उक्तरूपसे धर्मीसम्बन्ध और प्रकार-सम्बन्ध का भान नहीं हो सकता, क्योंकि वहां घटानुयोगिक घटशून्यदेश प्रतियोगिक-आधेयता एवं घटशून्यदेशानुयोगिक घटप्रतियोगिक संयोग सम्बन्ध नहीं होता। अत एव वह प्रतीति भ्रम होती है। इसी प्रकार घटशून्यदेश में घटाभाव प्रतीतिमें प्रमात्व और घटसहितदेश में घटाभाव की प्रतीति को भ्रम समझा जाता है ।

इस व्यवस्था के अनुसार ही शुक्ति में रजतत्वग्राही 'इदं रजतं' इस ज्ञान में प्रमात्व और भ्रमत्व दोनों की उपपत्ति होती है । जब 'इदं रजतम्' इस शुक्ति विशेष्यक रजतत्व के ज्ञान में इदन्त्व रूप से भासमान शुक्ति के साथ रजतत्व का ज्ञानात्मक सम्बन्ध होता है तब उस सम्बन्ध का इदमनुयोगिक रजतत्वप्रतियोगिक रूप में भान होनेसे वह ज्ञान प्रमा होता है । तथा शुक्ति में रजतत्व का संयोग-समवायादि सम्बन्ध न होने से उस ज्ञान में इदमनुयोगिक-रजतत्वप्रतियोगिक रूप से संयोगादि का भान सम्भव न होने से वह ज्ञान संयोगादि सम्बन्ध से भ्रम होता है ।

* पूर्व मुद्रित व्याख्या ग्रन्थ में 'संयोगादिवद्ज्ञानस्याऽपि' ऐसा पाठ है और हस्तलिखित प्रति में 'संयोगादिवदज्ञातस्याऽपि' ऐसा पाठ प्राप्त होता है । किन्तु यहां 'संयोगादिवद् ज्ञानस्याऽपि' ऐसा पाठ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि इस पाठ में अग्रिम ग्रन्थ की उपपत्ति होती है ।

卐 इस संदर्भ में धर्मी शब्द से अधिकरण और प्रकार शब्द से आधेय को समझना चाहिये ।

अत्र ब्रूमः—नैयायिकाऽस्मिन् नयवाददीपे पतन् पतङ्गस्य दशां नु मा गाः ।
बौद्धस्य बुद्धिव्ययजं कुकीर्तिविस्फुरत्वरं कज्जलमस्य पश्य ॥१॥

तथाहि-अभावस्य लाघवात् क्लृप्ताधिकरणस्वभावत्वे सिद्धे तत्र सप्रतियोगिकत्वं कल्प्यमानं तदभाववृत्त्यभावेऽन्यप्रतियोगिकत्वमिव तत्काले तद्बुद्धिजनितव्यवहारविषयत्वादिरूपं न बाधकम् ।

न चाधिकरणस्वरूपत्वेऽननुगमो बाधकः, तथा सत्यभावाभावस्यापि प्रतियोग्यात्मक-

---

अभाव और अधिकरण के भेद के सम्बन्ध में नैयायिकों ने जो तर्कबद्ध पूर्वपक्ष प्रस्थापित किया है उसके प्रतिवाद की भूमिका में प्रवेश करते पहले व्याख्याकार सावधान करते है कि नयवाद के प्रदीप में व्यर्थ झम्पात करके उन्हे पतङ्ग के जैसी विनाश दशा को प्राप्त नहीं होना चाहिये, जब कि बुद्धि के अपव्यय से उत्पन्न व अपयश को बढाने वाली बौद्ध वादीयों की कालिमा, प्रत्यक्ष उपलब्ध है ॥१॥

(अभाव-अधिकरण अभेदवादी जैनों का प्रतिवाद)

नैयायिक के उक्त सिद्धान्त के विरोध में जैन विद्वानों का प्रतिपक्ष यह है कि अभाव का अधिकरण अन्य प्रमाणों के बल पर क्लृप्त है-प्रसिद्ध है। अत एव अधिकरण में प्रतीत होने वाले अभाव को तत्स्वरूप (अधिकरण स्वरूप) मानने में लाघव है।

भूतलादि अधिकरण में प्रतीत होने वाले घटाभाव को भूतलादि स्वरूप मानने पर भूतलादि में सप्रतियोगिकत्व की कल्पना करनी होगी, किन्तु इस कल्पना से किसी अतिरिक्त पदार्थ का अस्तित्व नहीं प्रसक्त होता। क्योंकि भूतल में घटाभाव की अधिकरणता अथवा घटाभाव में भूतल की आधेयता की बुद्धि के समय जो 'भूतलं घटाभाववत्' अथवा 'भूतले घटाभावः' यह व्यवहार होता है वह घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इस प्रकार भूतल में घटज्ञान से उत्पन्न उक्त व्यवहार की जो विषयता है वही भूतल में घटप्रतियोगिकत्व है। घटप्रतियोगिकत्व उक्त विषयता से अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतः भूतल में सप्रतियोगिकत्व की कल्पना अभाव और अधिकरण के ऐक्य में बाधक नहीं हो सकती। तथा इसे बाधक के रूप में नैयायिक द्वारा उद्भावित भी नहीं किया जा सकता क्योंकि, नैयायिक भी अभाव में रहने वाले अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं। जैसे, घटाभाव में विद्यमान पटाभाव भेद घटाभावस्वरूप होता है। इसलिये घटाभाव में पटाभावप्रतियोगिकत्व की कल्पना उन्हें भी करनी होती है। तथा यह पटाभाव-प्रतियोगिकत्व उनके मत में भी 'घटाभावो न पटाभावः' इस प्रतीतिकाल में होने वाला पटाभावस्वरूप प्रतियोगी का ज्ञान उससे उत्पन्न जो उक्त व्यवहार की विषयता, उस से अन्य नहीं होता। अतः अभाव के अभावात्मक एवं भावात्मक दोनों प्रकार के अधिकरण में सप्रतियोगिकत्व की कल्पना में कोई अन्तर न होने से अभाव मात्र को अधिकरण स्वरूप मानना ही युक्तिसङ्गत है।

(अभाव-अधिकरण अभेद में बाधक का निराकरण)

यदि यह कहा जाय कि-''अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने में अननुगम होगा अर्थात् घटाभावत्व की कल्पना करने से विभिन्न अधिकरणों के साथ घटाभावत्व के अनेक संबन्धों की प्रसक्ति

त्वत्रिलयेऽप्रसिद्धान्तात् । 'तत्र तद्भावाभावत्वमेकमेव'इति चेत् । किं तत् ? घटत्वादिकमिति चेत् , कथमस्य तत्त्वम् ? तेन रूपेण घटादिमत्ताप्रतीतौ घटाद्यभावाभावव्यवहारादिति चेत् ? कथं तर्हि तदसाधारणधर्मान्तराणामपि न तथात्वम् ? ।

किञ्च, एवं घटत्वादिज्ञानं प्रतियोगिज्ञानं विना न स्यात् , अभावत्वप्रत्यक्षे योग्यधर्मावच्छिन्नज्ञानत्वेन हेतुत्वात् , अन्यथा तन्निर्विकल्पकप्रसङ्गात् । यदि च निर्विकल्पकीयविषयतया घटत्वादिनाऽभावस्य प्रत्यक्षस्याभावत्वांशे निर्विकल्पकस्य स्वीकारे विशेष्यतानवच्छिन्ननिर्विकल्पकीयविषयतया वा प्रत्यक्षेऽभावत्वमेदस्य कारणत्वात् तन्निर्विकल्पकं वार्यते, तदा घटत्वादेरपि निर्विकल्पकाऽप्रसङ्गात् , भावावृत्तितयोक्तविषयतया विशेषणे चाऽप्रसिद्धेः ।

होगी"- तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर घटाभावाभावादि को घटादि स्वरूप मानना भी उचित न होगा । क्योंकि, अनेक घटों में घटाभावाभावत्व की कल्पना की आपत्ति होगी । यदि इस पक्ष का भी परित्याग कर दिया जायगा तो नैयायिक के सिद्धान्त की हानि होगी क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है यह उनका सिद्धान्त है । यदि यह कहा जाय कि "विभिन्न घट में जो घटाभावाभावत्व माना जाता है वह एक ही है । अतः अभावाभाव को प्रतियोगी स्वरूप मानने में अननुगम की प्रसक्ति नहीं होगी" तो इस कथन का उपपादन शक्य नहीं है, क्योंकि घट में माने जाने वाले घटाभावाभावत्व को घटत्वस्वरूप मानने पर ही यह कहा जा सकता है, किन्तु उसकी घटत्वरूपता में कोई युक्ति नहीं है । यदि इस मान्यता के समर्थन में यह कहा जाय कि "घटत्व रूप से भूतल में 'भूतलं घटवत्' इस प्रकार की प्रतीति होने पर 'भूतले घटाभावो नास्ति' यह व्यवहार होता है इसलिए घटत्व और घटाभावाभावत्व में ऐक्य माना जा सकता है-" तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने का आधार घट और घटाभावाभाव इन दोनों का समनियत भाव ही हो सकता है, अब यदि घटाभावाभाव में घट के समनियतभाव से ही घटाभावाभाव को घटरूप मानना है तो घटाभावाभाव में घट के समनियत अन्य अनेक धर्मों का भी समनियतभाव है अतः घटाभावाभाव को केवल घटस्वरूप न मानकर अन्य अनेक धर्म स्वरूप भी मानना होगा, अतः घटाभावाभावत्व को केवल घटत्व रूप मानना सम्भव न होने से अभाव के अभाव को प्रतियोगी स्वरूप मानने के पक्ष में भी अननुगम दोष की प्रसक्ति अनिवार्य रहेगी ।

(घटाभावाभावत्व को घटत्वादिरूप मानने में अनुपपत्ति)

इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि घटाभावाभाव को घट स्वरूप मानने पर लाघव की दृष्टि से सम्पूर्ण घटों में घटाभावाभावत्व को एक मानना होगा और वह भी लाघववश घटत्व रूप होगा । ऐसी स्थिति में घटाभाव रूप प्रतियोगी के ज्ञान विना घटाभावाभावत्वरूप घटत्व का ज्ञान न हो सकेगा । क्योंकि अभावत्व के प्रत्यक्ष में योग्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है । यदि यह कार्य-कारण भाव न माना जायगा तो अभावत्व के निर्विकल्पक ज्ञान की आपत्ति होगी, जब की अभावत्व का निर्विकल्पक ज्ञान अनुभव और सिद्धान्त दोनों से विरुद्ध है । यदि यह कहा जाय कि-'घटत्व रूप से जो घटाभावाभाव का प्रत्यक्ष हुआ उसमें घटत्वरूप से अभावत्व का निर्विकल्पक ज्ञान इष्ट है अतः यह आपत्ति नहीं हो सकती है । तथा यदि घटाभावाभावत्व रूप से घटाभावाभाव के

'अस्तु तर्हि अभावाभावोऽप्यतिरिक्त एव, तृतीयाभावादेः प्रथमाभावादिरूपत्वेनानवस्थापरिहारात्' इति चेत् ? तर्ह्यनन्ताभावानां तत्राभावत्वस्य कल्पनामपेक्ष्य क्लृप्ताधिकरणेष्वेव तदेकोऽभावत्वपरिणामोऽनुभूयमानः कल्प्यताम् । नहि 'अयमभावः' इति स्वातन्त्र्येण कस्यापि अनुभवोऽस्ति, किन्त्वधिकरणस्वरूपमेव तत्तदारोपितसत्प्रतियोगिग्रहादिमहिम्ना तत्तदभावत्वेनानुभूयते इति ।

अथ तदभावलौकिकप्रत्यक्षे तज्ज्ञानस्य हेतुत्वाद् न स्वातन्त्र्येणाभावभानम्, अन्यप्रतियोगिकत्वेनान्याभावभानं तु नेष्यते, 'प्रमेयत्वं नास्ति, प्रमेयो न' इत्यादौ संयोगाद्यवच्छि-

प्रत्यक्ष में अभावत्व का निर्विकल्पक आपाद्य हो तो भी यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह प्रत्यक्ष अभावत्व अंश में घटाभावाभावविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही है । अत एव उसके पूर्वमें घटाभावत्वेन घटाभाव ज्ञान की सत्ता अनिवार्य होनेसे अभावत्व अंशमें विशेषणरूप से घटाभाव का ज्ञान अवश्य होगा । अतः उस प्रत्यक्ष द्वारा अभावत्व में निर्विकल्पकज्ञानविषयत्व का आपादान नहीं हो सकता । तथा यदि यह कहा जाय कि-"घटाभावाभावत्व और घटत्व एक है तो जैसे घटत्व में शुद्ध निर्विकल्पक की विषयता होती है उसी प्रकार अभावत्व में भी शुद्ध निर्विकल्पकीयविषयता की आपत्ति होगी ।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि विशेष्यतानवच्छिन्ननिर्विकल्पकीयविषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष के उद्भव में अभावत्वभेद को कारण मानने से इस आपत्ति का परिहार हो सकता है ।"—किन्तु यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि इस प्रकार कार्यकारणभाव मानने पर विशेष्यतानवच्छिन्ननिर्विकल्पकीयविषयतासम्बन्ध से घटत्व का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि घटत्व और घटाभावाभावत्व में ऐक्य होने से घटत्व में अभावत्व भेद नहीं है । यदि इस दोष का परिहार करने के लिए विशेष्यतानवच्छिन्ननिर्विकल्पकीयविषयता में भावाऽवृत्तित्व विशेषण दिया जाये तो अप्रसिद्धि दोष हो जायेगा क्योंकि उक्त प्रकार की सभी विषयता भावमें ही वृत्ति होती है । अभाव और अभावत्व में रहनेवाली समस्तविषयतायें प्रतियोगिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविषयता से अवच्छिन्न ही होती है । इसलिये भाव में अवृत्ति हो ऐसी विशेष्यतानवच्छिन्ननिर्विकल्पकीयविषयता प्रसिद्ध नहीं हो सकती ।

(अभाव का अभाव प्रतियोगी से भिन्न मानने पर भी गौरव)

यदि इसके उत्तरमें नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-"अभावाभाव भी भावात्मकप्रतियोगी स्वरूप न मानकर अतिरिक्त अभावरूप ही मानेंगे क्योंकि अभावाभाव को प्रतियोगी से भिन्न मानने पर विभिन्न अभाव की कल्पना में जो अनवस्था का प्रसङ्ग होता है उसका परिहार तृतीय अभाव को प्रथम अभाव रूप मानकर हो सकता है"-तो यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि अनंतअभाव की कल्पना और उनमें अभावत्व की कल्पना में अधिक गौरव है । उसकी अपेक्षा अवश्यस्वीकार्य अधिकरणों में अभावात्मक एक परिणाम मानने में लाघव है । क्योंकि अधिकरणो में अभावात्मक पर्याय अनुभव सिद्ध है । यदि अधिकरण को छोडकर स्वतन्त्र रूपसे 'अयमभावः' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध हो तब तो अधिकरण से भिन्न अभाव की कल्पना को अवसर मीलता । किन्तु अनुभव यह है कि जिन अधिकरणोंमें अभाव की प्रतीति होती है उन अधिकरणों का स्वरूप ही प्रतियोगीसत्ता के आरोप से तथा प्रतियोगी ज्ञान आदि कारणों के सन्निधान से अभावत्व रूपसे भासमान होता है ।

अप्रमेयत्वाभावः स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन तत्तत्प्रमेयभेद एव च प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन भासते । न च तथापि तद्घटाऽज्ञानेऽपि घटान्तरज्ञानाद् घटाभावप्रत्यक्षे समनियताभावस्यैक्ये एकधर्मावच्छिन्नाज्ञानेऽन्यधर्मावच्छिन्नज्ञानेऽपि तदवच्छिन्नाभावप्रत्यक्षे व्यभिचारः, तदभावप्रत्यक्षे तदभावज्ञानत्वेन हेतुत्वादिति न दोष इति चेत् ? न, द्रव्यत्वादिना तदभावाभावज्ञानेऽपि तदभावाप्रत्यक्षात् ।

तदभावप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वे तु कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्य गुरुधर्मतया प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन 'कम्बुग्रीवादिमान् न' इति प्रत्यक्षानापत्तेः, तमःप्रत्यक्षे व्यभि-

(अभाव का स्वतन्त्रबोध न होने में तर्क–पूर्वपक्ष)

नैयायिक की ओर से इस पर यह पूर्वपक्ष उपस्थापित किया जाय कि-'घटाभावाभाव को घटस्वरूप मानने पर घटाभाव की अज्ञानदशा में जैसे घटका लौकिक प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार घटाभावाभाव के भी लौकिक प्रत्यक्ष होने की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तत्प्रतियोगिकाभाव के प्रत्यक्ष में तद्वस्तु का ज्ञान कारण होता है । अत एव स्वतन्त्ररूपसे घटाभाव का अवगाहन न कर के घटाभावाभाव का भान नहीं हो सकता । उक्त कार्यकारणभाव को स्वीकार करने में व्यभिचार आदि की प्रसक्ति भी नहीं है, क्योंकि अन्यप्रतियोगिकत्वरूप से अन्य अभाव का भान मान्य नहीं है ।–'उक्त प्रकार का कार्यकारणभाव मानने पर 'प्रमेयत्वं नास्ति' और 'प्रमेयं न' इस बुद्धि की अनुपपत्ति'–होने की आशङ्का भी नहीं की जा सकती । क्योंकि प्रमेयत्वं नास्ति' इस बुद्धि में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रमेयत्वाभाव का स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगीताकत्वरूप से भान हो सकता है । एवं 'प्रमेयो न' इस बुद्धिमें तत्तत्प्रमेयभेद का प्रमेयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप से भान हो सकता है । यदि यह कहा जाय कि–'घटाभाव का प्रत्यक्ष भी तद्घटप्रतियोगिकाभाव का प्रत्यक्ष है और वह तद्घट का भान न होने पर भी घटान्तर के ज्ञान से उत्पन्न होता है । इसलिये पूर्वोक्त कार्यकारण भाव में व्यभिचार होगा । एवं समनियताभाव के ऐक्य पक्षमें गुरुत्वाभाव और रसाभाव एक होता है अतः गुरुत्व को अज्ञानदशामें भी रसत्वावच्छिन्न के ज्ञान से गुरुत्व प्रतियोगिक रसाभाव का प्रत्यक्ष होता है । अतः इस प्रत्यक्ष में व्यभिचार होगा'· तो नैयायिक उस के निवारण में कह सकते हैं कि तदभावज्ञानत्वरूपसे तदभाव के प्रत्यक्ष में तज्ज्ञान को कारण मानने पर कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि तद्घट की अज्ञानदशा में घटाभाव का प्रत्यक्ष घटाभावत्वेन होता है, तद्घटाभावत्वेन नहीं होता, इसी प्रकार गुरुत्व की ज्ञानदशामें रसाभाव का प्रत्यक्ष रसाभावत्वेन होता है, गुरुत्वाभावत्वेन नहीं, अतः उद्भावित व्यभिचार को अवकाश नहीं है'—

[नैयायिक प्रोक्त कार्यकारणभाव में आपत्ति धारा]

किन्तु नैयायिक का यह पूर्वपक्ष अयुक्त है क्योंकि इस कार्यकारण भाव में भी अन्वय व्यभिचार स्पष्ट है, जैसे, द्रव्याभावाभाव का द्रव्यत्वेन ज्ञान होने पर भी द्रव्याभावाभावत्वेन प्रत्यक्ष नहीं होता ।

यदि इस दोष के परिहार के लिये कहा जाय कि तदभाव प्रत्यक्ष में तदभावप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को कारण माना जाय तो कम्बुग्रीवादिमत्त्वप्रकारक ज्ञान से 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति' इस प्रत्यक्ष की जो उत्पत्ति होती है वह नहीं होगी । क्योंकि 'कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति' इस प्रतीति के

चारात् , अभावे प्रतियोगितया घटादिव्याधानन्तरं 'न' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तेश्च । बदरादौ कुण्ड-संयोगादिधीकाले कुण्डाद्यभावधीवदभावे प्रतियोगितासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगितया घटवैशिष्ट्य-धीकालेऽपि प्रतियोगितासामान्येन तदभावधीसम्भवात् ।

विषयीभूत कम्बुग्रीवादिप्रतियोगिताकाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक लाघव होने से घटत्व माना गया है न कि कम्बुग्रीवादिमत्त्व । इस लिये यह प्रत्यक्ष प्रतियोगितावच्छेदक की अज्ञानवशा में ही होता है। तदुपरांत, उक्त कार्यकारण भाव तिमिरप्रत्यक्ष में व्यभिचार होनेसे भी प्रमाणिक नहीं हो सकता। क्योंकि तिमिर का प्रत्यक्ष भी तेजके अभाव का प्रत्यक्ष है किन्तु वह तेजस्त्वेन तेजोज्ञान के बिना ही उत्पन्न होता है। तथा, उक्त कार्य-कारणभाव मानने पर, अभाव में प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटका 'अभावो न घटीयः' इस प्रकार बाध निश्चय रहने पर घटाभाव के 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति भी होगी क्योंकि यह प्रत्यक्ष किसी को भी इष्ट नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि-"अभावो न घटोयः' इस बाधनिश्चय से अभावमें प्रतियोगितासम्बन्ध से घटभान का प्रतिबन्ध होकर 'न' इस आकार में घटाभावप्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती। क्योंकि 'अभावो न घटोयः' इस प्रतीति का स्पष्ट रूप है 'अभावः प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववान्'। इस प्रकार यह प्रतीति अभावयुग्म को स्पर्श करता है । इस प्रतीतिमें, विशेषणभूत अभाव में यदि प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव का भान अभावत्वावच्छेदेन माना जायगा तो विशेष्यभूत अभाव में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव अवगाही होनेसे यह बुद्धि आहार्य (इच्छानुसारी) हो जायेगी। अतः इस बुद्धि से अभाव में प्रतियोगितासम्बन्ध से घटभान का प्रतिबन्ध शक्य न होने के कारण 'न' इत्याकार प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती है। अब यदि यह बुद्धि विशेषण दल में अभावत्वसामानाधिकरण्येन प्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव को स्पर्श करेगी तो भी वह अभावत्वसामानाधिकरण्येन प्रतियोगितासम्बन्धेन घटप्रकारक-बुद्धि का प्रतिबन्ध न कर सकेगी । फलतः इस पक्षमें भी 'न' इत्याकारक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती" ।-किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है । व्याख्याकार ने इस पक्षको अयुक्तता बहुत अच्छे ढंग से बताई है। उनका कहना यह है कि -जैसे बदर में कुण्डसंयोग का ज्ञान होने पर भी संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक कुण्डाभाव का भान होता है, क्योंकि बदरमें कुण्ड संयोग का निश्चय होने पर भी कुण्डसंयोग कुण्डप्रतियोगीक न होने के कारण कुण्डसंयोगवत्ता का नियामक न होनेसे कुण्डवत्ता का विरोधी नहीं होता. इसलिये संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक कुण्डाभाव का ज्ञान होता है,-उसी प्रकार 'अभावो न घटीयः' इस निश्चयमें विशेषणभूत अभाव में घट प्रतियोगिता-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसम्बन्ध से रहने पर भी वह सम्बन्ध प्रतियोगितासामान्यसम्बन्धेन घटवत्ता का नियामक नहीं होता । अत एव उसके ज्ञानसे प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-घटसामान्याभाव का उससे विरोध नहीं होता । इसलिये अभाव में प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगितासम्बन्ध से घटकी बुद्धि होने पर भी अभावत्वावच्छेदेन प्रतियोगितासामान्यसम्बन्धाव-च्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव का अनाहार्य=स्वाभाविक निश्चय हो सकता है। अत एव उस निश्चय के रहने पर अभावमें प्रतियोगितासम्बन्धसे घटभान का प्रतिबन्ध सम्भव होने के कारण 'न' इस रूपमें घटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति हो सकती है।

अपि च एतद्देशानन्तप्रतियोगिज्ञानानामिन्द्रियसम्बद्धविशेषणता-रूपा-ऽऽलोकादीनां पृथगनन्तहेतु-हेतुमद्भावकल्पनापेक्षया लाघवादधिकरणस्यैव घटाभाववत्त्वेन ग्रहे कलशविशिष्ट-वैशिष्ट्यबोधस्थलीयमर्यादया निर्वाहः किं न कल्प्यते ?, अधिकरणस्वरूपाभावमात्रग्रहे इष्टा-पत्तेः, अभावत्वस्य च सप्रतियोगिकत्वेन प्रतियोगिग्रहं विनाऽग्रहात्, 'भावाभावरूपं जगत्' इत्युपदेशसहकृतेन्द्रियेण पद्मरागत्ववत् तद्ग्रहेऽपीष्टापत्तेर्वा।

(अभाव-अधिकरण भिन्नता पक्ष में कल्पनागौरव)

अभाव और अधिकरण के परस्पर भेद के विरुद्ध यह भी एक युक्ति है-यदि अभाव अधिकरण से भिन्न माना जायगा तो एक अधिकरण में प्रतीत होनेवाले घट-पटादि अनन्त अभावों को भूतलादि रूप एक अधिकरण से भिन्न मानना होगा और उन अभावों में एक अभाव के प्रतियोगी के ज्ञानसे अन्य अभाव का ज्ञान तो होता नहीं है इसलिये तत्तदभावज्ञानमें अनन्त तत्तत्प्रतियोगीज्ञान को कारण मानना होगा। तथा, अनन्त अभाव के साथ अनन्तइन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष को भी कारण मानना होगा। रूपवान् अधिकरण में ही अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है इसलिये अभाव के चाक्षुषमें अधिकरणगत रूप को कारण मानना होगा। इसी प्रकार आलोकाभावमें भी तत्तदभाव का ग्रहण नहीं होता इसलिये तत्तदभाव के चाक्षुषग्रहमें आलोक को भी कारण मानना पडेगा। तो इस प्रकार अभाव को अधिकरण से भिन्न मानने पर अभावबुद्धि और प्रतियोगीज्ञानादि में अनन्त कार्य-कारण भाव की कल्पना करनी होगी । यह कल्पना घटाभाव और अधिकरण में अभेद मानने की अपेक्षा अत्यन्त गौरवग्रस्त है।

(अभेद पक्ष में कल्पनालाघव)

अधिकरण और अभाव के अभेद पक्षमें लाघव है । जैसे, 'भूतलं घटाद्यभाववत्' इस प्रकारकी बुद्धिमें घटाविज्ञान को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि यह बुद्धि अभावांशमें घटत्वविशिष्टवैशिष्ट्यावगाही है और विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बोध के प्रति विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक विशेषणज्ञान की कारणता सिद्ध है अतः इसी कार्य-कारण भावके बलसे घटादि की अज्ञान-दशामें घटाभावाविरूप से अधिकरणज्ञान की उत्पत्ति की आपत्ति का परिहार हो जायेगा । अतः इस मत में अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञानादि की पृथक् कारणता की कल्पना नहीं करनी पडेगी। अभाव और अधिकरण के अभेद पक्षमें यदि यह आपत्ति दी जाय कि-'घटादिज्ञानके अभाव में भी भूतलादिज्ञान की सामग्री रहने पर घटाद्यभाव का ज्ञान हो जायेगा'-तो यह आपत्ति दोषरूप नहीं है। क्योंकि घटादिकी अज्ञानदशामें अधिकरणस्वरूपमात्र से घटादि अभाव का ज्ञान इष्ट ही है। एवं घटाद्यभावत्वेन भूतलादिरूप अधिकरणज्ञान की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि अभावत्व सप्रति-योगिक है, अत एव अभावत्व का ज्ञान जब होगा तब उसमें विशेषणविधया प्रतियोगी का भान अवश्य होगा, अतः तद्विशिष्टविषयक बुद्धिमें तज्ज्ञान कारण होनेसे प्रतियोगीज्ञान के बिना अभावत्व भानकी आपत्ति नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि भूतल और घटाभाव को अभिन्न मानने पर घटकी अज्ञानदशामें भी भूतलमें घटाभावत्व ज्ञानकी जो आपत्ति दी जाती है उसे इष्टापत्ति के रूपमें स्वीकार किया जा

'अधिकरणस्वरूपाभावाभ्युपगमे आधाराधेयभावानुपपत्तिः' इति चेत् ? न, धर्मिताऽऽख्य-स्याभेदस्याधारतानियामकत्वात् । 'कीदृशमधिकरणं घटाभावः' ? इति चेत् ? यादृशं तव घटाभावाश्रयः । "मम भूतले घटानयनदशायां घटाभावसम्बन्धापगमाद् 'घटो नास्ति' इति न व्यवहारः, तव तु तादृशस्यैव भूतलस्वरूपस्य सत्त्वात् तत्प्रामाण्यापत्तिः" इति चेत् ? न, तदा घटसंयोगपर्यायेण घटाभावपर्यायविगमात् । 'इदानीं घटाभावाभावो जातः' इति सार्वज-नीनानुभवात् । न चैवं भूतलादतिरेकः, पर्यायादेशादतिरेकेऽपि द्रव्यादेशादनतिरेकात् , पर्याय-द्वारा द्रव्यविगमस्यैक्यप्रत्यभिज्ञानाऽप्रतिबन्धित्वात् , 'श्याम उत्पन्नः रक्तो विनष्टः' इति वैधर्म्य-ज्ञानकालेऽपि 'स एवायं घटः' इति प्रत्यभिज्ञायाः सर्वसिद्धत्वात् ।

सकता है । क्योंकि जिसको "भावाभावरूपं जगत्=संसार की प्रत्येक वस्तु भावाभावोभयात्मक है" यह उपदेश प्राप्त है उसे इन्द्रियमात्रसे भी प्रत्येक वस्तु में अभावत्व का ज्ञान उसी प्रकार हो सकता है जैसे पद्मराग के उपदेश से सहकृत इन्द्रिय से पद्मरागत्व का ज्ञान हो जाता है।

[आधार-आधेय भाव की उपपत्ति]

यदि यह शङ्का हो कि-"अभाव और अधिकरणमें भेद मानने पर भूतलादि और घटादि में आधाराधेयभाव नहीं होगा।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिकरणमें अभाव का धर्मितारूप अभेद मान्य है और यह अभेद आधारता का नियामक होता है । जिनमें धर्मधर्मिभाव नहीं होता है उनमें रहने वाला अभेद आधारता का नियामक नहीं होता। जैसे तद्घटत्वावच्छिन्नमें तद्घटत्वावच्छिन्न का अभेद आधारता का नियामक नहीं होता । किन्तु तद्घटमें विद्यमान धर्म और तद्घटरूप धर्मि का अभेद धर्मितारूप होनेसे तद्घटमें उसके धर्मको आधारता का नियामक होता है, यथा 'तद्घटः तद्रू-पवान्' इस प्रतीति से सिद्ध है।

[कैसा अधिकरण घटाभाव ?]

अभाव और अधिकरण के अभेद में 'कीदृशं अधिकरणं घटाभावः=कैसा अधिकरण घटाभाव है-?' इस प्रश्न के समाधान की अशक्यता भी नहीं मानी जा सकती । क्योंकि अधिकरण और अभावके भेद पक्षमें 'कीदृशं अधिकरणं घटाभावाश्रयः=कैसा अधिकरण घटाभाव का आश्रय है ?' इस प्रश्न का जैसा समाधान होगा उसी प्रकार का समाधान 'कीदृशं अधिकरणं घटाभावः' इस प्रश्न का भी हो सकता है। आशय यह है कि अधिकरण और अभाव के भेद मानने वाले को 'कीदृशं अधि-करणं घटाभावः' इस प्रश्न का उत्तर यही देना होगा कि 'जिस अधिकरणमें घटाभावप्रकारक बुद्धि का प्रामाण्य लोकसम्मत है वही घटाभाव का अधिकरण होता है।'-तो यही उत्तर अभाव और अधिकरण के अभेद पक्षमें भी दिया जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जिस अधिकरण में घटाभाव बुद्धि का प्रमात्व लोकमान्य है वही अधिकरण घटाभाव स्वरूप है।

यदि यह शङ्का की जाय कि—अभाव और अधिकरण के भेद पक्षमें भूतलमें घटानयन होने पर भूतल के साथ घटाभाव का सम्बन्ध टूट जानेसे 'घटो नास्ति' यह व्यवहार नहीं होता किन्तु अधि-करण और अभाव के अभेदपक्षमें घटानयन पूर्व जो भूतल स्वरूप था, घटको लाने पर भी वह स्वरूप

एतेन 'एवं दुःखध्वंसरूपमोक्षस्यात्मानतिरेकेणासाध्यत्वादपुरुषार्थत्वं स्यात्' इत्यादि बाधकं निरस्तम्, आत्मनोऽपि पर्यायतया साध्यत्वात् । परस्य तु घटानयनदशायां भूतले घटाभावव्यवहारप्रामाण्यापत्तिः, भूतलस्वरूपस्य संबन्धस्य सत्त्वात् । 'तदभावभ्रमदर्शनेन

अक्षुण्ण रहता है । अत एव उस कालमें भी 'भूतले घटो नास्ति' इस व्यवहार के प्रामाण्य की आपत्ति होगी ।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घटसंयोग और घटाभाव ये दोनों ही भूतल के परस्पर विरोधी पर्याय है । अतः घटानयन कालमें घटसंयोगरूप पर्याय का उदय होनेसे घटाभावरूप पर्याय का अभाव हो जाता है, । अत एव उस दशामें 'भूतले घटाभावः' यह व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि व्यवहारके प्रामाण्यके लिये व्यवहार कालमें व्यवहर्तव्य की सत्ता अपेक्षित होती है ।

[द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद सम्मत है]

यदि यह कहा जाय कि-'पर्याय तो उत्पत्ति-विनाशशाली होता है । किन्तु घटाभाव उत्पत्ति विनाशशाली नहीं होता अतः उसे भूतल का पर्याय कहना उचित नहीं है ।'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि भूतलसे घटको हठा देने पर "इदानीं भूतले घटाभावो जातः=अब भूतलमें घटाभाव उत्पन्न हुआ" इस प्रकार का अनुभव सर्वजनप्रसिद्ध है ।

यदि इस पर यह शङ्का हो कि "अभाव को उत्पन्न मानने पर तो भूतलसे उसका भेद ही सिद्ध होगा । क्योंकि भूतल से घटको हठाने पर "इदानीं भूतलं जातं" यह अनुभव नहीं होता किन्तु 'भूतले घटाभावो जातः' यही अनुभव होता है ।"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भूतल एक द्रव्य है और घट-संयोग तथा घटाभाव उसके पर्याय है । पर्याय और द्रव्य में भेदाभेद होता है । अतः पर्याय की दृष्टि से अभाव में भूतल का भेद होने पर भी द्रव्य की दृष्टि से घटाभाव में भूतल का भेद उत्पन्न हो सकता है । भूतल में घटाभाव उत्पन्न होने पर घट संयोगात्मक पर्याय की निवृत्ति होने से उसके द्वारा यद्यपि भूतल द्रव्य का भी विगम हो जाता है । फिर भी घटवत्कालीन भूतल और घटाभाव कालीन भूतल में ऐक्य की प्रतिज्ञा में बाधा नहीं हो सकती । क्योंकि पर्यायद्वारक द्रव्य का विगम ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा का विरोधी नहीं होता है । इसलिये 'श्यामः घटः उत्पन्नः' 'रक्तो घटः नष्टः' इस प्रकार श्यामात्मना घट की उत्पत्ति और रक्तात्मना घट का नाश होने पर भी स एवायं घटः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का होना सर्व सम्मत है ।

[अभाव-अधिकरण-अभेद पक्ष में मोक्ष पुरुषार्थ की उपपत्ति]

इसीलिये-अभाव और अधिकरण के अभेद पक्ष में-"दुःखध्वंसरूप मोक्ष में आत्मा का भेद न होने से आत्मा असाध्य होने के कारण मोक्ष भी असाध्य हो जायेगा इसलिये मोक्ष के पुरुषार्थत्व की हानि होगी अर्थात् पुरुष के लिये वह अभिलाष विषय नहीं रहेगा ।"—यह आपत्ति भी अभाव और अधिकरण की अभेद सिद्धि में बाधक नहीं हो सकती क्योंकि दुःखध्वंसरूप मोक्ष भी आत्मा का पर्याय है । अतः (दुःखाभावरूप)पर्यायात्मना आत्मा में भी साध्यत्व इष्ट है । आपत्ति तो सचमुच, अभाव और अधिकरण के भेद पक्ष में ही प्रसक्त होती है । जैसे, भूतल में घट के आनयनकाल में 'भूतले घटो नास्ति,' यह व्यवहार के प्रामाण्य की आपत्ति संभवित है । क्योंकि उस काल में नित्य होने के नाते घटाभाव भी है और भूतलस्वरूप उसका सम्बन्ध भी है । अतः सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों के विद्यमान होने से उक्त व्यवहार के प्रामाण्य का निराकरण सम्भव नहीं है ।

तस्य तदा न संबन्धत्वमि'त्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, उक्तोपलक्षणोपलक्षितस्वरूपानवच्छिन्न-सांसर्गिकविषयताघटितप्रामाण्यस्य *बाधज्ञानाद्युत्तेजकाऽप्रमाण्यज्ञानादौ निवेशे महागौरवात् ।

न च तदा भूतले घटाभावसंबन्धसत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धावच्छिन्नाधारताभावात् तदभाव-वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रका[illegible]लक्षण[illegible]नाम[illegible]दिति वक्तव्यम् ; धर्म-धर्मिस्वरूपा-

[नैयायिक मत में गौरव दोष]

यदि यह कहा जाय कि "घट वाले भूतल में भी घटाभाव की बुद्धि होती है और उसे भ्रम माना जाता है, इससे यह सिद्ध है कि उस समय भूतल स्वरूप घटाभाव का सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उस समय भूतल में घटाभाव का सम्बन्ध न होने से उस समय के 'भूतले घटो नास्ति' इस व्यवहार का प्रामाण्य दुर्घट है" तो यह शक्य नहीं है। क्योंकि भूतलस्वरूप सम्बन्ध से घटाभाव प्रकारक प्रामाण्य का निर्वचन असमानकालिकत्वसम्बन्ध से अप्रामाण्यज्ञानास्कंदितबाधज्ञानविशिष्ट भूतलस्वरूपनिष्ठ सांसर्गिकविषयताकज्ञानत्वरूप करना होगा। व्याख्या में उपलब्ध 'उक्तोपलक्षणोपलक्षितस्वरूपानवच्छिन्न' का अर्थ है असमान कालिकत्व सम्बन्ध से उक्तोपलक्षणोपलक्षितस्वरूप-वैशिष्ट्य अथवा उक्तोपलक्षणवैशिष्ट्य। यहाँ उक्तोपलक्षण का अर्थ है भूतल में घटानयन काल में होने वाला अप्रामाण्यज्ञानअस्कंदित 'भूतल में घटज्ञान' रूप बाधज्ञान। भूतल में घट की असत्त्व-दशा में उक्त बाधज्ञान सम्भव नहीं होता अतः उस काल में होने वाले घटाभाव ज्ञान की भूतल स्वरूप निष्ठ सांसर्गिक विषयता में असमान कालिकत्व सम्बन्ध से तादृश बाधज्ञानरूप उपलक्षण वैशिष्ट्य रहता है किन्तु भूतल में घटानयन दशा में भूतल में घटज्ञान हो जाता है अतः उसमें अप्रामाण्य ज्ञान होने पर ही भूतल में घटाभाव ज्ञान होता है। अत एव उस ज्ञान की सांसर्गिक विषयता तादृशज्ञान की समकालीन हो जाती है। अतः असमानकालिकत्व सम्बन्ध से तादृशज्ञान विशिष्ट भूतलस्वरूपनिष्ठ संसर्गताकत्व न रहने से उक्त ज्ञान में घटाभाव प्रकारक प्रमात्व की आपत्ति नहीं हो सकती-किन्तु भूतल स्वरूप सम्बन्ध से घटाभाव प्रकारक प्रामाण्य का ऐसा निर्वचन करने पर उसके गर्भ में असमान कालिकत्व सम्बन्ध से अप्रामाण्य ज्ञान विशिष्ट बाध ज्ञान का निवेश करने से महागौरव होगा। तथा, जब अधिकरण और अभाव में अभेद माना जाता है तब भूतल में घटानयन काल में घटाभाव रूप पर्याय का विगम हो जाने से ही 'भूतले घटो नास्ति' इस व्यवहार के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि तत्काल में तद्धर्मी में तद्व्यवहार के प्रामाण्य का नियामक है तत्कालावच्छेदेन तद्धर्मी में तत्प्रकारकबुद्धि जनकत्व'। अतः इस कल्पना की अपेक्षा पूर्व कल्पना में गौरव स्पष्ट है।

[आधारता का अभाव अप्रामाण्यरक्षक नहीं होगा]

यदि यह कहा जाय कि-"भूतल में घटानयन काल में घटाभाव का सम्बन्ध होने पर भी उस सम्बन्ध से भूतल में घटाभाव को आधारता नहीं होती इसलिये उस समय भूतल घटाभावाभाववाला

* 'विषयताघटितप्रामाण्यस्य बाधज्ञानाद्युत्तेजकाप्रामाण्यज्ञानादौ निवेशे' इस मूल पाठ को 'विषयताघटितप्रामाण्ये बाधज्ञानाद्युत्तेजकाप्रामाण्यज्ञानादिनिवेशे' इस रूप में रखना उचित प्रतीत होता है।

पराद्युचाराधारताया अप्यपरावृत्तेः, तादृशाधारताद्यभावकल्पनापेक्षया तदभावविगमकल्पनस्यैव न्याय्यत्वात् ।

अथाभावस्याधिकरणानतिरेके मृद्द्रव्यस्यैव घटप्रागभावत्वात् तदनिवृत्तौ घटानुत्पत्तिप्रसङ्गः, कपालादेरेव घटनाशत्वेन तन्नाशे प्रतियोग्युन्मज्जनप्रसङ्ग इति चेत् ? न, प्रागभावप्रध्वंसयोर्द्रव्य-पर्यायोभयरूपत्वेनानुपपत्त्यभावात् । तथाहि–व्यवहारनयादेशाद् घटपूर्ववृत्तित्वविशिष्टं स्वद्रव्यमेव घटप्रागभावः घटोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्टं च स्वद्रव्यमेव घटध्वंसः, पूर्वकालवृत्तित्वादिकम् च परिचायकम् न तु विशेषणम् आत्माश्रयात् , विशिष्टस्य अतिरिक्तत्वेनानतिप्रसङ्गाच्च ।

हो जाता है । अतः घटाभावाभाववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नघटाभाव प्रकारकत्व रूप अप्रामाण्य की हानि नहीं हो सकती और घटाभावप्रकारकप्रामाण्य को आपत्ति भी नहीं हो सकती । क्योंकि घटाभावप्रकारक प्रामाण्य घटाभाववद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न घटभावप्रकारकत्व रूप है और घटानयन दशा में भूतल घटाभाववान् हो नहीं सकता क्योंकि तत्कालीन घटाभाव का सम्बन्ध घटाभाव की आधारता का नियामक नहीं है" ।– तो यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि घटानयन काल में भूतल और घटाभाव के स्वरूप में कोई परिवर्तन न होने से भूतल में घटाभाव की आधारता का भी विरह नहीं मान सकते । दूसरी बात यह है कि अभाव और अधिकरण के भेद पक्ष में घटानयन काल में भूतल में घटाभाव की आधारता के अभाव की कल्पना करनी होती है । उसकी अपेक्षा घटाभाव की निवृत्ति की कल्पना करना ही न्यायोचित है । क्योंकि घटाभावाधारता के अभाव से घटाभाव का अभाव लघुशरीरक है ।

(प्रागभाव-ध्वंस दोनों की अनुपपत्ति की आशंका)

नैयायिकों की ओर से यदि यह शङ्का की जाय कि–"अभाव और अधिकरणमें ऐक्य मानने पर मिट्टी द्रव्य ही घटप्रागभाव होगा । अतः घटकी उत्पादक सामग्री का सन्निधान होने पर घटप्रागभाव की निवृत्ति होने से मिट्टी द्रव्य भी निवृत्त हो जायेगा । इसलिये मूल कारण का अभाव हो जाने पर घटकी उत्पत्ति नहीं होगी अथवा मिट्टी द्रव्य के बने रहने से घटप्रागभाव की निवृत्ति न होने के कारण भी घटकी अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । क्योंकि घटप्रागभाव और घट दोनों का एक कालमें अस्तित्व नहीं हो सकता । एवं कपालमें घट का नाश इस मतमें कपालादिरूप होगा अतः कपाल का नाश होने पर घट का भी नाश हो जाने से घटके पुनः अस्तित्व की आपत्ति होगी"—

(अभाव द्रव्य-पर्याय उभयस्वरूप है)

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस को द्रव्यपर्याय उभयस्वरूप मानने से कोई दोष नहीं हो सकता । जैसे, व्यवहार नय की दृष्टि से घटपूर्ववृत्तित्वविशिष्ट मिट्टी द्रव्य ही घटप्रागभाव है और घटोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्ट मिट्टी द्रव्य ही घटध्वंस है । इस निर्वचनमें वृत्तित्वपर्यन्तभाग परिचायक है विशेषण नहीं क्योंकि उसे विशेषण मानने पर आत्माश्रय दोष लगेगा । जैसे, घटपूर्ववृत्तित्व का अर्थ घटप्रागभावाधिकरणकालवृत्तित्वरूप होगा, अतः उसको विशेषण मानने पर घट-

ऋजुसूत्रनयादेशाच्च प्रतियोगिप्राच्यक्षण एव प्रागभावः, उपादेय क्षण एव चोपादानध्वंसः। न च तत्पूर्वोत्तरक्षणयोघटोन्मज्जनप्रसङ्गः, तत्संतानोपमर्दनस्यैव तदुन्मज्जननियामकत्वादिति व्यक्तं स्याद्वादरत्नाकरे।

प्रागभावकाल वृत्तित्वविशिष्ट स्वद्रव्य की स्थिति घटप्रागभाव की स्थिति के आधीन हो जायेगी। क्योंकि विशेषण के स्थिति कालमें ही विशिष्ट की स्थिति हो सकती है। अतः घटप्रागभाव अपनी स्थिति में आत्माश्रयदोष से ग्रस्त हो जायेगा। तथा, उसे विशेषण मानने पर ज्ञप्ति में भी आत्माश्रय होगा। क्योंकि घटप्रागभाव के विशेषण कुक्षि में घटप्रागभाव का प्रवेश हो जाता है और विशिष्टबुद्धिमें विशेषणज्ञान कारण होता है, इसलिये घटपूर्वकालवृत्तित्वविशिष्टद्रव्य [illegible] घटप्रागभाव के ज्ञानमें घटप्रागभाव का ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है। एवं घटध्वंस के शरीर में प्रविष्ट घटोत्तरकालवृत्तित्व भी घटध्वंसाधिकरणकालवृत्तित्वरूप है। अतः उसे भी विशेषण मानने पर घटोत्तरकालवृत्तित्वविशिष्ट मिट्टीद्रव्यकी स्थिति घटध्वंस के अधीन हो जायेगी। अतः घटध्वंस भी अपनी स्थितिमें आत्माश्रय ग्रस्त हो जायेगा। एवं यहाँ भी ज्ञप्ति में आत्माश्रय होगा, क्योंकि घटध्वंस के विशेषण भाग में घटध्वंस का प्रवेश हो जानेसे उसके ज्ञानमें घटध्वंस का ज्ञान अपेक्षणीय हो जायेगा।

[आत्माश्रय दोष का परिहार]

घटपूर्वकालवृत्तित्व और घटोत्तरकालवृत्तित्व को प्रागभाव और ध्वंसके शरीर में परिचायक मानने पर यह आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि परिचययोग्य की स्थिति परिचायक की स्थिति के अधीन होती नहीं है। अत एव उसे परिचायक मानने पर ज्ञप्ति में भी आत्माश्रय नहीं होगा। क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व 'मृद्द्रव्यं घटः' यह जो प्रतीति होती है वह मिट्टी द्रव्य में पूर्वकालवृत्तित्व सम्बन्धसे घटप्रकारक मानी जायेगी एवं 'मृद्द्रव्यं घटध्वंसवत्' यह प्रतीति उत्तरकालवृत्तित्वसम्बन्धसे मृद्द्रव्यमें घटप्रकारक होगी। सम्बन्ध के शरीरमें प्रागभाव और ध्वंस का प्रवेश होने पर भी प्रागभाव और ध्वंस की ज्ञप्ति में आत्माश्रय नहीं होगा, क्योंकि सम्बन्ध के भान के लिये उसके पूर्वज्ञान की अपेक्षा नहीं होगी।

यदि यह शङ्का की जाय कि–"मृद्द्रव्य को ही घटप्रागभाव और घटध्वंस रूप मानने पर दोनोंमें ऐक्य हो जायेगा। जिसके फलस्वरूप घटध्वंस कालमें घटप्रागभाव के व्यवहार की और घटप्रागभाव कालमें घटध्वंस के व्यवहार की आपत्ति होगी"–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि विशिष्टवस्तु विशेषण और विशेष्य दोनों से अतिरिक्त होती है अतः उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता।

(पूर्वोत्तरक्षणात्मक प्रागभावध्वंस-ऋजुसूत्र)

ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि से प्रतियोगीका पूर्वक्षण प्रागभाव है और उसका उपादेय याने कार्यक्षण है प्रतियोगीरूप कारण का ध्वंस।

यदि यह शङ्का की जाय कि–"यदि प्रतियोगी का प्राच्यक्षण ही उसका प्रागभाव है और उसका कार्यक्षण उसका ध्वंस है तो प्रतियोगी के पूर्व तृतीयक्षणमें और प्रतियोगी के उत्तर तृतीयक्षणमें प्रतियोगी के अस्तित्व की आपत्ति होगी। क्योंकि उन क्षणों में प्रतियोगी सत्ता का विरोधी प्रागभाव अथवा ध्वंस नहीं रहता"–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी के सन्तान का उपमर्दन ही प्रतियोगी के उन्मज्जन का नियामक हो सकता है। प्रतियोगी के पूर्वतृतीयक्षणमें और प्रतियोगी के उत्तर

अथ 'मुद्गरपाताद् विनष्टो घट' इति प्रतीत्याऽतिरिक्तनाशानुभवः, नहि भूतलं तद्बुद्धिर्वा तज्जन्या, तेन विनापि तयोः सत्त्वादिति चेत् ? न, मुद्गरपातेन कपालकदम्बकोत्पादरूपस्यैव विभागजातस्य घटध्वंसस्य स्वीकाराद्, तद्ध्वंसोत्तरं संयोगविशेषेण कपालोत्पत्तिस्वीकारस्य कल्पनामात्रत्वात्, 'मुद्गरपातजन्यविलक्षणपरिणामवान् घट' इति प्रकृतवाक्यार्थत्वात् ।

एतेनेदं व्याख्यातम्—

दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र नियतं दृष्टस्तथा मुद्गरो
दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः ।

तृतीयक्षणमें प्रतियोगी का सन्तान विद्यमान रहता है । अतः उसके रहते हुये उसके उन्मज्जन की आपत्ति नहीं हो सकती।

आशय यह है कि वस्तुका पूर्वोत्तर सन्तान वस्तु का विरोधी होता है । अतः उसके रहते हुये वस्तुके उन्मज्जनकी आपत्ति नहीं हो सकती । वस्तु के उदयकालमें वस्तु का पूर्वोत्तर सन्तान नहीं होता अतः उसी समय वस्तु का सद्भाव होता है । यह विषय स्याद्वादरत्नाकर में विशेषतः स्पष्ट किया गया है।

[स्वतन्त्रनाश की प्रतीति की शंका का विलय]

यदि नैयायिक की ओर से यह शङ्का की जाय कि–'मुद्गर के प्रहार से घट नष्ट हुआ' इसी प्रकार घटनाश को मुद्गर प्रहार जन्यरूप से प्रतीति होती है । अतः घटनाश को भूतल अथवा शून्य भूतल की बुद्धि से भिन्न मानना आवश्यक है । क्योंकि यदि घटनाश भूतल रूप या शून्य भूतल की बुद्धिरूप हो तो उक्त प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि भूतल और उसकी बुद्धि मुद्गर-घात के अभाव में भी होते हैं'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि मुद्गर के प्रहार से घट के अवयवों का विभाग होता है और उससे कपाल समूह की उत्पत्ति होती है । कपाल समूह की उत्पत्ति ही घट का ध्वंस है । अतः कपाल समूहोत्पादक में मुद्गरपातजन्यत्व होने से तद्रूप घटध्वंस में मुद्गर-पातजन्यत्व की प्रतीति में कोई बाधा नहीं हो सकती, एवं इस पक्ष में स्वतन्त्र घटध्वंस की प्रसक्ति भी नहीं होती।

यदि कहा जाय कि-''मुद्गरपात से घटध्वंस होने के समय कपालों का भी ध्वंस हो जाता है फिर भी घटध्वंस काल में जो कपाल का दर्शन होता है वह नवीन संयोग से कपालों की उत्पत्ति होने के कारण होता है अतः कपालोत्पाद मुद्गर पात जन्य नहीं है । इसलिये घटध्वंस को कपालो-त्पाद रूप मानने पर घटध्वंस में मुद्गरपातजन्यत्व की प्रतीति का समर्थन नहीं हो सकता''—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह निर्युक्तिक कल्पना मात्र है। क्योंकि मुद्गर का प्रहार होने पर कपाल-नाश न होने पर भी घट-अवयवों के विभाग से घट का नाश होना अनुभव सिद्ध है। इसलिये मुद्गर पात से घट का नाश होता है इसका यही अर्थ मानना उचित है कि घट मुद्गर से विलक्षण परिमाण को प्राप्त होता है। घट का यह विलक्षण परिणाम ही घट का नाश है।

उक्त निरूपण से इस कथन की भी व्याख्या करने की जरूर नहीं रह जाती कि—

तेनाभाव इति श्रुतिः क्व निहिता किंमात्र तत्कारणं
स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥१॥ इति ।

अथ कालविशेषविशिष्टाधिकरणेनैवाभावान्यथासिद्धाववयव्यादेरप्यसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत् ? न, कालविशेषस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेन तस्यैवाभावाऽवयव्यादिरूपत्वस्येष्टत्वात् , शबलवस्त्वभ्युपगमे दोषाभावादिति दिक् ।

प्राभाकरास्तु–घटवद्भूतलबुद्धिभिन्ना भूतलबुद्धिर्घटाभावः । न च घटवति घटाऽज्ञानदशायां तदभावापत्तिः, अन्याभावानभ्युपगमात् , तद्व्यवहारस्य च प्रतियोग्यधिकरणज्ञाने यावत्प्रतियोग्युपलम्भकसत्त्वे चेष्टत्वात् ।

[विभक्त कपालखंड ही घटनाश है]

"घट, मुद्गर और मुद्गरप्रहार के बाद कपाल समूह, बस इतनी ही वस्तुएँ देखने में आती हैं। इनसे अतिरिक्त अभाव जैसी कोई वस्तु देखने में नहीं आती। अतः मुद्गरपात के बाद कपाल समूह के वर्णन के समय जो अभाव पद का प्रयोग सुनने में आता है उसका कोई अतिरिक्त अर्थ और उसका कोई कारण युक्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता, कलश का केवल कपालसमूह रूप एक परिणाम मात्र ही दृष्टिगोचर होता है।"–इससे स्पष्ट है कि घटनाश कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है अपि तु घट के ऊपर मुद्गर का अभिघात होने पर कपालों के विभाग होने से जो अविभक्त कपाल समूह की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है वह घट का नाश है।

नैयायिक की ओर से इस पर यह शङ्का की जा सकती है कि "यदि कालविशेषविशिष्टाधिकरण से ही अभाव को अन्यथासिद्ध किया जायेगा तो अवयवी आदि की भी असिद्धि हो जायेगी। अर्थात् घट भी एक अतिरिक्त द्रव्य न हो कर घटानुभव कालविशेष विशिष्ट कपालसमूह स्वरूप ही रह जायेगा"। किन्तु यह शङ्का अनिष्ट आपादक नहीं है। क्योंकि कालविशेष यह द्रव्यपर्याय-उभयरूप होता है और वही अभाव और अवयवी आदि रूप भी होता है। उससे अतिरिक्त अभाव और अवयवी आदि की सत्ता नहीं होती। ❀ इस पर यह शङ्का करना भी उचित नहीं है कि-द्रव्य स्थिर होता है और पर्याय क्षणिक होता है इसलिये उभयरूपात्मक कोई वस्तु नहीं हो सकती—" क्योंकि शबल वस्तु अर्थात् अपेक्षाभेद से परस्पर विरोधी अनेक रूपात्मक वस्तु स्वीकारने में कोई दोष नहीं हो सकता।

❀ आशय यह है कि द्रव्य और तदाश्रित पर्याय–प्रवाह से अतिरिक्त काल की सत्ता नहीं है, इसलिये कालविशेषविशिष्टाधिकरण का अर्थ होता है पर्यायविशिष्ट द्रव्य। घटाभाव यह भूतल का एक पर्याय है, उस पर्याय से विशिष्ट भूतल से अतिरिक्त घटाभाव की सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार घटादि अवयवी भी मिट्टीद्रव्य का पर्याय है। पर्याय होने से उसको कालविशेष कहा जाता है और उस घटात्मक पर्यायरूप कालविशेष से विशिष्ट मिट्टीद्रव्यसे अतिरिक्त घटादि अवयवी की सत्ता भी नहीं होती। अतः कालविशेषविशिष्टाधिकरण से अतिरिक्त अवयवी की असिद्धि का आपादान इष्ट ही है।

न च बाधावतारदशायां तदापत्तिः, प्रतियोगिमत्त्वज्ञानस्यैव बाधकत्वेन तदानीमभावव्यवहारकाभावात् । न च बाधितव्यवहारस्य संवादापत्तिः, बाधितत्वेनैवाऽसंवादात् ।

(शून्य अधिकरणबुद्धि ही अभाव है—प्रभाकर)

मीमांसा दर्शन के प्रभाकर सम्प्रदाय का मत यह है कि 'घटवद् भूतलम्' इस बुद्धिसे भिन्न जो मात्र भूतल की बुद्धि होती है वही घटाभाव है । तात्पर्य यह है कि भूतलकी बुद्धि कालभेद से 'घटवद् भूतलं' और 'भूतल' इस प्रकार उत्पन्न होती है । इन बुद्धियों में जो भूतलबुद्धि जिस घट पटादि वस्तु के सम्बन्ध को विषय नहीं करती वह भूतलबुद्धि उस वस्तु का अभाव है । इस प्रकार भूतलस्वरूपमात्र को विषय करनेवाली सम्पूर्ण बुद्धि घटपटाद्यभावरूप है । किन्तु भूतलमात्र विषयक बुद्धि होने पर 'भूतले घटो नास्ति'–'पटो नास्ति' इत्यादि व्यवहार एक साथ नहीं होता । क्योंकि इन व्यवहारों में घटादि का ज्ञान और घटादि का अनुपलम्भ दोनों की अपेक्षा होती है । अतः भूतलस्वरूपमात्रविषयक बुद्धि घटपटादि निखिल वस्तु के अभावरूप होने पर भी उक्त बुद्धि काल में सभी अभावों के व्यवहार का प्रसङ्ग नहीं होता ।

(घट की विद्यमानता में अभाव को आपत्ति नहीं है)

यदि इस मत के विरुद्ध यह शङ्का की जाये कि "भूतलमात्रविषयक बुद्धि को ही घटाभाव मानने पर जिस समय भूतलमें घट विद्यमान है किन्तु किसी दोषवश अथवा किसी कारण को अनुपस्थितिवश घटज्ञान नहीं होता किन्तु भूतलस्वरूपमात्र का ज्ञान होता है उस दशा में भी भूतलमें घटाभाव की आपत्ति हो जायेगी" तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि भूतल स्वरूपमात्र विषयक बुद्धिसे अतिरिक्त घटाभाव का अस्तित्व न होनेसे घटाभाव की आपत्ति नहीं दी जा सकती और यदि भूतलस्वरूपमात्रविषयक बुद्धि रूप घटाभाव की आपत्ति देना हो तो वह इष्ट ही है क्योंकि घटकी सत्ता होने पर भी घटके अज्ञान कालमें भूतलमात्रविषयक बुद्धि होती ही है ।

यदि उक्त कालमें घटाभावकी आपत्ति न देकर घटाभाव व्यवहार की आपत्ति दी जाय तो यह भी उचित नहीं है । क्योंकि घटरूपप्रतियोगी-भूतलरूपअधिकरण का ज्ञान और घटरूप प्रतियोगी के अन्य सम्पूर्ण ग्राहकों के रहने पर 'भूतले घटो नास्ति' इस व्यवहार का होना इष्ट ही है ।

[घटवत्ता का ज्ञान होने पर भी अभावव्यवहार की आपत्ति की शंका]

यदि यह कहा जाय कि "अभाव व्यवहार के प्रति प्रतियोगी और अधिकरण का ज्ञान एवं प्रतियोगी के यावत् उपलम्भक को कारण मानने पर भूतल में घटवत्ता ज्ञान रहने पर भी 'भूतले घटो नास्ति' इस व्यवहार की आपत्ति होगी । क्योंकि उस समय घटाभाव व्यवहार के लिये सम्पूर्ण कारण विद्यमान है"-तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि अभावव्यवहार में प्रतियोगिमत्ता का ज्ञान प्रतिबन्धक है इसलिये उस समय अभावव्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती । इस संदर्भ में यह शङ्का हो सकती है कि-'यदि अधिकरण के स्वरूप मात्र की बुद्धि को ही अभाव माना जायेगा तो 'भूतलं घटवत्' इस ज्ञान से 'भूतलं घटाभाववत्' इस व्यवहार का बाध होने पर भी उस व्यवहार में अर्थसंवादित्व की आपत्ति होगी । क्योंकि इस व्यवहार का विषयभूत भूतलस्वरूपमात्रविषयक बुद्धि रूप अभाव उस व्यवहार के पूर्व में विद्यमान है । अतः अर्थसद्भाव पूर्वक होने से इस बाधित व्यवहार

न च प्रतियोगिमत्त्वानवगाह्यधिकरणबुद्धि-प्रतियोगिमत्त्वावगाह्यधिकरणबुद्ध्योर्विषयतया वृत्तौ किं केन बाध्यताम् प्रमात्वस्यापि साधारण्यात् ? इति वाच्यम्, अभावव्यवहारभ्रम-प्रमात्वानुरोधेन प्रतियोगिमत्त्वानवगाह्यधिकरणबुद्धेरधिकरणे विषयतया सत्त्वेऽपि घटाद्यभाव-त्वेन तत्राऽसत्त्वात् , यथा परेषां घटध्वंसस्य घटात्यन्ताभावत्वेन स्वात्मनि सत्त्वेऽपि घटध्वंसत्वेन तत्राऽसत्त्वम् , 'घटध्वंसे घटो ध्वस्तः' इत्यप्रत्ययात् ।

यद्वा, वस्तुगत्या यः प्रतियोगिमान् तज्ज्ञानभिन्नमधिकरणज्ञानमेव तदभावः आकाशाद्य-भावस्त्वधिकरणसामान्यज्ञानमेव । न चैवमननुगमः, वृत्तिमद्-ऽवृत्तिमदभावयोर्लक्ष्ययो-र्भेदेन लक्षणभेदात् ।

में अर्थसंवादित्व की आपत्ति होगी।' किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थसंवादित्व अर्थसद्भाव पूर्वकत्व प्रयुक्त न होकर अबाधितत्वप्रयुक्त होता है और उक्त व्यवहार घटज्ञान से बाधित हो जाता है। अत एव उसमें अर्थ-संवादित्व की आपत्ति नहीं हो सकती।

(घट-घटाभाव के व्यवहार में विरोधभंग की आपत्ति)

घटाऽनवगाहि भूतलमात्रविषयक बुद्धि को घटाभाव रूप मानने पर यह आपत्ति दी जा सकती है कि-"भूतल में घटाभाव व्यवहार और घटव्यवहार का जो परस्पर विरोध है वह नामशेष हो जायगा क्योंकि व्यवहार के विरोध का मूल होता है व्यवहारजनक बुद्धियों का विरोध। प्रकृत में घटाभाव व्यवहार का कारण है घटानवगाहि भूतलस्वरूपमात्रविषयक बुद्धि और घट व्यवहार का कारण है घटावगाहि भूतलविषयक बुद्धि। दोनों ही बुद्धियां विषयतासम्बन्ध से एक ही भूतल में रहती है अत एव उनमें विरोध न होने से तन्मूलक व्यवहारों में भी विरोध नहीं रहेगा। उक्त दोनों ही बुद्धियों में प्रमात्व विद्यमान है, अतः उन दोनों में एक को प्रमा और दूसरे को अप्रमा कह कर भी उनमें विरोध का उपपादन नहीं किया जा सकता। अतः 'भूतलं घटाभाववत्' इस व्यवहार को 'भूतलं घटवत्' इस व्यवहार से बाधित कह कर अर्थाऽसंवादित्व का उपपादन उचित नहीं हो सकता।-" किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि, यद्यपि घटावगाहिभूतलज्ञान का विषयतासम्बन्ध से अधिकरण भूतलमें घटानवगाहि भूतलज्ञान विद्यमान होता है किन्तु उस की सत्ता तादृशबुद्धित्वरूप से होती है, घटाभावत्व रूप से नहीं होती। ऐसा भी इसलिये मानना अनिवार्य है कि घटावगाहि भूतलज्ञानकाल में भूतल में घटा-भाव व्यवहार को भ्रम माना जाता है या वह भ्रमात्मक होता है। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि घटावगाहि भूतलज्ञानकाल में घटानवगाहि भूतलज्ञान अभावत्वेन भूतल में नहीं रहता। इस प्रकार 'घटवद्भूतल' इस ज्ञान और 'भूतलं' इस ज्ञानमें घटवद्भूतलवत्ताज्ञानत्व और घटाभावत्वरूप से विरोध मान लेनेसे समस्या का समाधान सुलभ हो जाता है। यह कल्पना अन्य विद्वानों को भी मान्य है अतः यह कल्पना अश्रद्धेय नहीं हो सकती। जैसे, न्यायमत में घटध्वंस में रहनेवाला घटात्य-न्ताभाव लाघवसे घटध्वंस स्वरूप माना जाता है। अतः घटध्वंस में घटध्वंस भी घटात्यन्ताभावत्वरूप से रहता है क्योंकि 'घटध्वंसे घटो नास्ति' यह व्यवहार प्रामाणिक है। किन्तु घटध्वंसत्वरूप से नहीं रहता क्योंकि 'घटध्वंसे घटो ध्वस्तः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है।

अथवा, आरोप्यसम्बन्धसामान्ये यदधिकरणानुयोगिकत्वयत्प्रतियोगिकत्वोभयाभावस्तद-धिकरणज्ञानत्वमेव तत्सम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रतियोगिताकाभावत्वम्–इत्याहुः ।

[प्रतियोगिमद्‌ज्ञान भिन्न अधिकरणज्ञान रूप अभाव)

घटवद्‌भूतल में घटविषयक अज्ञानदशा में घटानवगाही भूतलज्ञान सम्भव होने से उस दशा में भी भूतल में घटाभाव की आपत्ति का परिहार करने के लिये अभाव का एक अन्य प्रकार से भी लक्षण किया जा सकता है। जैसे, जो वस्तुतः प्रतियोगी का आश्रय हो उसके ज्ञानसे भिन्न अधिकरण का ज्ञान हो उसका अभाव है । यह लक्षण करने पर उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जिस समय भूतल में घट विद्यमान होगा उस समय का भूतल ज्ञान वस्तुतः घटवद्विषयक ज्ञान हो जाता है । अतः एव उस समय का भूतलज्ञान वस्तुगत्या प्रतियोगिमद्विषयक ज्ञानसे भिन्न अधिकरणज्ञान रूप न होनेसे घटाभावरूप नहीं हो सकता । इस विषय का स्पष्ट निर्वचन इस प्रकार हो सकता है-'स्वकालावच्छेदेन स्वविषयवृत्तितत्कालीनज्ञानभिन्नज्ञानम् तदभावः' ।=भूतल में घटज्ञानकाल में होनेवाला भूतल ज्ञान स्वकालावच्छेदेन स्वविषय भूतल में विद्यमान घट का समानकालीन हो जाता है । अत एव वह उससे भिन्न नहीं होता है, अत एव वह ज्ञान घटाभावरूप नहीं होता । जिस समय भूतलमें घट नहीं होता उस समय का भूतल ज्ञान स्वकालावच्छेदेन स्वविषय (भूतल) वृत्ति घट का असमानकालीन होता है, अत एव वही ज्ञान घटाभाव रूप हो सकता है ।

आकाश आदि का अभाव अधिकरणज्ञान सामान्यरूप ही है । क्योंकि आकाश आदि का कोई अधिकरण न होनेसे आकाशादि अभाव के सम्बन्ध में घटाभाव जैसी आपत्ति न हो सकेगी । यद्यपि घटादिअभाव और आकाशादि अभाव का इस प्रकार पृथक् निर्वचन करने पर लक्षण का अननुगम होता है, अर्थात्–सभी अभाव का एक साधारण लक्षण नहीं हो पाता । तथापि अभाव निर्वचन की इस व्यवस्था में दोष नहीं है क्योंकि, घटादि का अभाव वृत्तिमत्प्रतियोगिक अभाव है और आकाशादि का अभाव अवृत्तिमत्प्रतियोगिक अभाव है । अतः लक्ष्य का भेद होनेसे लक्षणमें भेद होना उचित ही है । यदि सभी अभावों का एक ही लक्षण करने का आग्रह हो तो वह भी दुष्कर नहीं है जैसे —

(आरोप्य सम्बन्ध में उभयाभावघटित अभावव्याख्या)

'आरोप्य संबन्ध सामान्य में यदधिकरणानुयोगिकत्व-यत्प्रतियोगिकत्व इन दोनों का अभाव हो, उस अधिकरण का ज्ञान तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाव रूप होता है ।' यह लक्षण आकाशादि के अभाव में भी घट सकता है । क्योंकि, आकाश कहीं भी किसी भी सम्बन्ध से नहीं रहता । अतः सभी सम्बन्ध आकाश के आरोप्यसम्बन्ध हैं और उन सभी सम्बन्धों में आकाशप्रतियोगिकत्व तथा सर्वानुयोगिकत्व उभय का अभाव है अतः सभी वस्तु का ज्ञान आकाश-अभाव रूप होता है ।

भूतल में जब घटका संयोग नहीं होता उस समय संयोग भूतल और घट का आरोप्य सम्बन्ध होता है, उसमें भूतलानुयोगिकत्व-घटप्रतियोगिकत्वोभय का अभाव होने से उस समय का भूतलज्ञान संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव रूप होता है । आरोप्यसम्बन्ध सामान्य का अर्थ है- 'अमुकाधिकरणविशेष्यकअमुकप्रतियोग्युपलम्भापादक-आरोपविषयअमुकसम्बन्धसामान्य । संयोगसम्बन्ध घटवद्‌भूतलविशेष्यकघटोपलम्भापादकारोपविषयसम्बन्ध सामान्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता क्योंकि घटवद्‌भूतल में संयोग विद्यमान होने से उसमें उसका आरोप संभव नहीं है, फलतः घटवद्‌भूतल विशेष्यक घटोपलम्भापादकारोपविषयसंयोगसामान्य में घटवद्‌भूतलानुयोगिकत्व-घटप्रतियोगिकत्वो-

तच्चिन्त्यम्, अभावस्याधिकरणबुद्धिरूपत्वे सूक्ष्मस्य केशादेर्जिज्ञासानुपपत्तेः, घटनाशस्य बुद्धिरूपत्वे च तन्नाशे तदुन्मज्जनापत्तेः, प्रतियोगिमद्भिन्नाधिकरणस्यैवाभावस्वरूपत्वे लाघवाच्चेति अन्यत्र विस्तरः । तस्माद् भावपरिणाम एवाभाव इति व्यवस्थितमेतत् **'भावो नाभावमेति'** इति ॥३८॥

अथ **'नाभावो भावतां याति'** इत्येतद् व्यवस्थापयन्नाह—

मूलम्—असतः सत्त्वयोगे तु तत्तथाशक्तियोगतः ।
नासत्त्वं तदभावे तु न तत्सत्त्वं तदन्यवत् ॥३९॥

भयाभाव अप्रसिद्ध होने से घटवद्भूतल में घटानवगाही भूतलज्ञान संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक घटाभावरूप नहीं हो सकता।

आशय यह है कि 'आरोप सम्बन्ध सामान्ये०' इत्यादि लक्षण का यह स्वरूप है कि यदधिकरण विशेष्यक यदुपलम्भापादकारोपविषय यत्सम्बन्धसामान्य में यदधिकरणानुयोगिकत्व-यत्प्रतियोगिकत्व उभयाभाव हो तदधिकरणविषयक ज्ञान तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभावरूप है ।

(प्रभाकरमत में दूषणपरम्परा)

प्रभाकर के उक्त मत के विरोध में व्याख्याकार का यह कहना है कि अभाव को अधिकरणज्ञानरूप मानने पर सूक्ष्मकेशादि की जिज्ञासा नहीं हो सकेगी । आशय यह है कि केशविहीन मस्तक रूप अधिकरणविशेषमें इस प्रकार की जिज्ञासा का होना अनुभव सिद्ध है कि 'मस्तक में भी सूक्ष्मकेश अथवा केशाभाव का निर्णय हो' । यह इच्छा केश और केशाभाव का संशय होने पर ही हो सकती है और यह संशय तभी हो सकता है जब केश और और केशाभाव में से किसी का निर्णय न हो । किन्तु यदि अभाव अधिकरण ज्ञानरूप होगा तो केशानवगाही मस्तकज्ञान ही केशाभाव होगा । अतः उस ज्ञान का निर्णय होनेपर केशाभाव निर्णीत हो जायेगा अतः केश और केशाभाव के संशय को अवसर नहीं होगा । फलतः 'केश अथवा केशाभाव का निर्णय हो' इस प्रकार की जिज्ञासा नहीं हो सकेगी ।

दूसरा दोष यह है कि अभाव के अधिकरणज्ञानरूप होने पर घटनाश भी घटनाशाधिकरण कपाल की बुद्धि रूप होगा । अतः उस बुद्धि का नाश होने पर घटनाश का भी नाश हो जानेसे घटके पुनः अस्तित्व की आपत्ति होगी । और, तीसरी बात यह है कि प्रतियोगीमत् अधिकरण ज्ञान से भिन्न अधिकरण ज्ञान को अभावस्वरूप मानने की अपेक्षा प्रतियोगीमत् भिन्न अधिकरण को अभाव रूप मानने में लाघव है । अतः अभाव और अधिकरण का ऐक्य स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु अभाव और अधिकरण ज्ञान का ऐक्य स्वीकार्य नहीं हो सकता । इस विषयका विशेष विचार अन्यत्र किया गया है ।

उपर्युक्त युक्तिओं के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अभाव भाव का एक परिणाम है । अत एव 'भाव अभाव नहीं होता' यह बात जो इस स्तबक की ११ वीं कारिकामें कही गई है उसमें कोई बाधा नहीं हो सकती ।।३८॥

असतः=एकान्ताऽसत्त्वेनाभिमतस्य, सत्त्वयोगे त्वभ्युपगम्यमाने, तस्य=असत्त्वेनाभिमतस्य, तथा=नियतरूपानुविद्धभविष्यत्तया, शक्तियोगतः=शक्तिसंबन्धात्, नासत्त्वं=नाऽत्यन्तासत्त्वम्, तादृशस्य शशशृङ्गवच्छक्त्ययोगात्। मा भूत् तादृशशक्तियोग इत्यत्राह –तदभावे तु=तथाशक्त्यभावे त्वभ्युपगम्यमाने, तदन्यवत्=अधिकृतव्यक्तिभिन्नवत्, न प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वम्, नियामकाभावात् ॥३९॥

अथ प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वं तद्व्यक्तिस्वरूपमेव, तद्व्यक्तेरुत्पत्तिश्च तज्जननशक्तिमतो हेतुविशेषादेव, न ह्येवं सत्कार्यापत्तिः, हेतुस्वरूपायाः शक्तेः प्राक् सत्त्वेऽपि कार्यस्वरूपायाः शक्तेरभावात्, इत्याशङ्कते—

[उत्पत्ति के पूर्व वस्तु सर्वथा असत् नहीं होती]

३९ वीं कारिका में 'अभाव भाव नहीं हो सकता' इस पूर्वोक्त विषय के समर्थन का प्रारम्भ किया गया है—कारिका का अर्थ इस प्रकार है-एकान्ततः जो असत् होता है उसमें सत्त्व का सम्बन्ध मानने पर उसमें सद्भवन की शक्ति माननी होगी किंतु शक्ति मानने पर वह एकान्ततः असत् नहीं हो सकता। क्योंकि, एकान्त असत् में सद्भवन शक्ति नहीं होती जैसे शशसींगमें। यदि उसके एकान्त असत्त्व की रक्षा के लिये उसमें सद्भवन शक्ति का अभाव माना जायगा तो उपर्युक्त शक्ति से शून्य शशसींग आदि के समान उसमें सत्त्व अर्थात् प्रतिनियत अर्थक्रिया का जनकत्व नहीं हो सकेगा क्योंकि उसका कोई नियामक नहीं होगा।

(नियतकार्योत्पादनशक्तिरूप से कार्य सत्ता)

कहने का अभिप्राय यह है कि-जो विद्वान् वस्तु को उसकी उत्पत्ति के पूर्व एकान्त असत् मानते हैं वे भी भविष्य में उसे नियतरूप (गुणधर्मों) से युक्त वस्तुके रूपमें स्वीकार करते हैं अतः उस रूपमें उद्भूत होने की शक्ति उसमें मानना आवश्यक है। क्योंकि, यह शक्ति जिसमें नहीं होती वह भविष्य में कभी भी नियत रूपसे युक्त वस्तु के रूप में बुद्धिगत नहीं होता। जैसे, शससींग आदि कभी भी नियतरूपसे सम्पन्न होकर बुद्धिगत नहीं होते। जब इस प्रकारकी शक्ति उत्पत्ति के पूर्व वस्तु में मानी जायेगी तो उसे उत्पत्ति के पूर्व एकान्त असत् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो अत्यन्त असत् है वह उक्त प्रकारकी शक्ति का आश्रय नहीं होता और यदि उसके एकान्त असत्त्व की उपपत्ति के लिये उक्तशक्ति से शून्य मानेंगे तो उसमें सत्त्व का कोई नियामक न होनेसे सत्त्व की प्राप्ति न हो सकेगी। क्योंकि सत् वही होता है जो नियतकार्य का उत्पादक होता है। नियतकार्य का उत्पादक वही होता है जिसमें नियत कार्योत्पादिका शक्ति होती है। शक्ति का आश्रय वही होता है जो एकान्ततः असत् न हो। इसलिये उत्पत्ति के पूर्व असत् मानी जाने वाली वस्तु भविष्यमें नियत कार्य का जनक उसी प्रकार न हो सकेगी जिसप्रकार उस नियतकार्यके उत्पादन में अधिकृत व्यक्ति से भिन्न व्यक्ति उसका उत्पादक नहीं होती ॥३९॥

४० वीं कारिकामें बौद्ध की ओर से असत्कार्यवाद के समर्थन की दृष्टि से एक आशङ्का प्रस्तुत की गई है—

मूलं—असदुत्पद्यते तद्धि विद्यते यस्य कारणम् ।
विशिष्टशक्तिमत्तच्च ततस्तत्सत्त्वसंस्थितिः ॥४०॥

तद्धि=तदेव वस्तु असदुत्पद्यते यस्य कारणं विद्यते । तच्च=कारणं विशिष्टशक्तिमत्, प्रतिनियतरूपानुविद्धकार्यजननशक्तियुक्तम्, ततो हेतोः तत्सत्त्वसंस्थितिः=तद्व्यक्तेः प्रतिनियतसत्त्वव्यवस्था ॥४०॥ अत्रोत्तरम्—

मूलम्-अत्यन्तासति सर्वस्मिन् कारणस्य न युक्तितः ।
विशिष्टशक्तिमत्त्वं हि कल्प्यमानं विराजते ॥४१॥

अत्यन्तासति=सर्वथाऽविद्यमाने कार्यजाते, कारणस्य युक्तितः=न्यायेन विशिष्टशक्तिमत्त्वं=प्रतिनियतजननस्वभावत्वं कल्प्यमानं न विराजते, सर्वथाऽवध्यभावात्, अविद्यमानव्यक्तिनामवधित्वेऽतिप्रसङ्गात्; कथञ्चिद्विद्यमानत्वेनैवावधित्वे नियमोपपत्तेः ॥४१॥

(कार्यरूपशक्ति का अभाव असत्कार्यवाद का समर्थक नहीं है)

तद्व्यक्ति में रहनेवाली नियतकार्य की उत्पादकता तद्व्यक्तित्व स्वरूप ही होती है। तथा, तद्व्यक्ति की उत्पत्ति उसी कारण से होती है जिसमें उस व्यक्ति की उत्पादिका शक्ति होती है। जैसे, घटमें विद्यमान जलाहरणरूप कार्य की उत्पादकता घटस्वरूप है और घटकी उत्पत्ति कपाल से होती है, क्योंकि उसमें घटोत्पादक शक्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नियत कार्यों को उत्पन्न करने वाली व्यक्ति की उत्पादिका शक्ति उस व्यक्ति के कारण में होती है। किन्तु वह व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के पूर्व स्वयं नहीं होती। इस पक्ष में वस्तु को यदि उसकी उत्पत्ति के पूर्व अत्यन्त असत् माना जाय तो भी नियत कार्योत्पादक रूप में उसका अस्तित्व उसके कारणों द्वारा सम्पन्न हो सकता है। ऐसा मानने पर कार्यको उत्पत्ति के पूर्व कार्यके सद्भाव की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि हेतुरूप कार्यजनिकाशक्ति कार्य अस्तित्व होनेपर भी कार्यरूप शक्ति का अभाव होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य में नियतरूपसे उत्पन्न होने की शक्ति होती है जो कार्यरूप ही होती है। एवं कारण में उत्पादन की शक्ति होती है जो कारण स्वरूप होती है। कारणस्वरूप शक्ति तो कार्योत्पत्ति के पूर्व रहती है, किन्तु कार्यस्वरूपशक्ति उत्पत्ति के पूर्व नहीं रहती। अत एव इस प्रक्रिया से कार्यकारण भाव मानने पर सत्कार्यवाद की आपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार शशशृङ्गादिकी उत्पत्ति का प्रसङ्ग भी नहीं हो सकता क्योंकि उसमें उत्पन्न होने की शक्ति ही नहीं है।

कारिका का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है, जो इस प्रकार है—उसी असत् की उत्पत्ति होती है जिसका कारण विशिष्ट शक्ति से-अर्थात् नियतरूपसे सम्पन्न कार्य को उत्पन्न करनेवाली शक्ति से, युक्त होता है। उस कारण से ही उस व्यक्ति की सत्त्वमें अर्थात् नियतकार्योत्पादकरूप में स्थिति होती है ॥४०॥

(असत् वस्तु उत्पादन की शक्ति का असंभव)

४१ वीं कारिकामें पूर्वोक्त आशङ्का का उत्तर दिया गया है—

कार्य को अत्यन्त असत् मानने पर उसे उत्पन्न करनेवाली शक्ति से युक्त कारण की कल्पना में कोई युक्ति नहीं है। क्योंकि, जो वस्तु अत्यन्त असत् होगी वह किसी की अवधि (उत्तरावधि) नहीं

मूलम्-तत्सत्त्वसाधकं तत्र तदेव हि तदा न यत् ।
अत एवेदमित्थं तु नवै तस्येत्ययोगतः ॥४२॥

पर आह-तत्सत्त्वसाधकं=तद्व्यवस्थापकम्, तत्=कारणम्, तस्यैव विशिष्टशक्तिमत्त्वं, तत्कारणव्यक्तित्वेन पूर्वावधित्वस्य तत्कार्यव्यक्तित्वेन चोत्तरावधित्वस्य संभवात् । न चैवं गौरवम्, वस्तुतोऽर्थस्य तथात्वादिति । अत्रोत्तरम्-न=नैतदेवम्, तदेव=विवक्षितकार्यसत्त्वम्, तदा=कारणकाले न, यद्=यस्मात्, असत्त्वाद् न तत्र हेतुव्यापार इत्याशयः । परआह-यत एव कार्यं प्रागसत्, अत एवेदं=कारणस्य तत्सत्त्वसाधकत्वम्, इत्थं तु=घटमानं तु, सत आकाशादेरिव साधकत्वानुपपत्तेः । अत्राह-न वै=नैतदेवम्, सर्वथाऽसति तस्मिन 'तत्सत्त्वसाधकं तत्' इत्यत्र 'तस्य' इत्यर्थायोगात्, सर्वथाऽसति शशशृङ्गादाविव षष्ठ्या अप्रयोगात् ॥४२॥

हो सकती । अर्थात् उसके लिये ऐसा कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता जिससे उसकी उत्पत्ति हो सके । क्योंकि जो वस्तु जिसमें विद्यमान नहीं है वह उस व्यक्ति की यदि अवधि (उत्तरावधि) मानी जाएगी अर्थात् उस कारण से यदि उस अविद्यमान (असत्) उत्तरावधिरूप कार्य की उत्पत्ति मानी जायेगी, तो सबसे सबकी उत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग होगा । क्योंकि सभी कार्यका असत्त्व सर्वत्र कारणों के लिए समान है । इसलिये उत्तरावधि रूप कार्य को कारण में कथञ्चित् विद्यमान मान कर ही उससे उसकी उत्पत्ति के नियम को उपपन्न किया जा सकता है ॥४१॥

(पूर्वावधि-उत्तरावधि की कल्पना निरर्थक)

४२ वीं कारिका में बौद्ध की ओर से पुनः असत् कार्य के समर्थन की दूसरी युक्ति प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

बौद्ध का यह कहना है कि जो जिस कार्य का कारण होता है वही उसके सत्त्व का साधक= उत्पादक होता है । तत्कार्य कारणत्व को ही तत्कार्योत्पादन शक्ति कही जाती है, इस प्रकार तत्कार्य-कारणत्व ही तत्कार्य के पूर्वावधित्व का नियामक है, अर्थात् जिस व्यक्ति में जिस कार्य का कारणत्व होता है वही उस कार्य की पूर्वावधि होता है, उसी पूर्वावधिसे उसकी उत्पत्ति होती है । जो जिस व्यक्ति का कार्य होता है वह उस व्यक्ति का उत्तरावधि होता है । जो जिसका उत्तरावधि होता है उसीकी उससे उत्पत्ति होती है । इसलिये कार्य की उत्पत्ति के पूर्व अत्यन्त असत् मानने परभी अवधि का सर्वथा अभाव होनेसे सबसे सबकी उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं हो सकता । क्योंकि सबमें सबकी कारणता नहीं होती । इस कल्पना में कोई गौरव नहीं है क्योंकि कार्यकारणभूत वस्तु की यही वास्तविक स्थिति है ।

इस कथन के उत्तरमें ग्रन्थकार का यह कहना है कि बौद्ध का उक्त कथन समीचीन नहीं हो सकता । क्योंकि, कारणकालमें कार्य की सत्ता न होनेपर उसके सम्बन्ध में कारण का कोई व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि असत् के सम्बन्ध में किसीका कोई व्यापार उपलब्ध नहीं होता ।

अथ सत्त्वं न तावत् सत्तासम्बन्धः, व्यक्तिव्यतिरेकेण विशददर्शने तदनवभासात् दृश्याऽदृष्टौ चाभावसिद्धेः । न च 'सत् सत्' इति कल्पनाबुद्ध्या तदध्यवसायः, तत्रापि बहिःपरिस्फुटव्यक्तिस्वरूपान्तर्नामोल्लेखाध्यवसायव्यतिरेकेण सत्तास्वरूपाप्रकाशनात् । सत्ताया अपि सत्तान्तरयोगेन सत्त्वेऽनवस्थानाच्च । नापि स्वरूपतः ✻ सत्त्वम्, स्वप्नावस्थावगतेऽपि पदार्थात्मनि स्वरूपसद्भावात् सत्त्वप्रसक्तेः, परिस्फुटसंवेदनावभासनिर्ग्राह्यत्वात् स्वरूपस्य संनिहितत्वेनैव तदनुभवात्, 'असदिदमनुभूतम्' इति स्वप्नोत्तरप्रतीतेः ।

(असत् के लिये ही कारण व्यापार का होना असंगत है)

इस उत्तर के प्रतिवादमें बौद्ध का पुनः यह कहना है कि यतः कार्य उत्पत्ति के पहले असत् होता है इसलिये उसके सत्त्व का साधन करने के लिये कारण का व्यापार होना सङ्गत होता है । यदि वह असत् न होता तो कारण का व्यापार ही निरर्थक हो जाता । जैसे, सत् आकाशादि की सत्ता के साधन के लिये कोई व्यापार नहीं होता ।

इसके उत्तरमें मूलग्रन्थकार का यह कहना है कि बौद्ध का यह तर्क भी समीचीन नहीं है । क्योंकि, कार्यको उत्पत्ति के पूर्व सर्वथा असत् मानने पर 'कारण उसके सत्त्व का साधन होता है' यह कहना ही सम्भव न हो सकेगा । क्योंकि 'उसके सत्त्व' इस प्रयोग में सत्त्व शब्द के सन्निधान में पूर्व में कार्यपरक 'उस' शब्द के उत्तर होने वाली षष्ठी विभक्ति का संबंध रूप अर्थ सम्भव न होने से शब्द के उत्तर षष्ठी का प्रयोग उसी प्रकार असङ्गत होगा जिस प्रकार शृंग शब्द के सन्निधान में कार्यपरक शश शब्द के उत्तर षष्ठी का प्रयोग असङ्गत होता है ।।४२।

"सत्त्व शब्द के सन्निधान में असत् कार्य बोधक पद के उत्तर षष्ठी का प्रयोग सङ्गत नहीं हो सकता–" इस कथन के विरुद्ध बौद्ध की ओर से ४३ वीं कारिका में एक विस्तृत आशंका व्यक्त की गयी है जिसका उत्तर का० ४४ में दिया जायगा।

(बौद्ध के द्वारा 'सत्त्व अर्थात् सत्तासंबन्ध' इस अर्थ का खण्डन)

बौद्ध का यह अभिप्राय है कि सत्त्व को सत्ता सम्बन्ध रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानमें व्यक्ति से भिन्न सत्ता का भान नहीं होता और यदि सत्ता दृश्य होकर भी अदृष्ट होगी तो दृश्याऽदर्शन यानी योग्यानुपलब्धि से उसका अभाव सिद्ध हो जायेगा ।

'इदं सत्' 'इदं सत्' इस प्रकार की कल्पना बुद्धि से सत् शब्दसे उल्लिख्यमान बुद्धि से भिन्न किसी सत् वस्तु प्रतीत होती नहीं, अतःअतिरिक्त सत्ता की सिद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि उक्त बुद्धि होने परभी सत्ता के किसी ऐसे स्वरूप का भान नहीं होता जो 'सत्' इस नाम का उल्लेख करने वाले अध्यवसाय से भिन्न वस्तुसत् हो । सत् इस नामके अनुरोध से भी सत्ता का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि-नाम भी वस्तु के स्वरूप में ही अन्तर्भूत हो जाता है क्योंकि वस्तु के साथ ही उसका भी बहिरिन्द्रिय सापेक्ष स्फुट प्रत्यक्ष होता है । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि यदि पदार्थ के साथ सत्ता सम्बन्ध ही पदार्थ का सत्त्व होगा तो सत्ता का भी सत्त्व सत्ता सम्बन्ध से ही स्वीकार करना होगा और इसके लिये मूल सत्ता से अतिरिक्त सत्ता की कल्पना करनी होगी, क्योंकि आत्माश्रय के भय से

✻ यहाँ सत्त्व का अर्थ है सद्व्यवहारविषयत्व ।

किन्तु अर्थक्रियाकारित्वमेव तत् । तथा चाऽविद्यमानाया अपि व्यक्तेः स्वरूपतः सत्त्वाद् 卐 न 'तस्य' इत्यनुपपत्तिः । न हि सदा तत्सत्त्व एव तत्सम्बन्धव्यवहारः, अतीतघटज्ञानेऽतीतघटसम्बन्धित्वेन व्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वात् । न च भृङ्गग्राहिकया तत्कार्यव्यक्तिहेतुत्वाग्रहादनुपपत्तिः, घटार्थिप्रवृत्तौ घटजातीयहेतुताज्ञानस्यैव प्रयोजकत्वात्, विशिष्य हेतुतया च प्रतिनियतवस्तुव्यवस्थितेरेवोपपादनात्, इत्याशयवान् पर आह—

उस सत्तामें भी सत्ता का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता । इसी प्रकार उस सत्ता का सत्त्व भी सत्ता सम्बन्ध रूप ही होगा, अतः उसके लिये भी अतिरिक्त सत्ता की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसङ्ग होगा ।

(वस्तु स्वरूप से ही सद्रूप नहीं)

वस्तु को जैसे सत्ता के सम्बन्ध से सत् नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार उसे स्वरूपतः भी सत् नहीं माना जा सकता । क्योंकि, यदि वस्तु स्वरूपतः सत् होगी तो स्वप्नावस्था में जो पदार्थ ज्ञात होता है उसका भी अपना कुछ स्वरूप होने के कारण उसमें भी सद्रूपता को आपत्ति होगी । अर्थात् स्वप्नदृष्ट पदार्थ का भी स्वरूप मानना युक्ति से सिद्ध होता है, क्योंकि वह भी स्फुट संवेदनात्मक बोध से गृहीत होता है । इसीलिए सन्निहितरूप में ही उसका अनुभव होता है । यदि यह कहा जाय कि-'स्वप्नमें दिखाई देने वाला पदार्थ असन्निहित होता है अत एव निःस्वरूप होता है क्योंकि स्वरूप की कल्पना सन्निहित में ही होती है' तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि इस उक्ति में कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्युत स्वप्नावस्था के अनन्तर यह प्रतीति होती है कि हमें असद्वस्तु ही सन्निहित रूपमें अनुभूत हुई है । इस प्रतीति के अनुरोध से यह सिद्ध है कि स्वप्नावस्था में अनुभूत होनेवाली वस्तु सन्निहित होती है और असत् होती है । सन्निहित होने के नाते उसका स्वरूप मानना आवश्यक होता है और उस स्वरूप मानने के कारण उसे सत् नहीं माना जाता, क्योंकि असत् ही वस्तु सन्निहित रूपमें स्वप्नावस्था में अनुभूत होती है । यही बात स्वप्न के उत्तर कालमें होनेवाली प्रतीति से सिद्ध है ।

(सत्त्व का स्वरूप अर्थ क्रिया कारित्व कैसे ?-बौद्ध)

अतः विवश हो कर पदार्थ के सत्त्व को अर्थ-क्रियाकारित्व=कार्योत्पादकत्व रूप ही मानना होगा । फलतः अविद्यमान वस्तु का भी जब स्वरूप होता है तब उसकी स्वरूपात्मक सत्ता होने के कारण सत्त्व शब्द के सन्निधानमें उस व्यक्ति के बोधक पद के उत्तर षष्ठी के प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जिसकाल में जिस वस्तु का सत्त्व हो उस कालमें ही उसके सम्बन्ध का व्यवहार हो । क्योंकि अतीत घटके ज्ञानमें उस ज्ञानकालमें अविद्यमान भी अतीतघट के सम्बन्ध का व्यवहार सर्वसम्मत है ।

(तत्कार्यार्थी को तत्कारणनिष्ठ कारणता का ज्ञान अपेक्षित नहीं)

यदि यह शङ्का की जाय कि—"पदार्थों में भृङ्ग ग्राहिका रीति से, अर्थात् 'अमुक कार्य व्यक्ति में अमुक कारण व्यक्ति हेतु है' इस प्रकार का ज्ञान सम्भव न होनेसे उक्त षष्ठी प्रयोग की अनुपपत्ति

卐 यहाँ सत्त्व का अर्थ है अस्तित्व और वह है त्रिकालान्यक्ष नविषयत्वरूप ।

मूलं—वस्तुस्थित्या तथा तद्यत्तदनन्तरभावि तत्।
नान्यत्ततश्च नाम्नेह न तथास्ति प्रयोजनम् ॥४३॥

वस्तुस्थित्या=आर्थं न्यायमाश्रित्य; तथा **तत्**=कार्यसत्त्वसाधकम् तत् कारणम्। कुतः इत्याह यद्=यस्मात् **तदनन्तरभावि**=प्रकृतकारणानन्तरभावि, **तत्**=प्रतिनियतमेव कार्यसत्त्वम् **नान्यद्**=नान्यादृशम्। ततश्चेह विचारे, **नाम्ना** [=अभिधानेन 'तथे' ति विवक्षितजननस्वभावमित्येवम्भूते] न प्रयोजनमस्ति, अतदायत्तत्वाद् वस्तुसिद्धेः, भृङ्गग्राहिकया तद्ग्रहस्य चाप्रयोजकत्वादिति भावः॥ ४३ ॥ अत्रोत्तरम्—

बनी रहेगी क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान कार्य के स्वरूप में तदर्थबोधक पदोत्तर षष्ठी प्रयोग के प्रति कारणता का ज्ञान नहीं है। क्योंकि विद्यमान वस्तु के बोधक पद के उत्तर में ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग दृष्ट है"-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि तत्कारण के ग्रहण में तत्कार्यार्थी की प्रवृत्ति के प्रति तत्कारण व्यक्तिमें तत्कार्य व्यक्ति की कारणता का ज्ञान कारण नहीं होता अपि तु तत्कारणजातीय में तत्कार्यजातीय की कारणता का ज्ञान कारण होता है । अन्यथा, नये कार्य को उत्पन्न करने के लिये नये कारण को ग्रहण करने में लोकसिद्ध प्रवृत्ति का लोप हो जायेगा । क्योंकि जो व्यक्ति किसी कारणव्यक्ति से भविष्य में उत्पन्न होने वाली है उसको कारणता का ज्ञान उसकी उत्पत्ति के पूर्व सम्भव नहीं हो सकता। फलतः 'सामान्य रूप से स्वरूपार्थक या स्वरूपवान् अर्थ के बोधक पद के उत्तरवर्ती षष्ठीविभक्ति के प्रयोग में स्वरूप कारण है' इस ज्ञान से ही सत्त्व शब्द के सन्निधानमें असत् कार्यबोधक पद के उत्तर षष्ठी का प्रयोग हो सकता है। क्योंकि उत्पत्ति कालमें अविद्यमान वस्तु का भी स्वरूप होता है। यदि उसका कोई स्वरूप न होगा किन्तु शशशृङ्ग के समान सर्वथा निःस्वरूप होगा तो भविष्य में भी उसकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं हो सकता।

(विशेष कार्य-कारण भाव मानना जरूरी है)

यदि इस पर यह शङ्का की जाय कि—"जब नये कार्य के लिये नये कारण के ग्रहण की प्रवृत्ति सामान्य कार्यकारण भाव से ही सम्भव होती है तो विशेष कार्यकारण भाव की कल्पना निराधार हो जाती है"-यह ठीक नहीं है। क्योंकि अमुक कारण व्यक्ति से अमुक कार्य व्यक्ति की ही उत्पत्ति हो इस व्यवस्था के लिये विशेष कार्यकारणभाव आवश्यक है । अन्यथा घटजातीय के प्रति मिट्टी जातीय कारण है, केवल इस सामान्य कार्यकारण भाव को ही स्वीकार करने पर एक घट व्यक्ति की उत्पत्ति जिस मृत्पिण्ड व्यक्ति से होती है उस मृत्पिण्ड व्यक्ति से अन्य सभी घट व्यक्ति की उत्पत्ति के अतिप्रसङ्ग का परिहार नहीं हो सकेगा।

बौद्ध के इस आशय को प्रस्तुत (४३) कारिका में संक्षिप्त रूपसे व्यक्त किया गया है कारिका यह है-'वस्तुस्थित्या तथा....'

(कार्यसत्त्वसाधक ही कारण है—बौद्ध)

कारिका का अर्थ इस प्रकार है- कारण विशेष जो कार्यविशेष के सत्त्व का साधक होता है वह इसलिये है कि वही वस्तुस्थिति है। अर्थात् यही न्याय अर्थतः प्राप्त है। क्योंकि कारण विशेष के

मूलं—नाम्ना विनापि तत्त्वेन विशिष्टावधिना विना ।
चिन्त्यतां यदि सन्न्यायाद् वस्तुस्थित्यापि तत्तथा ॥४४॥

नाम्ना विनापि=भृङ्गग्राहिकया तद्ग्रहं विनापि, **तत्त्वेन**=आर्थ्यैव प्रतीत्या, **विशिष्टावधिना विना**=स्वसंबन्धिनं भाविनं विशिष्टमवधिमन्तरेण, **चिन्त्यताम्**=माध्यस्थ्यमवलम्ब्य विमृश्यताम् , यदि भवति **सन्न्यायात्**=सूक्ष्मन्यायेन, **वस्तुस्थित्यापि**=उक्तलक्षणया **तत्=कारणम् तथा**=असतः कार्यस्य सत्त्वसाधकम् । नैव तथाऽस्ति, अत्यन्तासत्त्वे तत्संबन्धस्यैवानुपपत्तेः, अतीतघटस्यापि तज्ज्ञानज्ञेयत्वपर्यायेण सत्त्वादेव तज्ज्ञानसंबन्धित्वात् , दण्डादौ घटकारणतया अपि तत्पर्यायद्वारा घटसत्त्वं विना दुर्घटत्वात् ।

ननु 'ज्ञाने घटादेर्ज्ञानस्वरूपा विषयतैव संबन्धः; दण्डे च दण्डस्वरूपा कारणतैव तथा, घटनिरूपितत्वेन तद्व्यवहारे च घटज्ञानस्य हेतुत्वाद् न दोष' इति चेत् ? न, उभयनिरूप्यस्य संबन्धस्योभयत्रैवान्योन्यव्याप्तत्वात् ; अन्यथैतराऽनिर्भासविलक्षणनिर्भासानुपपत्तेः, विषयविशेषं विना ज्ञानाकारविशेषोपगमे साकारवादप्रसङ्गादिति अन्यत्र विस्तरः ॥४४॥

अनन्तर कार्य विशेष का ही सत्त्व होता है अन्य का नहीं । इसलिये उत्पन्न होनेवाले कार्यव्यक्ति का नामग्राह=तद्व्यक्तिरूपसे ज्ञान होने और कारण व्यक्ति में उसके जनन का स्वभाव होनेके विचार का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि वस्तुसिद्धि-कार्यका सत्त्व उक्त ज्ञान और विचार के आधीन नहीं है क्योंकि कार्य के सत्त्व की सिद्धि के लिये कारण ग्रहण में जो कार्यार्थी की प्रवृत्ति होती है उसके प्रति भृङ्ग ग्राहक रीति से कारण व्यक्ति और कार्य व्यक्ति में विशेषरूपसे कार्यकारण भाव का ज्ञान अप्रयोजक है ॥४३॥

[सम्बन्ध के विना कार्योत्पत्ति का असंभव]

४४ वीं कारिकामें बौद्ध के पूर्वोक्त कथन का उत्तर प्रस्तुत किया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—विशेषरूपसे कार्यकारणभाव-ज्ञानके विना भी यदि अर्थप्राप्तन्याय अर्थात् सामान्य कार्यकारणभावग्रह से ही कार्योत्पत्ति का निर्वाह किया जायेगा और कारण के भावि कार्य रूप अवधि के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होगी तो इस तथ्य की सूक्ष्मता के साथ तटस्थ हो कर परीक्षा करनी होगी कि "क्या वस्तुतः उत्पाद्य और उत्पादक का विशेष रूपसे ज्ञान न होने पर भी सामान्य कार्यकारणभाव के आधार पर ही कारण असत्कार्य के सत्त्व का साधक हो सकेगा ?" आशय यह है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सर्वथा असत् मानने पर कारण द्वारा उसके सत्त्व का साधन नहीं हो सकता । क्योंकि, कारण को स्वसम्बद्ध कार्य का ही जनक मानना होगा । यदि कारण से असम्बद्ध भी कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तब कारणविशेष का कार्यविशेष के समान अन्य समग्र कार्यों में भी असम्बन्ध (सम्बन्धाभाव) समान होने से एक ही कारण विशेष से समग्र कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, आपत्ति होगी ।

'कार्य उत्पत्ति के पूर्व यदि सर्वथा असत् होगा तो कारणसे उसका सम्बन्ध न हो सकने के कारण उसके सत्त्व का साधन असम्भव न होगा क्योंकि विद्यमान और अविद्यमान में भी सम्बन्ध होता है'

इसके समर्थन में जो अतीत घट और उसके ज्ञान के सम्बन्ध को दृष्टान्त रूपमें प्रस्तुत किया गया वह अनुपयुक्त है। क्योंकि अतीतघटके ज्ञानकालमें 'तज्ज्ञानज्ञेयत्व' अर्थात् 'तज्ज्ञान के विषय होने की योग्यता धारकत्व' रूप से अतीत घट की सत्ता होती है। क्योंकि, तज्ज्ञानज्ञेयत्व अतीतघटके ज्ञानकालमें है और वह अतीत घट का पर्याय है। पर्याय और उसके आधारभूत पदार्थ में आपेक्षिक ऐक्य होता है, अत एव पर्याय के रहने पर पर्यायरूपसे उसका भी अस्तित्व अनिवार्य है। इसी प्रकार दण्ड आदि में उत्पन्न होनेवाली घट की कारणता भी इसी लिये सम्भव होती है कि उस समय भी भावी घट अपने स्वाधीन उत्पत्तिप्रागभावरूप पर्याय के रूपमें विद्यमान होता है। अन्यथा दण्ड के साथ भावि घटका कारणतासम्बन्ध ही नहीं संगत हो सकेगा।

[विषयता ज्ञानस्वरूप है–पूर्वपक्षशंका)

इस सम्बन्ध में यदि यह शङ्का की जाय कि—'ज्ञान के साथ घटका विषयता रूप सम्बन्ध होता है और वह विषयता ज्ञानस्वरूप होती है। अत एव उस ज्ञानस्वरूप सम्बन्ध का अस्तित्व ज्ञानोत्पादक सामग्री के अधीन होता है, घटादि के अधीन नहीं होता। अत एव घटादि के न होने पर भी वह सम्बन्ध उपपन्न हो सकता है। इसी प्रकार दण्ड में घटका जो कारणता सम्बन्ध होता है वह भी दण्डस्वरूप होता है। अत एव उस सम्बन्ध का भी अस्तित्व दण्डसामग्री के ही द्वारा सम्पन्न होता है, उसके लिये भी घट की अपेक्षा नहीं होती। अतः घटके असत्त्व में उस सम्बन्ध का अस्तित्व निर्बाध हो सकता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि ज्ञान के साथ घटका विषयता रूप सम्बन्ध यदि ज्ञान स्वरूप है तो ज्ञान का ज्ञानत्व रूपसे ('ज्ञानं' इत्याकारक) ग्रहण होनेपर 'ज्ञानं घटीयं=ज्ञान घटका सम्बन्धी है' इस प्रकार का व्यवहार भी क्यों नहीं होता? एवं दण्ड में रहनेवाली घटकी कारणता यदि दण्ड रूप है तो दण्ड का दण्डत्व रूपसे ज्ञान होनेपर घटकारणता भी गृहीत हो जाती। तब तो उस समय 'दण्डः घटीयः=दण्ड घटकाकारण है'-इस प्रकार का व्यवहार क्यों नहीं होता?"-तो इसका उत्तर यह है कि उक्त व्यवहारों में घट ज्ञान भी कारण है। अतएव घटका ज्ञान न रहने पर शुद्धज्ञानस्वरूप और दण्डस्वरूप का ज्ञान रहने पर भी उक्त व्यवहार नहीं होता।"—

(संबंधमात्र द्वयसापेक्ष है–समाधान)

किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है। क्योंकि, सम्बन्ध दोनों सम्बन्धीयों से निरूपणीय होता है। अर्थात्, किसी सम्बन्ध का ज्ञान तभी होता है जब उसके दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान हो। अत एव दो पदार्थों के बीचमें होनेवाले सम्बन्ध को किसी एक पदार्थ के ही स्वरूप में सीमित नहीं किया जा सकता। यदि सम्बन्ध को सम्बन्धिस्वरूप मानना होगा तो दोनों सम्बन्धियों को ही सम्बन्ध मानना होगा। अतः एक के अभाव में केवल एक मात्र सम्बन्धी के रहने पर सम्बन्ध का अस्तित्व सम्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि, यदि सम्बन्ध एक सम्बन्धी के स्वरूप में ही परिसमाप्त हो सकता हो तब तो दूसरे सम्बन्धी के अज्ञान काल में जो सम्बन्धात्मक सम्बन्धी का बोध होगा वह उभय सम्बन्धी के ज्ञानकालमें होनेवाले संसर्गतावगाही बोधकी अपेक्षा विलक्षण न हो सकेगा। क्योंकि, एक सम्बन्धी मात्र भी जब सम्बन्धात्मक हो सकता है तो उसके बोध को भी संसर्गतावगाही होना चाहिये। इसी प्रकार अतीतघटादि के ज्ञान को अतीत घटादि के सर्वथा असत् होने पर भी यदि अतीतघटाधारक माना जायेगा तो ज्ञान की साकारता में विषय की अपेक्षा न होने से साकार ज्ञानवाद=योगाचार बौद्ध के विज्ञानवाद की प्रसक्ति होगी जिसके फलस्वरूपविषय के अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जायेगा। इस विषयका विशेष विचार अन्यत्र प्राप्त होगा ॥४४॥

यदि चैवमपि साधकत्वमिष्यते, तदाऽतिप्रसङ्ग इत्याह—

मूल—साधकत्वे तु सर्वस्य ततो भावः प्रसज्यते ।
कारणाश्रयणेऽप्येवं न तत्सत्त्वं तदन्यवत् ॥४५॥

साधकत्वे तु तस्य निरवधिक एवाभ्युपगम्यमाने, **सर्वस्य**=कार्यजातस्य **ततः**=कारणात् **भावः**=उत्पादः प्रसज्यते, तस्याऽसत्साधकत्वेनाविशेषात् । उपसंहरन्नाह **एवम्**=उक्तेन न्यायेन, **कारणाश्रयणेऽपि**=कार्यविशेषार्थं कारणविशेषानुसरणेऽपि, **न तत्**=प्रतिनियतकार्यसत्त्वम्, **तदन्यवत्**=ततोऽन्यदेव, योग्यताभावाऽविशेषात्, नानाकार्यजननीनां तत्तद्धेतुव्यक्तीनां तद्व्यक्तिजनकत्वमेव स्वभाव इत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तत्स्वभावानुप्रविष्टत्वेन तद्वदेव सत्त्वप्रसङ्गाच्चेति ॥४५॥ दोषान्तरमाह—

मूलं—किञ्च तत्कारणं कार्यभूतिकाले न विद्यते ।
ततो न जनकं तस्य तदाऽसत्त्वात् परं यथा ॥४६॥

किञ्च, तत्=पराभिप्रेतं कारणं **कार्यभूतिकाले**=कार्योत्पादसमये न विद्यते, क्षणिकत्वात्, यत एवं ततो न जनकं **तस्य**=कार्यस्य । कुतः ? इत्याह **तदाऽसत्त्वात्**=कार्यभूतिसमयेऽसत्त्वात् । किंवत् ? इत्याह-**परं यथा**—कारणकारणवदित्यर्थः ॥४६॥ आशंकाशेषं परिहरति-

[असत्कार्यवाद में सर्वकार्योत्पत्ति की आपत्ति]

४५ वीं कारिका में कारण को असत् कार्य का उत्पादक मानने पर एक कारणसे सभी कार्यों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग का प्रतिपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है, साधकता-कारणता को यदि भावी कार्य रूपी अवधि से निरपेक्ष माना जायेगा तो एक कारण से समस्त कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, आपत्ति होगी। क्योंकि जब कारण को असत् का ही उत्पादन करना है तो समस्त कार्योंमें समान रूपसे असत्त्व होने के कारण, सब के प्रति उसका उत्पादक होना अपरिहार्य है।

[विशेष कार्य-कारण भाव भी असत्कार्यवाद में असंगत]

एवं उक्त न्याय से कार्य विशेष के लिये कारणविशेष का उपादान मानने पर भी कारण विशेष से नियतकार्य का सत्त्व साधन नहीं हो सकता। क्योंकि, जैसे कारण विशेष में अन्यकार्यों के उत्पादन की योग्यता का अभाव होता है उसी प्रकार कार्यविशेष के उत्पादन की योग्यता का भी अभाव होगा। इसके प्रतिवाद में यह कहना शक्य नहीं है कि अनेक कार्यों के प्रति स्वरूपयोग्य होने पर भी तत्तत्कार्यव्यक्ति को ही उत्पन्न करना तत् तत् कारण व्यक्ति का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि तत्तत्कार्यव्यक्ति की उत्पादकता को तत्तत्कारणव्यक्ति का स्वभाव मानने पर स्वभाव अपने आश्रय का सहभावी होने के कारण, कारणव्यक्ति के समानकाल में ही कार्य के अस्तित्व का भी प्रसङ्ग होगा ॥४५॥

मूलं---अनन्तरं च तद्भावस्तत्त्वादेव निरर्थकः ।
समं च हेतु-फलयोर्नाशोत्पादावसंगतौ ॥४७॥

अनन्तरं च=कारणाव्यवहितोत्तरसमये च, तद्भावः=कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यमानः, तत्त्वादेव=अनन्तरत्वादेव निरर्थकः, दण्डादीनां दण्डत्वादिना घटादिव्याप्यत्वाभावात्, सामग्रीप्रविष्टदण्डत्वादिना तथात्वे गौरवात्, कुर्वद्रूपत्वेन तथात्वे हि क्षणिकत्वसाधनाशा, सा च न पूर्यते, अव्यवहितोत्तरसमयवृत्तित्वसंबन्धेन व्याप्यत्वे गौरवात्, आनन्तर्यमात्रस्य च कारण-कारण-साधारणत्वात् क्षणिकत्वाऽनियामकत्वात्, कुर्वद्रूपकल्पनापेक्षया कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नसामग्र्यनुप्रवेशरूपकुर्वद्रूपत्वेन दण्डादेस्तदेव घटादिव्याप्यत्वौचित्याच्चेत्याशयः । तथा, समं च=एककालं च हेतुफलयोः=कार्यकारणयोः, नाशोत्पादौ असङ्गतौ=अघटमानौ ॥४७॥ तथाहि-

[क्षणिक वाद में कारणता की अनुपपत्ति]

४६ वीं कारिकामें भावमात्र की क्षणिकता-पक्षमें एक अन्य दोष भी बताया गया है, जैसे-भाव मात्र को क्षणिक मानने पर कारणभूत भाव भी क्षणिक होगा अतः वह कार्य की उत्पत्ति कालमें नहीं रहेगा । फलतः कार्य की उत्पत्ति के समय न रहनेसे वह कार्य का कारण नहीं बन सकता। क्योंकि यह नियम है-जो जिस कार्य की उत्पत्ति के समय नहीं रहता वह उसके प्रति कारण नहीं होता जैसे द्वितीयक्षण का कारणीभूत प्रथमक्षण तृतीयक्षण की उत्पत्ति के समय विद्यमान न होनेसे उसका उत्पादक नहीं होता है ।४६।।

[क्षणिकवाद में अव्यवहितउत्तरकाल के नियम की असंगति]

४७ वी कारिका में बौद्धों की बची खुची शङ्का का भी परिहार किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—उक्त विचार के संदर्भ में बौद्धों को यह शङ्का हो सकती है कि-"कारणकाल में ही कार्य की उत्पत्ति होती है यह नियम नहीं है, किन्तु 'कारण के अव्यवहितोत्तर काल में कार्य की उत्पत्ति होती है' यह नियम है।"-किन्तु यह उचित नहीं है, क्यों कि-कार्य को कारण के अव्यवहित होना-इतना मात्र मानना निरर्थक है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। यतः दण्ड आदि दण्डत्वरूप से घटका व्याप्य नहीं होता, अर्थात् जिस कालमें दण्ड स्वाव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से रहता है उस कालमें कार्य होता ही है—यह नियम नहीं है। क्योंकि, दण्ड मात्र के रहने पर घट की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि यह नियम माना जाय कि-दण्ड अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से घटोत्पादक सामग्री गत यावत्त्व रूपसे जिस कालमें रहता है उस कालमें घट होता है—तो इसमें गौरव होगा। क्योंकि घट सामग्रीगत यावत्त्व का दो रूप हो सकता है (१) चक्रकुलाल-कपालादि विशिष्टदण्डत्व और (२) दण्डचक्रकुलालकपालादिगत सङ्ख्याविशेष, दोनों ही स्थिति में गौरव अनिवार्य है। क्योंकि पहले रूपमें चक्रकुलालकपालादि के विशेषणविशेष्य भावमें विनिगमना-विरह होगा, अर्थात् दण्ड को चक्रविशिष्ट कुलालविशिष्ट कपालादिविशिष्ट दण्डत्व रूपसे व्याप्य माना जाय अथवा कुलालकपालचक्रविशिष्ट दण्डत्व रूप से अथवा चक्रकुलालकपालादिविशिष्ट दण्डत्व रूपसे व्याप्य माना जाय इसमें कोई विनिगमना न होनेसे सभी रूपों से व्याप्यता का स्वीकार

मूलं--स्वतो भिन्नावभिन्नौ वा ताभ्यां भेदे तयोः कुतः ?
नाशोत्पादावभेदे तु तयोर्वै तुल्यकालता ॥४८॥

तौ=नाशोत्पादौ, ताभ्यां=हेतु-फलाभ्यां, भिन्नौ अभिन्नौ वा स्त इति पक्षद्वयम् । तत्र

करना होगा । तथा सङ्ख्यारूप मानने पर अपेक्षाबुद्धि के भेदसे दण्ड-चक्र कुलाल आदि में विभिन्न सङ्ख्या की उत्पत्ति होनेसे उन सङ्ख्याओं में किस सङ्ख्या रूप से दण्डमें व्याप्यता का स्वीकार किया जाय-उसमें कोई विनिगमना न होगी । फलतः, अनन्तयावत्वात्मकसंख्या रूपसे व्याप्यता मानने में गौरव होगा । और यदि दण्ड को घटकुर्वद्रूपत्वेन घटका व्याप्य माना जाय तो भी भावके क्षणिकत्व के साधन की आशा पूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि इस आशा की पूर्ति तत्तत्कार्यकुर्वद्रूपत्वविशिष्ट दण्ड को अव्यवहितोत्तरसमयवृत्तित्व सम्बन्धसे तत्तत्कार्य का व्याप्य मानने पर ही हो सकेगी, क्योंकि, यदि तत्तत्कार्यकुर्वद्रूपत्वविशिष्ट स्थायी होगा तो, अर्थात् तत्तत्कार्योत्पत्ति के व्यवहित पूर्वक्षणों में एवं उत्तर क्षणोंमें भी विद्यमान होगा तो, तत्कार्योत्पत्ति का स्वरूप समय की अपेक्षा उसका अव्यवहितोत्तरसमय नहीं होगा किन्तु जब कभी उसका नाश होगा तभी उसका अव्यवहित उत्तर समय होगा, और उस समय तत्तत्कार्य-उत्पत्ति होती नहीं है । यदि उसके क्षण की अपेक्षा अव्यवहितोत्तरत्व लिया जायेगा तो तत्कार्योत्पत्ति के व्यवहित पूर्वक्षणों में भी उसके विद्यमान होने पर तत्कार्योत्पत्ति के व्यवहित पूर्वक्षण में भी स्वाव्यवहितोत्तरत्व रहेगा किन्तु उस समय तत्कार्योत्पत्ति होती नहीं है। फलतः, तत्कार्यकुर्वद्रूप को क्षणिक मानने पर ही स्वाऽव्यवहित उत्तर समयवृत्तित्व सम्बन्ध से वह तत्कार्य का व्याप्य हो सकेगा । किन्तु स्वाऽव्यवहितोत्तरसमयवृत्तित्वसम्बन्धसे तत्कार्य कुर्वद्रूपत्व विशिष्ट को तत्कार्य का व्याप्य मानने में व्याप्यतावच्छेदकसम्बन्ध गुरु बन जायेगा । यदि केवल 'आनन्तर्य (=उत्तरवर्त्तित्व)' को ही व्याप्यतावच्छेदक सम्बन्ध माना जायेगा तो तत्कार्यकुर्वद्रूप का आनन्तर्य तत्कार्यकुर्वद्रूप तत्कार्यकारण के कारण क्षण में भी आ जायेगा । क्योंकि उसमें भी उसका अव्यवहितत्वरूप आनन्तर्य है । अतः आनन्तर्य सम्बन्ध से तत्कार्यकुर्वद्रूप में तत्कार्य की व्याप्ति उपपन्न करने के लिये तत्कार्यकुर्वद्रूप के अव्यवहित पूर्वक्षण में भी तत्कार्य की उत्पत्ति माननी होगी और उसके लिये तत्कार्यकुर्वद्रूप की सत्ता उसके पूर्व भी माननी होगी । फलतः तत्कार्यकुर्वद्रूप के क्षणिकत्व की सिद्धि न हो सकेगी । अतः नियत समय में ही तत्तत्कार्य की उत्पत्ति को नियन्त्रित करने के लिये तत्कार्यकुर्वद्रूप क्षणिक कारण की कल्पना करने की अपेक्षा यह कल्पना करना उचित है कि जिस कालमें कालिक सम्बन्ध से घटादि सामग्री-अनुप्रवेशरूप कुर्वद्रूपत्व से विशिष्टदण्डादि रहता है उस कालमें कालिक सम्बन्धसे घटादि की उत्पत्ति होती है । इस व्याप्य-व्यापक भाव में कोई बाधा नहीं है फलतः घटादि के उत्पादक सामग्री में कुर्वद्रूपत्वरूप से विद्यमान घटादि का कथञ्चित् भेदाभेद होनेसे सामग्री काल में घटादि का सद्भाव-अस्तित्व निर्बाध है । इस से स्पष्ट है कि कारण और कार्यका नाश और उत्पाद एक काल में असङ्गत है ॥४७॥

[उत्पत्ति-नाश कार्य-कारण से भिन्न या अभिन्न ?]

पूर्व कारिका में उपसंहार करते हुये कारणनाश और कार्योत्पाद के एककालीनत्व की असङ्गति बतायी गई थी । उसी की पुष्टि ४८ वीं कारिकामें की गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है–

नाश और उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो पक्ष हो सकते हैं । पहला यह कि कारण और उसका नाश एवं कार्य और उसकी उत्पत्ति दोनों परस्पर भिन्न है । तथा दूसरा पक्ष यह कि दोनों परस्परमें

भेदेऽभ्युपगम्यमाने तयोः=हेतु-फलयोः, नाशोत्पादौ कुतः, संबन्धाभावात् , नाशस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमेनोत्पादस्य चोत्पद्यमानाजन्यत्वेन तदुत्पत्तिसंबन्धस्याप्यभावात् अभेदे त्वभ्युपगम्यमाने, तयोः=कार्य-कारणयोः, वै=निश्चितम् , तुल्यकालता, हेतुनाश-फलोत्पादयोरभिन्नकालत्वात् ॥४८॥ ततः किमित्याह—

मूलं—न हेतु-फलभावश्च तस्यां सत्यां हि युज्यते ।
तन्निबन्धनभावस्य द्वयोरपि वियोगतः ॥४९॥

तस्यां च=कार्य-कारणयोस्तुल्यकालतायां च सत्यां, हि=निश्चितम् , हेतु-फलभावो न युज्यते । कुतः ? इत्याह तन्निबन्धनभावस्य=कार्यकारणभावनियामकतद्भावभावित्वादिसद्भावस्य, द्वयोरपि=तयोरभिन्नकालयोर्निरूपकयोः वियोगतः=अभावात् ॥४९॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

मूलं- कल्पितश्चेदयं धर्म-धर्मिभावो हि भावतः ।
न हेतुफलभावः स्यात्सर्वथा तदभावतः ॥५०॥

अयं-'कारणं धर्मि, नाशो धर्मः, कार्यं धर्मि उत्पादश्च धर्मः' इत्याकारो धर्मधर्मिभावः, हि=निश्चितं, भावतः=परमार्थतः कल्पितः, नाशस्य सांवृतत्वात् , उत्पादस्य च कार्यरूपत्वे-

अभिन्न है। यदि भेद माना जायेगा तो नाश के साथ कारण का और उत्पत्ति के साथ कार्य का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि भिन्न पदार्थों में सम्बन्ध अदृष्ट है। इसलिये 'कारण का नाश, कार्य का उत्पाद' इस प्रकार नाश और उत्पाद के साथ सम्बन्ध का व्यवहार न हो सकेगा। एवं 'तदुत्पत्ति-सम्बन्ध' भी नहीं बन सकेगा। नाशमें कारण का, और उत्पाद में कार्य का उत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि बौद्धमतमें नाश निर्हेतुक माना गया है अतः उसको उत्पत्ति बाधित है। और उत्पत्ति को उत्पद्यमान से अजन्य माना गया है, इसलिये उत्पत्ति के साथ उत्पद्यमान का उत्पत्ति सम्बन्ध भी असम्भव है। उन दोनों में दूसरा पक्ष अर्थात् अभेद भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि, अभेद मानने पर हेतुनाश और कार्योत्पाद के एककालीन होनेसे हेतु और फल में एककालीनत्व की प्रसक्ति होगी ॥४८॥

४९ वीं कारिका में हेतु और फलमें एककालीनत्व होने से प्राप्त दोष का प्रदर्शन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

कार्य-और कारण यदि समानकालीन होंगे तो उनमें कार्य-कारणभाव न हो सकेगा। क्योंकि, कार्य-कारण भाव का नियामक होता है 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्व और तदभावे तदभावः' इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक का नियम; और यह नियम समानकालीन पदार्थों में उपपन्न नहीं हो सकता ॥४९॥

[नाश और कारण का धर्मधर्मिभाव कल्पित है-पूर्वपक्ष]

५० वीं कारिकामें, पूर्वोक्त आपत्ति के बौद्ध द्वारा आशंकित परिहार को उपस्थित करके उसका निराकरण किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-कारण और नाश में एवं कार्य और उत्पत्ति में जो धर्म-धर्मिभाव का व्यवहार होता है अर्थात् 'कारणं नाशधर्मकं' कार्यं उत्पत्तिधर्मकं'

ऽपि भेदनिबन्धनधर्म-धर्मिभावव्यवहारानङ्गत्वादिति चेत् ? सर्वथा तदभावतः धर्म-धर्मिभावा-भावात् हेतु-फलभावो न स्यात् , कारणत्वस्यानन्तर्यघटितत्वात् , तस्य च नाशघटितत्वादिति भावः ॥५०॥ पराभिप्रायमाह—

मूलं–न धर्मी कल्पितो धर्मधर्मिभावस्तु कल्पितः ।
पूर्वो हेतुर्निरंशः स उत्तरः फलमुच्यते ॥५१॥

धर्मी=कारणादिः, न कल्पितः, तस्याध्यक्षावसितत्वात् । धर्म-धर्मिभावस्तु कल्पितः, परापेक्षग्रहत्वेन सविकल्पकैकवेद्यत्वात् । तत्र पूर्वो वस्तुक्षणो निरंशः=धर्मान्तराघटितः हेतुः, उत्तरश्च तादृशो वस्तुक्षणः फलमुच्यते । तत्र काल्पनिकं कारणत्वं कार्यत्वं च मा भूत्, वास्तवं तु धर्मिस्वरूपमन्याऽघटितं भवत्येव, इति भावः ॥५१॥ अत्रोत्तरमाह—

इस प्रकार का जो व्यवहार होता है उस व्यवहार का विषय वस्तुत: कल्पित है। क्योंकि, नाश बौद्ध मत में पारमार्थिक न हो कर सांवृत=वासनाकल्पित है। जो स्वयं कल्पित है वह किसी का वास्तव धर्म कैसे हो सकता है ? उत्पाद कार्यरूप होनेसे कार्य के समान ही यद्यपि असांवृत=सत्य है फिर भी वह कार्य का धर्म हो कर 'कार्यमुत्पत्तिधर्मकं' इस धर्मि-धर्मभाव के व्यवहार का उपपादक नहीं हो सकता। क्योंकि, धर्म-धर्मिभाव का व्यवहार अत्यन्त अभिन्न पदार्थो में न होने के कारण भेदमूलक होता है और बौद्ध को कार्य एवं उसकी उत्पत्ति में भेद अभिमत नहीं है।

[कल्पित धर्म-धर्मि भाव से कारणत्व की अनुपपत्ति-उत्तरपक्ष]

इस परिहार के प्रतिकार में जैन का कहना यह है कि कारण और नाश एवं कार्य और उसका उत्पाद इन दोनों में धर्म-धर्मि भाव का एकान्त रूपसे-सर्वथा परित्याग कर देने पर कार्य-कारण भाव की उपपत्ति न हो सकेगी। क्योंकि कारणता आनन्तर्य घटित है और आनन्तर्य नाशघटित है। जैसे-तत्कार्यकारणत्व का अर्थ है तत्कार्यसमानकालोत्पत्तिक नाशधर्मकत्वे सति तत्कार्यपूर्ववृत्तित्व। इसी प्रकार तत्कार्यत्व भी तन्नाश समानकालिक उत्पत्ति धर्मकत्व रूप है। यदि नाश कारण का धर्म न होगा तो उसमें उक्त कारणत्व, और उत्पत्ति कार्य का धर्म न होगा तो उसमें उक्त कार्यत्व न होने से कार्य-कारण भाव नहीं हो सकेगा ॥५०॥

[धर्मी अकल्पित, धर्म-धर्मि भाव कल्पित-बौद्ध]

५१ वीं कारिका में उक्त दोष का बौद्ध सम्मत परिहार बताया गया है। कारिका का अर्थ -

बौद्ध का यह कहना है कि उसके मतमें कारण-कार्य आदि धर्मी कल्पित नहीं है। क्योंकि, वह स्वलक्षण-सत्य वस्तु को ग्रहण करनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सिद्ध है। कल्पित केवल धर्मधर्मिभाव है। क्योंकि, वह अन्य सापेक्ष ज्ञान का विषय होने से एक मात्र सविकल्पक ज्ञान से ही वेद्य है। इसलिये पूर्वभाव अन्यधर्म से अघटित होकर के ही कारण होता है और उत्तरभाव भी अन्यधर्मसे अघटित होकर ही कार्य होता है। कारणता और कार्यता अवश्य नाश घटित आनन्तर्य एवं उत्पत्तिघटित आनन्तर्य रूप होता है। इसलिये वह वास्तव न हो कर काल्पनिक है और काल्पनिक की उत्पत्ति यदि नहीं

मूलं—पूर्वस्यैव तथाभावाभावे हन्तोत्तरं कुतः ? ।
तस्यैव तु तथाभावेऽसतः सत्त्वमदो न सत् ॥५२॥

पूर्वस्यैव=भावक्षणस्य, तथाभावाभावे=फलरूपेण परिणमनाभावे, 'हन्त' इति खेदे, उत्तर=फल कुतः ? तस्यैव तु=कारणक्षणस्य, तथाभावे=फलरूपेण परिणमनेऽभ्युपगम्यमाने, 'असतः कार्यस्य सत्त्वम्=उत्पत्तिः' अदः=एतद् वचनम्, न सत्=न समीचीनम्, व्याहतत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥ एतेनान्यदपि तदुक्तमयुक्तमित्याह—

मूलं-तं प्रतीत्य तदुत्पाद इति तुच्छमिदं वचः ।
अतिप्रसङ्गतश्चैव तथा चाह महामतिः ॥५३॥

"तं प्रतीत्य=कारणक्षणमाश्रित्य, तदुत्पादः=कार्योत्पादः" इतीदं वचस्तुच्छं=निष्प्रयोजनम्; यतः कारणाश्रयणं यदि तद्रूपाश्रयणं तदोक्तदोषात्, यदि च तदानन्तर्यभावमात्रनिबन्धनस्वभावाश्रयणं तदा अतिप्रसङ्गतश्चैव=विश्वस्यापि तदनन्तरभावित्वेन वैश्व-

---

बन सकती तो इसमें बौद्ध को कोई अनभिमति-असम्मति नहीं है। क्योंकि, धर्म का स्वरूप ही वास्तव है और वह अन्य से अघटित ही होता है। अतः बौद्धमतमें पूर्वोक्त दोष सम्भव नहीं है। ५१॥

(कारणपरिणति बिना कार्य का असंभव)

५२ वीं कारिकामें बौद्ध के उक्त परिहार का उत्तर दिया गया है। कारिका का अर्थः—

पूर्व भावक्षण का यदि कार्य रूपमें परिणमन न होगा तो यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि उस स्थिति में उत्तर क्षण रूप कार्य भी कैसे हो सकेगा ? आशय यह है कि पूर्व क्षण का उत्तरक्षणरूप में परिणाम स्वीकार करने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि कारण के परिणमन से अतिरिक्त कार्य की सत्ता प्रामाणिक नहीं है। यदि कारण क्षण का कार्यरूप में परिणमन माना जायेगा, अर्थात् सत् कारण क्षण यही सत्कार्य रूप से परिणत होती है यह अगर स्वीकार्य है तब असत् कार्य उत्पन्न होता है यह कहना व्याहत है अर्थात् स्वीकृति से बाधित है।

[कारणक्षण के आश्रयण से कार्योत्पत्ति-कथन की असंगति)

५३ वीं कारिका में बौद्ध के एक अन्य कथन की भी अयुक्तता बतायी गई है। कारिका का अर्थ इस प्रकार हैः-बौद्ध का कहना है कि-'कारण क्षण का आश्रय लेकर कार्य उत्पन्न होता है।'-किन्तु यह कथन निरर्थक-अर्थहीन है। क्योंकि "कार्य 'कारणक्षण' का आश्रय लेता है" इसका तात्पर्य यदि यह हो कि कारण के ही किसी रूपविशेष को कार्य ग्रहण करता है तो असत् की उत्पत्ति मानना असङ्गत हो जाता है, क्योंकि कारण सत् होता है अत एव उसके रूप का ग्रहण असत् में (असत् से) सम्भव नहीं है। यदि कार्य को कारणक्षण का आश्रय लेने का अर्थ यह हो कि कार्य एक ऐसे स्वभाव को ग्रहण करता है जो कारण क्षणके अनन्तर होने मात्र से प्राप्त होता है तो अतिप्रसङ्ग होगा। क्योंकि एक कारण क्षण के उत्तर कोई एक ही कार्य नहीं होता अपि तु सारा विश्व ही होता है। जो स्वभाव

रूप्याभावप्रसङ्गाच्चैव । स्वोक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसंमतिमुपदर्शयति-**तथा च**=उक्तसदृशं च **महामतिः**-महामतिनामा ग्रन्थकृत् आह-॥५३॥ तथाहि—

मूलं-सर्वथैव तथाभावि वस्तुभावादृते न यत् ।
कारणानन्तरं कार्यं प्राग्नभस्तस्ततो न तत् ॥५४॥

सर्वथैव=कारणत्वादिपर्यायवत् तद्द्रव्यतयापि, **तथाभाविवस्तुभावादृते**=कार्यकाले फलपरिणामिवस्तुसत्तां विना, **कारणानन्तरं**=प्रतिनियतहेत्वव्यवहितोत्तरसमये, **कार्यं**=प्रतिनियतकार्यम् , **प्राग्**=झटित्येव, **नभस्तः**=आकाशात्-अकस्मादित्यर्थः यतो हेतोर्न संभवेत् , ततस्तद् कार्यं न भवेदेवेत्यर्थवादिन इति भावः ॥५४॥ एतदेव समर्थयन्नाह—

मूलं-तस्यैव तत्स्वभावत्वकल्पनासम्पदप्यलम् ।
न युक्ता युक्तिवैकल्यराहुणा जन्मपीडनात् ॥५५॥

तस्यैव=विवक्षितकार्यस्यैव, **तत्स्वभावत्वकल्पनासम्पदपि**=स्वभावत एव कारणाऽनियमनिमित्तजातीयत्वकल्पनसमृद्धिरपि, [अलं=अत्यर्थं] न युक्ता । कुतः ? इत्याह-**युक्तिवैकल्यराहुणा**=प्रमाणाभावरूपसैंहिकेयेण, **जन्मपीडनात्**=उत्पादस्यैव दूषणात् । हेतुं विनैव

कारणक्षण के उत्तर में होने से एक कार्य को प्राप्त होता है वही स्वभाव कारणक्षण के उत्तर में होनेवाले सारे विश्वको प्राप्त होगा। फलतः सारे विश्वमें एक स्वभाव हो जानेसे कार्य वैविध्य का लोप होगा। ऐसा ही पूर्वाचार्य महामति ग्रन्थकारने भी अपने ग्रन्थ में कहा है ॥५३॥

(कारण की सत्ता फलपरिणामस्वरूपकार्य के रूप में अभंग)

५४ वीं कारिका में महामति के ही कथन को प्रस्तुत किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है-यदि तत्तत्कार्यकारणत्व पर्याय से उपेत द्रव्य को कार्यकाल में फलात्मक परिणाम रूपमें सत्ता न मानी जायेगी, अर्थात् 'जो द्रव्य पूर्वक्षण में तत्तत्कार्यकारणत्व रूप पर्याय से विशिष्ट हो कर रहता है वही द्रव्य उत्तर क्षणमें कार्यात्मक परिणाम रूप पर्याय से विशिष्ट हो कर विद्यमान होता है' इस सत्य की उपेक्षा की जायेगी तो प्रतिनियत हेतु के अव्यवहित उत्तरकालमें प्रतिनियत कार्य का होना आकस्मिक हो जायेगा। और कोई कार्य आकस्मिक तो होता नहीं, अतः असत् कार्यवादी के मतमें कार्य की उत्पत्ति सम्भव न हो सकेगी ॥५४॥

५५ वीं कारिका में इसी बातका अन्य ढंग से समर्थन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—यदि बौद्ध की ओर से यह बात कही जाय कि-'कार्य का वैजात्य स्वाभाविक है। उसका कोई स्वभाव से अतिरिक्त नियामक नहीं होता। अतः एक कारणक्षण के अनन्तर होनेवाले विभिन्न कार्यों की विजातीयता का भङ्ग नहीं हो सकता। क्योंकि, प्रत्येक कार्य अपने कारण से स्वभावतः विजातीय=विलक्षण ही उत्पन्न होता है।'-यह वैजात्यलाभरूप बौद्ध की काल्पनिक समृद्धि भी कार्य को प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसे कार्य का जन्म ही प्रमाणाभाव रूप राहु से ग्रस्त है। जैसा ज्योतिषियों

तादृशस्वभावककार्योत्पादाभ्युपगमे तं विनैवार्थक्रियाया अपि स्वभावत एवोपपत्तौ तदुत्पाद-कल्पनाया अप्यक्तत्वादिति भावः । 'क्रूरग्रहेण जन्मनि पीडिते च न भवति विभूतिः' इति ग्रहचिन्तव्यवस्था ॥५५॥

तस्यैव तदनन्तराभवनस्वभावत्वे युक्त्यभावादाकस्मिकत्वेन कार्यानुत्पत्तिदूषणं स्वोक्त-मेव सम्मतिग्रन्थे प्राग् योजितम्, अथ चातिप्रसङ्गं सामान्यशब्देन स्वोक्तमेव तत्र योजयि-तुमाह–इति केचित्—

वस्तुतो-घटकुर्वद्रूपत्वेन मृत्पिण्डदण्डादिक्षणानामेव घटहेतुत्वम्, पटकुर्वद्रूपत्वेन च तन्तु-वेमादिक्षणानामेव पटहेतुत्वम्, इत्यादिरीत्या नातिप्रसंग इत्यत्राप्याह—

मूलं–तदनन्तरभावित्वमात्रतस्तद्व्यवस्थितौ ।
विश्वस्य विश्वकार्यत्वं स्यात्तद्भावाऽविशेषतः ॥५६॥

का कहना है कि जन्मस्थान में क्रूर ग्रह होनेपर विभूति की उत्पत्ति (प्राप्ति) नहीं होती है, उसी के अनुसार कार्य के जन्मस्थानमें प्रमाणाभाव राहु भी क्रूर ग्रह के समान उपस्थित है, अतः कार्य में वैजात्य का जन्म ही दुर्घट हो जायेगा। अतः उसे वैजात्य रूप सम्पत्ति के लाभ की आशा कैसे की जायेगी? । कहने का आशय यह है कि जब कार्य के वैजात्य को कारणनियम्य न मानकर स्वाभाविक माना जायेगा तब उसी प्रकार कार्यक्षणसाध्य अर्थक्रिया भी कार्यक्षणनियम्य न होकर स्वाभाविक ही मानी जा सकेगी। फलतः अर्थक्रियाप्रयोजकत्व के रूप में कार्य के सत्त्व की मान्यता भी युक्तिहीन हो जायेगी।

५६ वीं कारिका के अवतरण में दो मत हैं, कुछ पंडितों का यह कहना है कि–"बौद्ध के मत में–वही पूर्वक्षणवर्त्ती भाव उत्तरक्षण में अभाव बन जाता है-इस कथन में कोई युक्ति नहीं है क्योंकि तब प्रतिनियत उत्तर क्षण में उत्पन्न कार्य को आकस्मिक मानना होगा और आकस्मिक कोइ कार्य होता नहीं, इसलिये कार्यकी अनुत्पत्ति प्रसक्त होगी। यह दोष प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ही कहा है और उसमें सम्मति ग्रन्थ की सम्मति बतायी है। तथा, वैश्वरूप्याभाव का अतिप्रसङ्ग भी उन्होंने 'अतिप्रसङ्ग' इस सामान्यशब्द से स्वयं कहा है। अब उसमें भी सम्मतिग्रन्थ की सम्मति प्रदर्शित करने के लिये अग्रिम कारिका का उत्थान किया है"।–किन्तु सत्य बात यह है कि इस ५६ वीं कारिका का अवतरण अति-प्रसङ्ग के द्वारा पूर्वोक्त दोषका एक परिहार प्रस्तुतकरने वाले बौद्धवादी का निराकरण करने के लिये किया गया है। पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग के परिहार में बौद्ध का कहना यह है कि असत्कार्यवाद में भी प्रति-नियत कार्य की व्यवस्था हो सकती है और कार्य के वैविध्य लोप का अतिप्रसङ्ग भी नहीं होगा। क्योंकि मृत्पिण्डदण्डादि घट के प्रति घटकुर्वद्रूपत्व से कारण होता है। अत एव उनसे उत्पन्न होनेवाला कार्य घट ही होता है। एवं तन्तु आदि क्षण भी पट-कुर्वद्रूपत्व से पट के ही कारण होते हैं। अतः उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य पट ही होता है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव मानने पर न तो कार्य की विजातीयता आकस्मिक होगी और न तो कार्यवैविध्य लोप का आपादक कार्यमात्र में एक स्वभावता का अति-प्रसङ्ग ही होगा। इस बौद्ध कथन का परिहार का० ५६ में किया गया है—

तदनन्तरभावित्वमात्रतः= अधिकृतकारणानन्तर्यमात्रात्, **तद्व्यवस्थितौ**=कार्य-कारणभावसिद्धावभ्युपगम्यमानायां **विश्वस्य**=सकलकार्यस्य, **विश्वकार्यत्वं**=सकलकारण-जन्यत्वं स्यात् । कुतः ? इत्याह-**तद्भावाऽविशेषतः**=तदनन्तरभावित्वाऽविशेषात् । न ह्यनन्त-रभावि घटापेक्षयेव तादृशपटापेक्षयापि न मृत्पिण्डादिक्षणानां कुर्वद्रूपत्वं, येन कार्यविशेषः स्यात् । 'कार्यविशेषदर्शनात् तद्विशेषः कल्प्यत' इति चेत् ? न, व्यावृत्तिरूपस्य विशेषस्य निषेत्स्यमानत्वात् । विधिरूपत्वेऽप्यङ्कुरकुर्वद्रूपत्वादेः शालित्वादिना सांकर्यात्, जातिरूपस्य तस्याऽसम्भवात्, अनभ्युपगमाच्चेत्याशयः ॥५६॥

इदमेव स्पष्टयति-'विशेषकारणं विक्षिपति' इत्यपरे—

मूलं—**अभिन्नदेशतादीनामसिद्धत्वादनन्तरम् ।**
सर्वेषामविशिष्टत्वान्न तन्नियमहेतुता ॥५७॥

मिट्टी में पटकुर्वद्रूपत्व क्यों नहीं हो सकता ?]

कारिका (५६) का अर्थ इस प्रकार है-जो जिस कार्य का अधिकृत कारण है उसके आनन्तर्य मात्र के आधार पर कार्यकारणभाव की सिद्धि यदि मानी जायेगी तो सम्पूर्ण कार्यमें समस्त कारण के कार्यत्व की आपत्ति होगी । क्योंकि सबका आनन्तर्य सब में समान है । इस स्थितिमें यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्पिण्डादि क्षणोंमें उसके अनन्तर होनेवाले घट का ही कुर्वद्रूपत्व है और पटादि उसके अनन्तरभावी होने पर भी पट का कुर्वद्रूपत्व उनमें नहीं है । अतः उक्त रूपसे कार्यकारण भाव की कल्पना कर कारणविशेष से कार्यविशेष के जन्म का समर्थन नहीं हो सकता ।

बौद्ध की ओरसे इस सन्दर्भमें यह कहा जाय कि-"मृत्पिण्डादि क्षणों से घट जैसे विशेष कार्य की उत्पत्ति और तन्तुआदि क्षणों से पट जैसे विशेष कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिये मृत्पिण्डादि घट कारणों में घटकुर्वद्रूपत्व और तन्तुआदिपटकारणों में पटकुर्वद्रूपत्व की कल्पना युक्तिसङ्गत है"- तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि तत्तत्कार्यकुर्वद्रूपत्व को अभाव अथवा भाव रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि, उसकी अभावरूपता का खण्डन आगे किया जाने वाला है और भावरूपता उसकी इसलिये नहीं मानी जा सकती कि उसको भावरूप मानने पर जातिरूप मानना होगा और उसकी जातिरूपता सांकर्य दोष के कारण सम्भव नहीं । सांकर्य दोष उसमें अत्यन्त स्पष्ट है-जैसे, शालित्व कुशूलवर्त्तीशालिबीज में होता है उसमें अङ्कुरोत्पादकत्व नहीं रहता है और अङ्कुरोत्पादक-त्व उपजाऊ भूमि में क्षिप्त यवबीजमें रहता है किन्तु उसमें शालित्व नहीं रहता, तथा अङ्कुरकुर्वद्रूपत्व और शालित्व दोनों उपजाऊ भूमि में क्षिप्त शाली बीजमें होता है अतः कुर्वद्रूपत्व को जाति स्वरूप नहीं माना जा सकता । तथा, जाति की सत्ता बौद्ध को स्वीकृत भी नहीं है ।।५६।।

५७ वीं कारिकामें पूर्व कारिकाके प्रतिपाद्य अर्थ को ही स्पष्ट किया है । दूसरे विद्वानों का मत है कि प्रस्तुत कारिकामें बौद्ध मत खण्डन में नवीन हेतु का उपक्षेप किया गया है—

अभिन्नदेशतादीनां=कारणदेशैकदेशत्वादीनाम् , आदिनाऽभिन्नजातित्वादिग्रहः, **असिद्धत्वात्**=क्षणिकत्वेन देशादिभेदोपपत्तेः, तथा अपरिणामित्वेनानन्वयात् **सर्वेषाम्**= अनन्तरभाविनां कार्याणाम् सर्वाणि पूर्वभावीनि कारणानि प्रत्यविशिष्टत्वाद् **न तन्नियमहेतुता**=न कार्यविशेषनियमहेतुता कारणविशेषे-इत्यक्षरार्थः ।

देशनियमस्तथाभाविकारणानभ्युपगमे दुर्घटः, सर्वेषां घटकुर्वद्रूपक्षणानामेकत्राऽसत्त्वात् , मृत्पिण्डक्षणदेशेऽपि पूर्वेश्च घटक्षणानुत्पत्तेश्च । न च मृद्रूपघटक्षणं प्रति घटकुर्वद्रूपमृत्क्षणत्वेन हेतुत्वाद् नानुपपत्तिरिति वाच्यम् , दण्डादिसमाजादमृद्रूपघटापत्तेः । न च दण्डादीनामपि

[निश्चित कारण से नियतकार्योत्पत्ति क्षणिकवाद में असंभव]

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—बौद्धमत में कारण विशेषमें कार्यविशेष की नियत हेतुता' की उपपत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि इसकी उपपत्ति कारण और कार्य की समान देशता, समान जातीयता अथवा कार्यमें कारण का अन्वय होनेसे ही सम्भव होती है । किन्तु बौद्धमतमें भावमात्रके क्षणिक होनेसे कारण देश का कार्यकालपर्यन्त अवस्थान एवं कारण गत जाति का कार्यकाल पर्यन्त अवस्थान न होने से समान देशत्वादि असिद्ध है । तथा, कारण को कार्यात्मना परिणामी न मानने से कारणमें कार्यका अन्वय भी असिद्ध है । बौद्ध मतमें यदि सिद्ध है तो केवल इतना ही कि कार्य में कारण का आनन्तर्य मात्र । किन्तु इतने से ही कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति का नियम नहीं उपपन्न हो सकता. क्योंकि जिस कार्य व्यक्ति के पूर्वमें जितने भी कारण हैं उन सभी का आनन्तर्य उस कार्यमें समान है । अतः 'उसके प्रति कुछ नियत पूर्ववर्त्ती ही कारण हो, अन्य न हो' यह निर्धारण शक्य नहीं है । यही है कारिका का साधारण अक्षरार्थ । कारिका के इस अक्षरार्थ का निष्कर्ष निम्नोक्त प्रकार से ज्ञातव्य है—

[बौद्धमत में कारणदेश में ही कार्योत्पत्ति का असंभव]

इस सम्बन्धमें बौद्ध के कथन पर विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घटकुर्वद्रूपत्व रूपसे मृत्पिण्डादिको घटका कारण मानने पर काल नियम अर्थात् कालविशेष में ही घटादि रूप कार्य विशेष की उत्पत्ति का नियम तो उपपन्न हो सकता है । किन्तु देशनियम की उपपत्ति-अर्थात् अमुक कार्य की उत्पत्ति अमुक देश में ही हो यह व्यवस्था नहीं हो सकती । यह व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती थी यदि कार्यात्मना परिणमनशील कारण की सत्ता स्वीकार की जाती, क्योंकि तब यह कहा जा सकता था कि पिण्ड और घट दोनों एक ही मृद्द्रव्य के परिणाम हैं और पिण्डात्मक परिणाम घटात्मक परिणाम के प्रति कारण है । कारण और कार्य दोनों एक ही मृद् द्रव्यमें आश्रित हैं इसीलिये कारण देशमें कार्योत्पत्ति का नियमन हो सकता है । किन्तु क्षणिकवादी बौद्ध को यह मान्य नहीं है । अतः घट के जितने भी कुर्वद्रूपक्षण हैं मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्रादि, उन सभी का किसी एक देशमें अवस्थान न होने से किसी देशविशेष में ही उनसे घट रूप कार्य की उत्पत्ति का नियमन नहीं हो सकता । यदि मृत्पिण्डक्षण को घटके प्रति घटकुर्वद्रूपत्वेन तादात्म्यसम्बन्ध से और मृत्पिण्डानुयोगिक कालिक सम्बन्ध

मृद्रूपघटत्वावच्छिन्नं प्रत्येव हेतुत्वाद् नायं दोष इति वाच्यम् , स्फुटगौरवात् , कार्यगतयावद्धर्माणां कार्यतावच्छेदके प्रवेशप्रसङ्गात् , कारणगतमृद्रूपकार्यसंक्रमेऽन्वयप्रसंगात् , अतिरिक्तस्याऽनिर्वचनाच्च । तस्माद् घटयोग्यतया घटहेतुत्वं विना न निर्वाह इति सूक्ष्ममीक्षणीयम् ॥५७॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति--

मूलं–योऽप्येकस्यान्यतो भावः संताने दृश्यतेऽन्यदा ।
तत एव विदेशस्थात्सोऽपि यत्तन्न बाधकः ॥५८॥

से घटकुर्वद्रूपत्व विशिष्ट दण्डादि को कारण मानकर इन सभी कारणों का एक देशमें सत्त्व उपपन्न किया भी जाय तो इस से भी कार्यके उत्पत्ति देश का नियमन नहीं हो सकता, क्योंकि मृत्पिण्डक्षण रूप देशमें भी घट क्षण की उत्पत्ति नहीं होगी । कारण, मृत्पिण्ड क्षण घटक्षण की उत्पत्ति काल में नहीं रहता ।

यदि यह कहा जाय कि 'मिट्टी रूप घटक्षण के प्रति घटकुर्वद्रूपत्वविशिष्ट मिट्टी क्षण को कारण मानने से उक्त अनुपपत्ति-'कारण विशेष से कार्य विशेष के नियम की अनुपपत्ति'- नहीं हो सकती'-तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि मिट्टी क्षण को ही मिट्टी रूप घट क्षण के प्रति कारण मानने से दण्डचक्रादि रूप घटकुर्वद्रूपत्व क्षण से मिट्टी से भिन्नरूप घट की उत्पत्ति की आपत्ति होगी । यदि इस दोष के परिहार के लिये दण्डादि को भी मिट्टीरूप घटत्वावच्छिन्न के प्रति ही कारण माना जायगा तो स्पष्ट गौरव होगा । क्योंकि घटत्व को कार्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा मिट्टी रूप घटत्व को कार्यतावच्छेदक मानने में स्पष्ट गौरव है । दूसरी बात यह है कि मिट्टीरूपत्व स्वरूप कार्यधर्म को कार्यतावच्छेदक माना जायगा तो घटके अन्य अनेक धर्मों का भी विनिगमना विरह से कार्यतावच्छेदककोटि में प्रवेश प्रसक्त होगा और कारणगत मिट्टीरूप का घटात्मक कार्यमें सङ्क्रमण मानने पर मिट्टीरूप से घटात्मक कार्य में पिण्डात्मक कारण के अन्वय की प्रसक्ति होगी क्योंकि कारण से अतिरिक्त उसके मिट्टीरूप का निर्वचन नहीं हो सकता । अतः यह कहना कि-''घटोत्पादकता की नियामक घट-योग्यता है और घट-योग्यता घटकुर्वद्रूपत्वस्वरूप है और वह मृत्पिण्ड-दण्डादि में ही है, तन्तुआदि में नहीं, अत: मृत्पिण्ड-दण्डादि से ही घटकी उत्पत्ति होती है, तन्तुआदि से नहीं''-सङ्गत नहीं हो सकता । क्योंकि घटयोग्यता की कल्पना घटहेतुत्व द्वारा ही माननी होगी, अर्थात् मिट्टी आदि घट का हेतु और तन्तुआदि को घटका अहेतु मानकर के ही यह कहा जा सकता है कि घटकुर्वद्रूप घटयोग्यता मृत्पिण्डादि में है और तन्तु आदि में नहीं है । तथा घट हेतुत्व की उपपत्ति समानदेशत्वादि के बिना असम्भव है । अतः भाव के क्षणिकत्व वादी बौद्ध मत में कारण और कार्य में समानदेशताआदि का सम्भव न होने से कारणविशेष से कार्यविशेष की उत्पत्ति के नियम का निर्धारण नहीं किया जा सकता । यही कारिका का सूक्ष्मनिरीक्षणलभ्य निष्कर्ष है ।।५७।।

[समानदेशत्व का अभाव बाधक नहीं है–बौद्ध]

५८ वीं कारिका में जैन वादी से उद्भावित उक्त दोष के परिहार सम्बन्ध में बौद्ध के एक अभिप्राय को शङ्का रूपमें प्रस्तुत कर उसका परिहार किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है-

योऽपि क्वचिदेकस्य=धूमादेः अन्यतः=अग्न्यादेः सकाशात् , भावो=अभूत्वा भावः, अन्यदा=उत्पादादूर्ध्वं संताने दृश्यते, क्षणयोर्न व्यावहारिकं ग्रहणमिति संतानग्रहणम् , सोऽपि विदेशस्थात्=देशान्तरस्थितात् , तत एव=अग्न्यादेरेव, यद्=यस्मात् , तत्=तस्मात् न बाधको नियतकल्पनाया अयम् , इत्यक्षरार्थः ।

अयं भावः—तत्कार्यजननशक्तिमदेव कारणं तत्कार्यजनकम् , देशनियमस्तु स्वभावादेव दूरस्थेनाऽपि वह्निना दूरस्थधूमजननदर्शनादिति परस्याशयः । सोऽयमयुक्तः, वह्निना स्वसमीपदेश एव धूमोत्पादादनन्तरं तदुपसर्पणस्याऽपि तत्तत्क्रियादिहेतुदेशनियतदेशत्वात् अन्यथा काशीयो वह्निः प्रयागेऽपि धूमं जनयेत् । न च लोहोपलस्याऽसन्निकृष्टलोहाकर्षकत्ववदन्यत्राऽपि तथाकल्पनम् , अतिप्रसङ्गात् । शक्तिरपि सूक्ष्मकार्यरूपैव, अत एव तिलादौ तैलसद्भावं निश्चित्यैव तैलार्थिनस्तत्र प्रवर्तन्ते इति न किञ्चिदेतदिति दिक् ॥५८॥

सन्तान में 'अन्य से'-अन्यदेशवर्त्ती कारण से देशान्तरवर्त्ती कार्य का अभवनपूर्वक भवन देखा जाता है, जैसे-वह्नि सन्तान से धूम सन्तान की उत्पत्ति सर्वविदित है । इस प्रकार जब देशान्तरवर्त्ती कारण से अन्यदेशवर्त्ती कार्य की उत्पत्ति होती है तो कारण और कार्य में समानदेशत्वाभाव कारणविशेष से कार्य विशेष के उत्पत्ति नियम का बाधक नहीं हो सकता । यद्यपि, देशान्तरवर्त्ती कारण से देशान्तरवर्त्ती कार्य की उत्पत्ति एक सन्तानान्तर्गत पूर्वोत्तरक्षणों में भी मान्य है किन्तु उसे अन्यवादी के प्रति दृष्टान्त रूपमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन क्षणोंमें एकदेशवर्त्ती से देशान्तरवर्त्ती के भवन का व्यावहारिक [व्यवहार योग्य] ग्रहण नहीं होता, किन्तु सन्तान में होता है, जैसे-वह्निसन्तान और धूमसन्तान में स्पष्ट दृष्ट है । इसी लिये कारिकामें सन्तान द्वारा ही इस बात का कथन किया गया है । कारिका का यह सामान्याक्षरार्थ है ।

[स्वभाव से ही देशविशेष का नियम संभव- बौद्ध]

मूलकार ने शब्दतः बौद्ध के अभिप्राय को प्रस्तुत किया है और तात्पर्यतः उसके खण्डन का सङ्केत किया है जिसे व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है—बौद्धके कारिका-अक्षरलभ्य उक्त कथन का आशय यह है कि जिस कारणमें जिस कार्यके उत्पादन की शक्ति होती है उसी से उस कार्य कि उत्पत्ति होती है । कारणविशेष [में कार्यविशेष] के उत्पादन शक्ति की कल्पना कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति के दर्शन के आधार पर की जाती है । इस कल्पना से सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्तिप्रसङ्ग का वारण हो जाता है । रह जाती है बात कार्य देश के नियम की । अर्थात् 'कारणविशेष से कार्यविशेष की उत्पत्ति किस देश विशेषमें हो ?' इसका उपपादन शेष रह जाता है, जिसे स्वभावाधीन मानना ही उचित है । अर्थात्, कोई कार्य किसी देश विशेषमें स्वभावविशेष से ही उत्पन्न होता है । कार्यस्वभाव से अतिरिक्त अन्य किसी नियामक की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि दूरस्थ अग्नि से दूरस्थ धूम की उत्पत्ति देखी जाती है ।

[समान देशता का नियम अभंग है—जैन]

व्याख्याकार की दृष्टि में बौद्ध का यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है । क्योंकि अग्नि भी अपने समानदेश में ही धूमको उत्पन्न करता है । उत्पत्ति हो जाने के बाद धूमका उपसर्पण-अर्थात् धूम का

एतेन प्रसङ्गाभिधानेन यद् व्युदस्तं तदभिधातुकामः प्राह—

मूलं-एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना ।
नासतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं न सः ॥५९॥

एतेन=अनन्तरोदितप्रसङ्गेन, एतत्=वक्ष्यमाणम् , प्रतिक्षिप्तम्=अपाकृतम् , यदुक्तं **सूक्ष्मबुद्धिना**=कुशाग्रीयधिया **शान्तरक्षितेन** । किमुक्तम् ? इत्याह-**नासतः**=तुच्छस्य कारणस्य **भावकर्तृत्वं**=वस्तुजनकत्वं येन शशशृङ्गादेरपि जनकत्वप्रसङ्गः स्यात् । तथा, **सः**=उत्पद्यमानो भावः **तदवस्थान्तरं न**=मद्रूपापन्नासदवस्थाक्रान्तो न, येन शशशृङ्गेऽपि सदवस्थापादनेन हेतुव्यापारोपवर्णनं सफलं स्यात् ॥५६॥

कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य और कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण के संयुक्त होनेवाले एकदेश में विद्यमान होनेसे धूमक्रिया और धूमोपसर्पण में भी समान देशत्व का नियम अक्षुण्ण है। यदि अग्नि से उत्पन्न दूर तक फैले हुए धूम को देखकर यह कल्पना की जायेगी कि अग्नि से धूम की उत्पत्ति में समानदेशता अपेक्षित नहीं है, तो-काशी स्थित अग्नि से प्रयाग में भी धूम उत्पन्न होने की आपत्ति होगी। अतः कार्य-कारण में समान देशता का नियम मानना आवश्यक है । यदि यह कहा जाय कि-"जैसे अन्य देशमें अवस्थित लोहचुंबक देशान्तर में स्थित लोह का आकर्षण करता है अर्थात् एकदेशस्थ लोहचुंबक से देशान्तरस्थ लोहमें आकर्षण क्रिया उत्पन्न होती है-तो जैसे उनमें समान देशत्व न होने पर भी हेतुहेतुमद्भाव होता है उसी प्रकार अन्य हेतु कार्यों में भी कल्पना की जा सकती है-" तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस कल्पना में अतिप्रसंग है। काशीस्थ अग्नि में प्रयागीय धूमोत्पादन शक्ति की कल्पना कर प्रयागीयधूम इस अग्नि से क्यों न उत्पन्न हो ? ऐसी आपत्तिओं का परिहार अशक्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि लोहचुंबक और लोहाकर्षण में भी समानदेशत्व का अभाव नहीं है। क्योंकि लोह चुंबक में लोहाकर्षण शक्ति होने से ही उसके द्वारा लोहका आकर्षण होता है । तथा, तत्तत्कारण में विद्यमान तत्तत् कार्य की शक्ति सूक्ष्म तत्तत्कार्य रूप ही होती है। इस प्रकार यहाँ भी कार्य कारण में समानदेशत्व अक्षुण्ण है । कार्य-कारण भावमें समानदेशत्व का नियम होने के कारण ही यह माना जाता है- कि तैल चाहने वाले मनुष्य तिल आदि में तैल के अस्तित्व का निश्चय करने पर ही तिल आदि का संग्रह व उसका पेषण, करने में प्रवृत्त होते है। अतः बौद्ध का पूर्वोक्त कथन सर्वथा अकिञ्चित्कर है । कारणविशेष से कार्यविशेषकी नियतदेश और नियत कालमें उत्पत्ति की व्यवस्था सम्बन्ध में विचार करने की यही संगत दिशा है ।।५८।।

[शान्तरक्षित के 'असत् पदार्थ वस्तुजनक नहीं होता'-कथन की व्यर्थता]

कार्य-कारण में समानदेशत्व का नियम न मानने पर दूरदेशवर्त्ती कारण से कार्योत्पत्ति के प्रसङ्ग का जो आपादन पूर्व कारिका में किया गया उससे प्रकृत में किसका प्रतिक्षेप होता है इस बात को ५९ वीं कारिका में दिखाया गया है। कारिका का अर्थ इस तरह है-

उक्त प्रसङ्ग-आपादन से तत्त्वसंग्रह के कर्ता शान्तरक्षित के कथन का निराकरण होता है। शान्तरक्षित का कथन यह है कि तुच्छ वस्तु किसी भाव की जनक नहीं होती है अतः शशशृङ्गादि के

किं तर्हि तत्त्वम् ? इत्याह–

मूलं–वस्तुनोऽनन्तरं सत्ता कस्यचिद्या नियोगतः ।
सा तत्फलं मता सैव भावोत्पत्तिस्तदात्मिका ॥ ६० ॥

वस्तुनः=अग्न्यादेः अनन्तरं सत्ता कस्यचिद्=धूमादेः नियोगतः=नियमेन या, सा तत्फलं=तस्यानन्तरस्याग्न्यादेः कार्यम् मता= दृष्टा, तस्याः कथमुत्पत्तिः ? इत्याह सैव= सत्ता भावोत्पत्तिः, उत्पत्त्युत्पत्तिमतोरभेदात् , तदात्मिका=भावात्मिकैव, नान्या । ततः सत्ताया एव जनकत्वात् कथमसज्जनकत्वेनातिप्रसङ्गोद्भावनं युक्तम् ? इत्याशयः ॥६०॥

ननु यद्येवम् , तर्हि कथम् 'असत उत्पत्तिः' इत्युच्यते ? इत्यत आह–

मूलं–असदुत्पत्तिरप्यस्य प्रागसत्त्वात् प्रकीर्तिता ।
नासतः सत्त्वयोगेन कारणात्कार्यभावतः ॥ ६१ ॥

जनकत्व की आपत्ति नहीं हो सकती। एवं उत्पन्न होनेवाला भाव सद्रूपापन्न होने पर असदवस्था से आक्रान्त नहीं रहता, इसलिये शशशृङ्ग में भी सदवस्था के आपादान के लिये कारण व्यापार के वर्णन की सफलता नहीं हो सकती । आशय यह है कि न तो शशशृङ्ग में जनकत्व का आपादान किया जा सकता है, न तो जन्यत्व का आपादान हो सकता है। जनकत्व का आपादान इसलिये नहीं हो सकता कि वह तुच्छ होता है और तुच्छ कभी किसीका कारण नहीं होता। क्योंकि पूर्वभाव जो उत्तरभाव का कारण होता है वह सत्त्व प्राप्त करके ही कारण होता है। इसी प्रकार शशशृङ्ग आदिमें, उत्पन्न होने वाले भाव के दृष्टान्त से, जन्यत्व का भी आपादान नहीं हो सकता। क्योंकि उत्पद्यमान भाव और शशशृङ्ग आदि के असत्त्व में तुल्यता नहीं है। उत्पन्न होनेवाला भाव उत्पत्ति के पूर्वमें असद् अवश्य होता है किन्तु उत्पत्ति कालमें सद् रूप को प्राप्त करनेपर असदवस्था-असद्रूप से आक्रान्त नहीं रहती। शशशृङ्ग सम्बन्ध में इस प्रकार कारणव्यापार सफल नहीं हो सकता क्योंकि उसकी असदवस्था=असद्रूपता कभी निवृत्त नहीं होती। वह सर्वदा तदवस्थ ही रहती है ॥५९॥

[कारण के बाद कार्यसत्ता–भावोत्पत्ति और भाव सब एकरूप है]

६० वीं कारिका में शान्तरक्षित के मत से वस्तु की उत्पत्ति और अवस्तु की अनुत्पत्ति के रहस्य का उपपादन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है–अग्नि आदि वस्तु के बाद धूम आदि की जो नियत सत्ता मानी जाती है उस सत्ता को ही भाव की उत्पत्ति मानी जाती है। उत्पत्ति और उत्पत्तिमान् में कोई भेद नहीं होता। भावकी उत्पत्ति भावात्मक ही होती है उससे भिन्न नहीं होती। इसलिये सत्ता में ही जनकत्व की मान्यता होने के कारण असत् में जनकत्व के अतिप्रसङ्ग का उद्भावन एवं सत्ता ही उत्पत्तिरूप होने से असद् में जन्यत्व के अतिप्रसङ्ग का उद्भावन युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता। असत् में जनकत्व का शब्दलभ्य उद्भावन असद् में जन्यत्व के आपादान का भी उपलक्षण है। अतः उसके भी आपादान की सम्भाव्यता की बात कह दी गई है ॥६०॥

६१ वीं कारिका में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि–जब उत्पत्ति सत्तारूप है तो फिर वह उत्पत्ति के पूर्व असत् पदार्थों को कैसे हो सकती है ? क्योंकि असत् का सत्तायोग विरुद्ध प्रतीत होता है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

असदुत्पत्तिरपि अस्य=सत्तात्मकस्य भावस्य, प्रागसत्त्वात्=प्राक्कालवृत्तित्वाभावात् प्रकीर्तिता। विशेषमाह–असतः=तुच्छस्य, सत्त्वयोगेन=सत्त्वव्यापारेण न। कुतः ? इत्याह–कारणात् सकाशात् कार्यभावतः–कार्योत्पादात्, भावाद्धि भावोत्पत्तिरिति। न हि प्रागसत्त्वमनुत्पत्तिव्याप्यं किन्त्वसत्त्वमेव, नापि प्रागसतः सत्ताऽनुपपन्ना किन्त्वसत एवेति भावः ॥६१॥

यथैतत् प्रतिक्षिप्तं तथा लेशतो दर्शयति–

मूलं–प्रतिक्षिप्तं च तद्धेतोः प्राप्नोति फलतां विना।
असतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरं च सः ॥ ६२ ॥

प्रतिक्षिप्तं चैतत्, तद्धेतोः=विशिष्टफलहेतोर्मृदादेः फलतां विना=घटादिरूपेण भवनमन्तरेण प्राप्नोति=आपद्यते, किम् ? इत्याह–असतः=तुच्छस्यैव भावकर्तृत्वं, कारणत्वेनाभिमतस्य तत्त्वतोऽकारणत्वात्, कार्योत्पादकाले तस्याऽसत्त्वात् अर्थक्रियाकारित्वाभावेन स्वरूपसत्त्वस्य स्वप्नावगतपदार्थवद् वस्तुव्यवस्थाऽहेतुत्वात्। तथा, असतः तदवस्थान्तरं च=असदवस्थाविशेषश्च सः=भावः प्राप्नोति, अनुत्पत्तिरूपाऽसत्ताया एवोत्पत्तिरूपसत्तावस्थाप्राप्तेः ॥ ६२ ॥

[असत् की नहीं, प्रागसत् की उत्पत्ति और सत्ता मान्य है]

सत्तात्मक भाव की जो उत्पत्ति होती है वह तुच्छ की उत्पत्ति नहीं है फिर भी उसे असत् की उत्पत्ति इसलिये कहा जाता है कि उत्पन्न होने वाला भाव उत्पत्ति के पूर्व काल में असत् होता है, न कि उत्पन्न होने वाला भाव उत्पत्ति के पूर्व तुच्छ होता है अर्थात् नितान्त असत् होता है और बाद में उसमें सत्ता का सम्बन्ध होने से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है। क्योंकि 'कारण' से कार्य की उत्पत्ति होती है इसका अर्थ यह होता है कि 'भाव से भाव की उत्पत्ति'। क्योंकि पूर्वक्षण उत्पन्न हो जाने से भावात्मक हो जाता है और उत्पन्न होने वाला उत्तर क्षण भी उत्पत्ति कालमें भावात्मक हो जाता है। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् मानने से उसकी अनुत्पत्ति का आपादान नहीं हो सकता। क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कालीन असत्त्व अनुत्पत्ति का व्याप्य नहीं होता, किन्तु अनुत्पत्ति का व्याप्य तो केवल असत्त्व होता है। एवं उत्पत्ति पूर्व कालीन असत् में सत्ता का होना अनुपपन्न नहीं है किन्तु केवलअसत्–सर्वथा असत् में ही सत्ता का होना अनुपपन्न है। ६१॥

[शान्तरक्षित मत की असारता, हेतु-फल का ऐक्य]

६२ वीं कारिका में, शान्तरक्षित के 'नाऽसतो भावकर्तृत्वं तदवस्थान्तरम् न सः' इस पूर्वोक्त कथन का प्रतिक्षेप किस प्रकार हो जाता है इसका सांकेतिक प्रदर्शन किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

विशिष्ट फल के कारणभूत मिट्टि आदि का घटादि रूप से भवन न मानने पर तुच्छ में जनकता प्राप्त होती है क्योंकि जिसे कारण मानना अभिप्रेत है वह वास्तविक रूप में कारण नहीं है। क्योंकि, कार्य के उत्पत्तिकाल में वह असत् हो जाता है। इसलिये उसमें उस समय अर्थक्रिया-

इदमेव भावयति–

मूलं–वस्तुनोऽनन्तरं सत्ता तत्तथा तां विना भवेत् ।
नभःपातादसत्सत्त्वयोगाद्वेति न तत्फलम् ॥६३॥

वस्तुनः=मृदादेः, अनन्तरं सत्ता=घटादिकार्यरूपा, तत्तथा तां विना=मृदादेरेव तद्भावमन्तरेण, नभःपातात्=अकस्मात् वा भवेत्, असत्सत्त्वयोगाद्वा=असतः सदवस्थापत्तेर्वा, इति हेतोर्नियमाऽयोगात्, न तत्फलम्=न तस्यैव कार्यं तदिति ॥६३॥

कारित्व नहीं होता। अतः स्वरूपसत् होने पर भी वह स्वप्न में दृष्ट पदार्थ के समान वस्तु की व्यवस्था का हेतु नहीं हो सकता । आशय यह है कि बौद्ध मत में सत्ता दो प्रकार की होती है। (१) अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्ता उस समय होती है जब वस्तु किसी कार्य को उत्पादक होती है। किन्तु स्वरूप सत्ता के लिये किसी कार्य का उत्पादक होना आवश्यक नहीं है अपि तु उसके लिये विकल्पात्मक ज्ञानका अविषय होना ही पर्याप्त है। शशशृङ्गादि की स्वरूप सत्ता नहीं होती क्योंकि वह विकल्पात्मक ज्ञानका ही विषय होता है। किन्तु जो वस्तु कभी विकल्पात्मक ज्ञानका विषय नहीं होती है उसकी स्वरूप सत्ता अर्थक्रियाकारित्व के न होने पर भी मानी जाती है। जैसे स्वप्न में दृष्ट पदार्थ अर्थक्रियाकारी न होने पर भी स्वरूप से सत् होता है। उसी प्रकार पूर्वक्षण भी उत्तरक्षण के उत्पत्ति काल में अर्थक्रियाकारित्व की दृष्टि से असत् हो जाता है किन्तु स्वरूप सत्ता उसकी उस समय भी होती है। किन्तु यह स्वरूप सत्ता किसी वस्तु की व्यवस्था के लिये अकिञ्चित्कर है। उसके लिये अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्ता आवश्यक होती है अन्यथा यदि स्वरूप सत्ता भी उसके लिये पर्याप्त मानी जाय तो स्वप्नदृष्ट पदार्थ से भी वस्तु की व्यवस्था होने की आपत्ति होगी।

यह भी ज्ञातव्य है कि उत्पन्न होनेवाला भाव असत् पदार्थ की विशेष अवस्था ही है। क्योंकि अनुत्पत्ति रूप असत्ता अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व वस्तु की असत्ता ही उत्पत्ति रूप सत्ता की अवस्था को प्राप्त करती है। कथन का निष्कर्ष यह है कि जो शान्तरक्षित ने यह कहा था कि "असत् में भावका जनकत्व नहीं हो सकता और उत्पन्न होने वाला भाव भी असत्ता का अवस्थान्तर नहीं है" यह युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से उत्तर भावकी उत्पत्ति काल में पूर्वभाव के असत् होने से असत् में ही भावका जनकत्व और उत्पत्ति के पूर्व असत्ता का ही उत्पत्ति रूप सत्ता की अवस्था में परिवर्तन होने से उत्पत्ति को असत्ता का ही अवस्थान्तररूपत्व बौद्ध मत में भी सिद्ध होता है। इस प्रकार शान्तरक्षित के उक्त कथन की निःसारता सूचित हो जाती है।६२॥

(असत् पदार्थ अकस्मात् या सत्त्वलाभ करके उत्पन्न नहीं हो सकता)

६३ वीं कारिका में उक्त युक्ति से प्राप्य फल का कथन किया गया है–मिट्टी आदि वस्तु के बाद जो घटादि रूप सत्ता होती है वह मिट्टी आदि का घटादि रूप में परिणमन माने बिना नहीं हो सकती क्योंकि मिट्टी आदि का घटादि रूप में परिणमन न मानने पर घटादि को मिट्टी आदि का कार्य कहना दो प्रकार से ही सम्भव हो सकता है। एक यह कि कार्य आकाश से टपक पड़ता है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति अकस्मात् होती है। दूसरा यह कि असत् को सदवस्था की प्राप्ति होती है। किन्तु यह दोनों ही अनियत है। क्योंकि यदि कार्य अकस्मात् हुआ करे तो अप्रामाणिक अनन्त कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग

उपन्यस्तशेषं निराकरोति—

मूलं–असदुत्पत्तिरप्येवं नास्त्यैव प्रागसत्त्वतः ।
किन्त्वसत्सद्भवत्येवमिति सम्यग्विचार्यताम् ॥६४॥

असदुत्पत्तिरपि, एवम्=उक्तप्रकारेण नास्य=अधिकृतभावस्य प्रागसत्त्वत एव= प्राक्कालवृत्तित्वाभावमात्रादेव, किन्तु एवं त्वदभ्युपगमरीत्या असत् सद् भवति इति सम्यक्= सूक्ष्माभोगेन विचार्यताम् । तथाहि-नाशवत् प्रागभावोऽपि तव तुच्छ एव, ततस्तत्संबंधादसत्त्वमेव वस्तुन आपतितम् , इत्यसत एवोत्पत्त्या सद्भवनं सिद्धम् ।

अथ प्रागभावसम्बन्धित्वरूपं प्रागसत्त्वं काल्पनिकमेव, तात्त्विकं स्वधिकरणात्मक-प्राक्कालवृत्तित्वाभावरूपं, तदेवोत्पत्तिव्याप्यम् , अतो न प्रागसत्त्वस्य तुच्छत्वे तत्त्वतस्तद्-भावविकल्पेनाऽपि प्राक्सत्त्वप्रसङ्गावकाशः, धर्मिरूपतदभावे सत्युत्पत्तिरूपायाः सत्तायाः प्राच्य-त्वायोगात् , प्रागेव प्रागसत्त्वाभावकल्पनायाश्च प्रागसत्त्वकल्पनाप्रतिरोधादेवानुदयात् , असद्-विषयत्वे तस्या भ्रमत्वव्यवस्थितेः, तद्भ्रमत्वेनाऽपि तदसिद्धेरिति चेत् ? न, असत्या अपि

होगा । एवं असत् को सत्त्व का लाभ अर्थात् असत् को सदवस्था की प्राप्ति भी यदि नियम से हो तो शशसींगादि में सत्ता का लाभ यानी सदवस्था की प्राप्ति की आपत्ति होगी । दूसरी बात यह है कि इन दोनों ही पक्षमें कौन किसका कार्य हो इस बात का कोई नियम न हो सकने से 'घटादि मिट्टी का ही कार्य है' यह व्यवस्था उपपन्न न हो सकेगी ॥६३॥

(प्रागसत्त्व होने से असत् की उत्पत्ति होने का पक्ष असार है)

६४ वीं कारिका में पूर्वप्रदर्शित पूर्वपक्ष के बचे हुये अनिराकृत भाग का निराकरण किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

असत् की उत्पत्ति भी बौद्धाभिमत रीतिसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ के उत्पत्तिप्राक्कालिकअसत्त्व मात्र से ही नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा मानने पर सूक्ष्म विचार से यही प्राप्त होता है कि असत् ही सत् होता है । आशय यह है कि बौद्ध के मत में नाश के समान प्रागभाव भी तुच्छ है । अतः वस्तु का प्रागभाव मानने से उसका असत्त्व ही प्राप्त होता है, इसलिये उत्पत्ति द्वारा असत् का ही सत् होना सिद्ध होता है ।

[प्रागसत्त्व की तुच्छता से प्राक् सत्त्व की आपत्ति नहीं है-बौद्ध)

बौद्ध की ओर से यह पूर्वपक्ष स्थापित किया जाय कि–"उत्पत्ति के पूर्व जो भाव का असत्त्व माना जाता है और जिसे प्रागभावसम्बन्धित्व रूप कहा जाता है वह काल्पनिक है । किन्तु उत्पन्न होने वाले पदार्थ का जो उत्पत्ति के पूर्व काल में अभाव है अथवा उत्पन्न होने वाले पदार्थ में जो उत्पत्ति के पूर्व कालकी वृत्तित्ता का अभाव है वही उसका प्राक् कालिक असत्त्व है और वह अधि-करणात्मक होने से तात्त्विक है । क्योंकि असत्त्व यदि प्राक्काल में वस्तु का अभावरूप है तो उसका

प्रागसत्तायाः सत्तास्वरूपनाशे तादात्म्यसम्बन्धेऽसत एव सत्त्वापत्तेः, भावरूपनाशस्य निर्हेतुकत्वानभ्युपगमेन तत्र तदुत्पत्तिरूपसम्बन्धोपगमे च तुच्छस्य जनकत्वप्रसङ्गात्, असम्बन्धे च प्रागसत्ता न निवर्त्तेतैव नित्यनिवृत्तित्वात्; एतदनिवृत्तिमभ्युपगम्य तन्निवृत्त्यनुभवापलापे च नीलाद्यनुभवस्याप्यपलापप्रसङ्गात्, कल्पनयैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः, उत्पत्तेः स्वप्नावगतपदार्थसाधारणत्वेनाऽसति सत्त्वाधानं विना सत्त्वस्य दुर्घटत्वाच्च, इति न किञ्चिदेतत् ॥६४॥

पूर्वकाल रूप अधिकरण भी तात्त्विक है और यदि वह वस्तु में प्राक्कालवृत्तित्व के अभाव रूप है तो उस अभाव का अधिकरण उत्पन्न होने वाली वस्तु है और वह भी तात्त्विक है। फलतः यह प्रागसत् काल्पनिक न हो कर तात्त्विक है और यही उत्पत्ति का व्याप्य है। इसलिये कार्य के प्राक् सत्त्व का आपादान इस कल्पना से भी नहीं हो सकता कि "प्रागसत्त्व तुच्छ है अतः कार्य के पूर्व उसका तात्त्विक अभाव है।" क्योंकि प्राकसत्त्व का अभाव ही प्रागसत्त्व है। तदुपरांत यह भी सोचना आवश्यक है कि कार्य में उत्पत्ति के पूर्व जिस सत्ता का आपादान करना है वह सत्ता उत्पत्ति रूप है? अथवा प्राक् सत्ता के अभाव रूप है? उत्पत्ति रूप मानने पर उसमें प्राक्कालिकत्व की सम्भावना नहीं हो सकती। क्योंकि कार्य में जो प्राक्कालवृत्तित्व के अभाव रूप प्रागसत्त्व है वह कार्यात्मक धर्मी=कार्यात्मकाधिकरणस्वरूप है और उस धर्मी की उत्पत्ति रूप सत्ता प्राक्कालमें किसी को भी मान्य नहीं है। तथा उसके प्राक्कालवृत्तित्व का भी आपादान नहीं हो सकता क्योंकि प्राक्कालवृत्तित्व की धर्मीरूपता प्राक्कालवृत्तित्वाभावरूप प्रागसत्त्व के अभ्युपगम से ही प्रतिहत है। इसी प्रकार प्रागसत्त्व के अभाव रूप सत्ता की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि उसका उदय प्राक् असत्त्व की कल्पना से ही प्रतिरुद्ध है। अतः प्रागसत्त्वाभाव की कल्पना असद्विषयक होने से भ्रमरूप होगी और भ्रमरूप होने के कारण उससे प्राक्काल में कार्य की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती।"

किन्तु बौद्ध का यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागसत्त्व के तुच्छ-काल्पनिक होने पर भी कार्योत्पत्ति काल में जो उसका नाश होता है वह उस क्षण में होनेवाला जो सत्तात्मक कार्य तत् स्वरूप ही है अतः प्रागसत्त्वनाश के साथ प्रागसत्व का तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर असत् में ही सत्त्व की आपत्ति होगी। यदि उसका उस नाश के साथ उत्पत्तिरूप सम्बन्ध मानेंगे तो भावरूप नाश निर्हेतुक न होने से उसे उस नाश का जनक मानना होगा जिससे तुच्छ में जनकत्व की आपत्ति होगी। यदि नाश के साथ प्रागसत्ता का कोई सम्बन्ध न मानेंगे तो प्रागसत्ता अनिवृत्त रह जायेगी। क्योंकि वह अनादि से तो अनुवर्त्तमान है ही और आगे भी उसकी अनुवृत्ति का लोप न होने पर वह नित्यनिवृत्तिस्वरूप हो जायेगी। अगर उसकी अनुवृत्ति मानी जायेगी तो कार्योत्पत्ति के समय कार्य की प्रागसत्ता की निवृत्ति के अनुभव के समान ही नीलादि के अनुभव का भी अपलाप हो जायेगा। फलतः नीलादि वस्तु की भी सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि नीलादि के व्यवहार की उपपत्ति नीलादि की कल्पनामात्र से ही उपपन्न हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि उत्पत्ति स्वप्नदृष्ट पदार्थों की भी होती है और स्वप्नदृष्ट पदार्थ वस्तुतः असत् होते हैं। इसलिये असत् में सत्त्व का उपपादन भी दुर्घट है। सारांश, बौद्ध का उक्त कथन अकिञ्चित्कर है ॥६४॥

मूलोपक्रमोपसंहारमाह—

एतच्च नोक्तवद्युक्त्या सर्वथा युज्यते यतः ।
'नाभावो भावतां याति' व्यवस्थितमिदं ततः ॥६५॥

एतच्च=असत्सद्भवनमनन्तरापादितम् , **उक्तवद् युक्त्या**=अभिहितजातीयन्यायेन, **सर्वथा** भावावधिशून्यं न युज्यते यतः, ततो 'नाभावो भावतां याति' इति यदुक्तं इदं **व्यवस्थितम्**=उपपन्नम् , स्वाभिन्नहेतोरेव स्वोपादानत्वात् सत्कार्यवादसाम्राज्यात् ॥६५॥

अत्र **नैयायिकः**-ननु नैतत् साम्राज्यम् , स्वसमवेतकार्यकारित्वेनैव [स्वोपादानात् , सत्-कार्यकारित्वेनैव ?] स्वोपादानत्वसंभवात् , सत्तासमवायेनैव चार्थानां सत्त्वात् , अनुत्पत्तिदशायां प्रागभावरूपासत्त्वेऽपि सत्ताभावाऽयोगेनाऽविरोधात् , घटप्रागभावदशायां घटसत्त्वाऽभ्युपगम एव विरोधात् ; तस्य घटत्वावच्छिन्नत्वाभावेन घटत्वावच्छिन्नेन सह विरोधस्य वक्तुमशक्यत्वाद् इति चेत् ? न, विरोधस्य विशिष्यैव कल्पनात् , 'इदानीं सन् घटः प्राग् न सन्' इति धियः 'इदानीं श्यामः प्राग् न श्यामः' इतिवदुभयैकरूपवस्त्ववगाहित्वात् समवाये मानाभावाच्च ।

[अभाव का भाव संभव नहीं है- उपसंहार]

६५ वीं कारिकामें, 'अभाव भाव नहीं होता' (११ वीं कारिका निर्दिष्ट) इस मूल कथन का उपसंहार किया गया है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है –

अभी तत्काल बौद्धमत की आलोचना के प्रसङ्ग में असत्-कार्यवाद स्वीकार करने पर जो असत् का सद्भवन रूप अनिष्ट आपादित हुआ है वह जैसे युक्ति से आपादित हुआ है उसी प्रकार की युक्ति से विचार करने पर पूर्वभावात्मक अवधि के सर्वथा अभाव में असद् का सद्भवन युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता । आशय यह हुआ कि यदि असत् कार्य की सत्तात्मक उत्पत्ति मानी जायेगी तो असत् शशसींगादि की सत्ता का भी प्रसङ्ग होगा । क्योंकि, उत्पत्ति के पूर्व कार्य को यदि कोई भावात्मक अवधि नहीं होगी तो उसके असत्त्व और शशसींगादि के असत्त्व में कोई अन्तर नहीं होगा । अतः असत् कार्य का सद् भवन उपपन्न नहीं हो सकता । अत एव पूर्व में जो यह बात कही गई कि 'अभाव भाव नहीं हो सकता' वह सर्वथा संगत है । निष्कर्ष यह है कि नियत कारण से नियत कार्य की ही व्यवस्थित उत्पत्ति का दर्शन होनेसे यह मानना आवश्यक होता है कि कार्य से अभिन्न कारण ही कार्य का उपादान कारण होता है । एवं च, जब उपादान में कार्य का अभेद प्राप्त हुआ तो कारणात्मना कार्य का प्राक् सत्त्व अनिवार्य होने से सत्कार्यवाद का साम्राज्य अखण्डित हो जाता है ॥६५॥

(समवायिकारणोपादानतावादी नैयायिक का पूर्वपक्ष)

'कार्यसे अभिन्न कारण ही कार्य का उपादान कारण होता है इसलिये सत्कार्यवाद का साम्राज्य अखण्डित है' इस निष्कर्ष के विरोधमें नैयायिकों का कहना यह है कि सत्कार्यवाद का कल्पित साम्राज्य क्षणभर भी नहीं टीक सकता । क्योंकि उसका जो आधार बताया गया है 'कार्य से अभिन्न कारण ही

कार्य का उपादान कारण है, वही निराधार है। क्योंकि कारण में समवेत अर्थात् स्वसमवेत कार्य का कारण होने से ही स्वमें उस कार्य की उपादान कारणता की उपपत्ति हो सकती है। अत एव सत् कार्य का कारण होने से ही स्वोपादानत्व को मानने की जरूरत नहीं होती, अर्थात् यह नियम नहीं है कि जो स्वमें प्रथमतः विद्यमान कार्य का कारण होता है वही कार्य का उपादान होता है। इसी प्रकार कार्य-सत्ता की उपपत्ति के लिये भी कार्य-कारणमें अभेद मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि कार्य की सत्ता भी सत्तासमवाय से ही उपपन्न हो सकती है और कार्यमें सत्ता का समवाय कार्य की उत्पत्ति से हो होता है, अनुत्पत्ति दशामें सत्ता का समवाय नहीं होता। क्योंकि, उस दशामें कार्य का प्रागभाव रूप असत्त्व मानने पर भी कार्य में सत्तासमवाय का अभाव मानने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् घटप्रागभाव और घटमें सत्तासमवाय का अभाव एक कालमें सम्भव है। क्योंकि घटप्रागभाव दशामें घटकी सत्ता मानने में ही विरोध है, सत्तासमवायाभाव मानने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि घटप्रागभाव का घटत्वावच्छिन्न के साथ विरोध होता है और सत्तासमवायाभाव में घटत्वावच्छिन्नत्व का अभाव होता है अतः घटत्वावच्छिन्न के साथ विद्यमान विरोध घटत्वावच्छिन्नत्व से शून्य होने के कारण सत्तासमवायाभाव में रहना शक्य नहीं है ?* -किन्तु [illegible] यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि विरोध की कल्पना विशेष रूप से ही होती है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि घट प्रागभाव का विरोध घटत्वावच्छिन्न के साथ ही है और घटवृत्ति सत्तासमवायाभाव के साथ नहीं है -क्योंकि जब घट ही नहीं है तब उसमें सत्तासमवायाभाव के रहने की सम्भावना युक्तिविरुद्ध है। इस प्रकार जैसे घट के साथ घटप्रागभाव का विरोध होता है वैसे ही घटनिष्ठ सत्तासमवायाभाव के साथ भी विरोध हो सकता है। एवं, जैसे "इदानीं श्यामः प्राग् न श्यामः=इस समय जो श्याम है वह पहले श्याम नहीं था" यह बुद्धि श्याम-अश्याम उभयरूप एक वस्तु को विषय करती है उसी प्रकार "इदानीं घटः सन् प्राग् न सन्=इस समय घट सत् है वह पहले सत् नहीं था"-यह बुद्धि भी काल भेद से सत्-असत् उभय रूप एक ही वस्तु को विषय करती है। आशय यह है कि 'इदानीं सन्………'यह प्रतीति घटमें एतत्कालावच्छेदेन सत्त्व और प्राक्कालावच्छेदेन असत्त्व को विषय करती है। तो जैसे एतत्काल के साथ घटका सम्बन्ध होने से ही एतत्काल घटनिष्ठ सत्त्व का अवच्छेदक होता है उसी प्रकार प्राक् काल भी घटका सम्बन्धी होने से ही घटनिष्ठ असत्त्व का अवच्छेदक हो सकता है। क्योंकि यह नियम है कि तत्सम्बन्धि ही तन्निष्ठ का अवच्छेदक होता है। अतः प्राक् काल के साथ घटका घटात्मना सम्बन्ध न होने पर भी कारणद्रव्यात्मना सम्बन्ध मानना आवश्यक है। अन्यथा प्राक्कालावच्छेदेन घट में असत्त्व प्रतीति की सत्यता यानी प्रमाणत्व का उपपादन शक्य नहीं हो सकता। तथा समवाय सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने से स्वसमवेत कार्य के उत्पादक होने से स्वमें कार्य की उपादान कारणता की उपपत्ति हो सकती है-यह कथन भी सारगर्भित नहीं है। क्योंकि, स्वसमवेत का अर्थ होता है-स्वमें समवायसम्बन्ध से विद्यमान, किन्तु समवाय में कोई प्रमाण न होने से यह दुर्वच है।

* टीका में 'सत्ताभावाऽयोगेन' इस शब्द का अर्थ है सत्त्व के सम्पादक सम्बन्ध का अभाव। "सत्तां भावयति=सम्पादयति यः स सत्ताभावः एवंभूतो योगः सम्बन्धः=सत्ताभावयोगः अर्थात् सत्तासमवायः, तस्य अभावः सत्ताभावाऽयोगः" इस व्युत्पत्ति से 'सत्तासमवायाभाव' यह अर्थ फलित होता है। टीका में तस्य पद का अर्थ है 'सत्तासमवायाभावस्य' और इसका सम्बन्ध है 'घटत्वावच्छिन्नेन सह विरोधस्य' के साथ, और उसका अर्थ है घटत्वावच्छिन्न के साथ ही सम्भवित विरोध वाले घट प्रागभाव का विरोध कहा नहीं जा सकता।

न हि 'गुण-क्रिया-जातिविशिष्टबुद्धयो विशेषणसम्बन्धविषयाः, विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डीति बुद्धिवत्' इत्यनुमानात् तत्सिद्धिः, अभावज्ञानादिविशिष्टबुद्धिभिर्व्यभिचारात् । न च तासामपि स्वरूपसंबंधविषयत्वाद् न व्यभिचारः, तर्हि तेनैवार्थान्तरत्वात् ।

न च लाघवात् पक्षधर्मताबलेनैकसमवायसिद्धिः, पक्षबाहुल्यलाघवस्याऽनुपादेयत्वात्, अन्यथा द्रव्यमपि पक्षेऽन्तर्भाव्य समवायसिद्धिप्रसङ्गात् । न चानुभवसिद्धसंयोगाद् बाधः, प्रमाणसमाहारे प्रमेयसमाहाराऽविरोधात् ।

[समवायसिद्धि के लिये विशिष्टबुद्धि में संसर्गविषयता का अनुमान]

नैयायिकों की ओर से यदि कहा जाय कि-"गुण क्रिया और जाति विशिष्टबुद्धि विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करती है, क्योंकि वे विशिष्टविषयक बुद्धियां है। जो भी विशिष्ट बुद्धि होती है वह विशेषण-विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करने वाली होती है। जैसे 'दंडवाला पुरुष' यह बुद्धि विशिष्टबुद्धि होने से दण्ड और पुरुष के संयोगसम्बन्ध को विषय करती है।"-इस अनुमान से सिद्ध होता है कि उक्त विशिष्टबुद्धियां विशेषण और विशेष्य के किसी सम्बन्ध को विषय करती हैं। वह सम्बन्ध समवाय से अतिरिक्त नहीं हो सकता; इसलिये उक्तानुमान से गुण-क्रिया और जाति का उनके आश्रय के साथ समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है"-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'भूतलं घटाभाववत्' इत्यादि बुद्धि एवं 'घटज्ञानं' पटज्ञानं' इत्यादि बुद्धि में उक्त हेतु व्यभिचार दोषग्रस्त है। क्योंकि, ये बुद्धियां भी क्रम से अभावविशिष्ट बुद्धिरूप और घटादिविशिष्टज्ञानविषयक बुद्धिरूप होने से विशिष्ट बुद्धि हैं किन्तु ये बुद्धियां विशेषण—विशेष्य को ही विषय करती हैं उनके सम्बन्ध को विषय नहीं करती।

यदि यह कहा जाय कि-"उक्त बुद्धियों में व्यभिचार नहीं है क्योंकि वे बुद्धियां भी विशेषणस्वरूप को ही सम्बन्ध के रूपमें विषय करती हैं"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त पक्षभूत बुद्धियों के लिये भी यह कह सकते हैं कि वे भी विशेषण के स्वरूप को सम्बन्धविधया ग्राहक हैं इसलिये अर्थान्तर दोष हो जायगा अर्थात्, उन बुद्धियों में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व सिद्ध हो जाने पर भी विशेषण विशेष्य का नैयायिक को अभिमत एक अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा।

(अनंत स्वरूप की संसर्गता में गौरव और एक समवाय में लाघव असंगत)

यदि यह कहा जाय कि "पक्षधर्मता बल से उक्त अनुमान द्वारा एक समवाय की सिद्धि होगी अर्थात् उक्त बुद्धियों को विशेषण के स्वरूप की सम्बन्धविधया ग्राहक मानने पर विशेषणस्वरूप अनंत होने से अनंत स्वरूप निष्ठ संसर्गताऽऽख्य विषयताशालित्व मानना पडेगा तो गौरव होगा और यदि उन्हें विशेषण-विशेष्य से अतिरिक्त एक सम्बन्ध का ग्राहक माना जायेगा तो उस सम्बन्ध में रहने वाली एक संसर्गताख्य विषयता मानने में लाघव होगा। इस लाघव ज्ञान के बल से एक समवाय की सिद्धि होगी-"तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त गौरव-लाघव का मूल पक्षबाहुल्य के लाघव को आधीन है और पक्ष के बाहुल्य का लाघव आदरणीय नहीं है।

आशय यह है कि गुणविशिष्ट बुद्धि क्रियाविशिष्ट बुद्धि जातिविशिष्ट बुद्धि. इन अनेक बुद्धियों को पक्ष बनाकर अनुमान करने पर यह गौरव-लाघव उपस्थित होता है कि विशेषण स्वरूप को सम्बन्ध मानने पर अनेक विशेषणों के स्वरूप में संसर्गताख्यविषयता माननी पड़ेगी और विशेषण विशेष्य से अतिरिक्त समवाय को सम्बन्ध मान लेने पर एक समवाय में ही संसर्गता मानने से लाघव होगा। किन्तु यदि किसी एक ही विशेषण से विशिष्ट बुद्धि को पक्ष करके अनुमान किया जाय तो उक्त गौरव-लाघव नहीं उपस्थित हो सकता। क्योंकि उस एक बुद्धि को संसर्गताख्य विषयता विशेषण के एक ही स्वरूप में माननी होगी। अत एव पक्षबाहुल्य के आधार पर होने वाले गौरव-लाघव के बल से समवाय की सिद्धि नहीं की जा सकती। अन्यथा, यदि इस प्रकार के भी लाघव-गौरव के विचार का आदर किया जायेगा तो 'भूतल घटवत्-पटवत् दण्डवत्' इत्यादि विभिन्न बुद्धियों को भी पक्ष बनाकर उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व के अनुमान द्वारा भूतलादि के साथ घट-पटादि के भी एक समवाय की सिद्धि हो जायेगी। क्योंकि, उन बुद्धियों को संयोगविषयक मानने से घट-पटादि के अनेक संयोगों में उन बुद्धियों की संसर्गताख्य विषयता माननी होगी, अनेक में संसर्गताख्यविषयता मानने में गौरव होगा किन्तु सभी बुद्धियों की समवाय में एक संसर्गताख्यविषयता मानने में लाघव होगा। अतः भूतल के साथ घटादि का संयोग सम्बन्ध सिद्ध न होकर घटपटादि के समवाय सम्बन्ध की सिद्धि का अतिप्रसङ्ग होगा।

यदि यह कहा जाय कि 'भूतलं घटवत्' इत्यादि बुद्धियों का 'घटसंयुक्तं भूतलं पश्यामि' इस रूप से अनुभव होता है। अतः इस अनुभव से उन बुद्धियों में संयोगविषयकत्व की सिद्धि होने से समवायविषयकत्व की सिद्धि का प्रतिबन्ध हो जायेगा।

❀ आशय यह है कि-'घटवद् भूतलं' इत्यादिबुद्धयः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषयाः—यह अनुमान करने जायेंगे तब उक्त बुद्धियों में संयोगविषयकत्व अनुभव सिद्ध होने से सिद्धसाधन होगा अतः उक्त अनुमान प्रवृत्त न हो सकने से भूतलादि के साथ घटादि के समवाय सम्बन्ध के साधन की आशा असम्भव होगी। इस प्रकार भूतलादि के साथ घटादि के समवाय संबंध की सिद्धि का उत्थान अशक्य है।-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि—

❀ —समवायसाधक विशिष्टबुद्धित्व हेतुक प्रसिद्ध अनुमान के विषय में यह शङ्का होती है कि विशिष्टबुद्धित्व निर्विकल्पक ज्ञान में साध्य का व्यभिचारी है। व्यभिचार दोष की प्रसक्ति सिद्धसाधन दोष के निवारण करने पर होती है। इसलिये पहले सिद्ध साधन दोष को समझना जरुरी है। जैसे कि,

क्रियादि विशिष्ट बुद्धि में गुणक्रियादिविषयकत्व है और गुण क्रियादि भी सामान्य लक्षण सन्निकर्षविधया सम्बन्ध रूप ही है। अतः गुण-क्रियाविषयक बुद्धि में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध-विषयकत्व सिद्ध होने से सिद्धसाधन है। यदि यह कहा जाय कि-"गुणक्रियादि जब सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के रूप में सम्बन्ध होता है तो वह विशेष्य विशेषण इन दोनों का सम्बन्ध न हो कर अर्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है। अतः उसे विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये तद्विषयकत्व को लेकर सिद्ध साधन नहीं हो सकता"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कहीं न कहीं किसी काल में किसीको भी अर्थ और इन्द्रिय विशेषण-विशेष्य विधया ज्ञात हो सकने के कारण अर्थ विशेष्य और इन्द्रिय भी विशेषण होता है।

'भूतलं घटवत्' इत्यादि बुद्धि में यदि संयोग विषयकत्व का साधक अनुभव है तो उसमें समवायविषयकत्व का साधक लाघवज्ञान सहकृत अनुमान भी है । अतः दोनों प्रमाण से दोनों की सिद्धि हो सकती है, जो समवायवादी को मान्य नहीं है ।

अतः विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व को विशेष्यता-विशेषणताव्यतिरिक्त सम्बन्ध निष्ठ विषयताकत्व रूप से परिष्कृत करना होगा । फिर भी इतने से ही सिद्धसाधन का परिहार नहीं हो सकता । क्योंकि, गुणक्रियादि विशिष्ट बुद्धि में जो विशेष्यतावच्छेदक या प्रकारतावच्छेक होता है उसमें अवच्छेदकताख्य विषयता होती है जो विशेष्यता-विशेषणता से भिन्न सम्बन्धनिष्ठ विषयता है । क्योंकि विशेष्यतावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदक भी सामान्य लक्षण सन्निकर्ष विधया सम्बन्ध है । इसलिये 'विशेष्यता–विशेषणता भिन्न संसर्गताख्यविषयतानिरूपकत्व' को साध्य बनाना होगा । उसमें विशेष्यताविशेषणताभिन्नत्व तो केवल संसर्गता का परिचायक मात्र होगा। क्योंकि संसर्गता विशेष्यतादि रूप न होने से व्यावर्त्तक नहीं है । अतः संसर्गताख्यविषयतानिरूपकत्व को ही साध्य मानना होगा और वह विषयता निर्विकल्पक बुद्धि में नहीं होती अतः विशिष्ट बुद्धित्व उसमें व्यभिचरित हो जायेगा । क्योंकि उसमें बुद्धित्व भी है और उसका विषय घट एवं घटत्वादि, विभिन्न धर्मों से विशिष्ट होता है अतः विशिष्टविषयकत्व भी है । यदि विशिष्ट बुद्धित्व का अर्थ विशेष्यविशेषणविषयकबुद्धित्व किया जाय तो भी व्यभिचार का परिहार शक्य नहीं, क्योंकि घट और घटत्व उसी समय पुरुषान्तर के सविकल्पक बुद्धि का विषय होने से विशेष्य-विशेषण भी हैं, अत एव निर्विकल्पक में भी विशेष्यविशेषण विषयक बुद्धित्व विद्यमान है। यदि 'विशेष्यतानिरूपकत्वे सति विशेषणतानिरूपकबुद्धित्व को हेतु किया जायेगा तो हेतु व्यर्थ विशेषण घटित हो जायगा क्योंकि हेतु के शरीर में विशेष्यता-विशेषणता में से किसी एक का प्रवेश करने पर भी व्यभिचार का निवारण हो सकता है। यदि विशेष्यता निरूपक बुद्धित्व–विशेषणतानिरूपक बुद्धित्व हेतु द्वय में विशिटि बुद्धित्व शब्द का तात्पर्य माना जायगा तो एक हेतु मात्र का ही प्रयोग पर्याप्त होने से अन्य हेतु के प्रयोग में भी तात्पर्य मानने पर 'अधिक' नाम का निग्रहस्थान प्राप्त होगा ।

इस शंका का निवारण शक्य हो सकता है–विशिष्ट बुद्धित्व का तुरीय विषयताशून्य बुद्धित्व अर्थ कर देने से । तुरीयविषयता का अर्थ है विशेष्यता-प्रकारता-संसर्गता से भिन्न विलक्षण विषयता । निर्विकल्पज्ञान में वह न होने से व्यभिचार की प्रसक्ति नहीं होगी ।

इस प्रकार, पक्ष को भी यथाश्रुत रखने पर 'दण्डवाला पुरुष' यह बुद्धि भी पक्षान्तर्भूत हो जाने से सिद्ध साधन होगा क्योंकि, दण्ड और पुरुष गुणक्रियादि विशिष्ट होने से वह भी गुणक्रियादि विशिष्ट विषयक बुद्धि है, यदि उसका 'गुणक्रियादि विशिष्ट बुद्धि' अर्थ किया जायेगा तो 'पुरुष रक्त दण्डवाला' अथवा 'चंचल दण्डवाला' इस बुद्धि का भी पक्षमें अन्तर्भाव होगा और इन सब बुद्धियों में संसर्गतानिरूपकत्व सिद्ध होने से सिद्धसाधन दोष प्रसक्त होगा । तथा गुणक्रियादि-विषयक निर्विकल्पक बुद्धि भी पक्षान्तर्गत होने से और उसमें संसर्गतानिरूपकत्व न होने से बाध तथा तुरीयविषयताशून्यत्व न होने से भागाऽसिद्धि भी होगी ।

अतः पक्ष को गुणक्रियादिनिष्ठप्रकारताशालि बुद्धित्वरूप से परिष्कृत करना चाहिये । यद्यपि पक्षको इस प्रकार परिष्कृत करने पर भी 'रक्त दण्डवाला पुरुष' इत्यादि बुद्धियां पक्षान्तर्गत होगी

न च नानाविशेषणसम्बन्धे एकत्वाऽनेकत्वादर्शनात् तत्र लघु-गुरुविषयताऽसंभवेऽपि संबन्धैकत्वाऽनेकत्वयोर्दर्शनेन तत्र तत्संभवात्, प्रत्येकविशिष्टबुद्धिपक्षीकरणे लाघवात्समवाय-सिद्धिः, स्वरूपसंबंधस्य संबंधिद्वयात्मकत्वेन गौरवात्, धर्मीतिन्यायस्याप्येककल्पनालाघव-मूलत्वेनात्रानवताशादिति वाच्यम्, द्रव्येऽपि तत्सिद्ध्यापत्तेः। न च संयोगत्वावच्छेदेन संबंधत्वकल्पनात् तत्र संबन्धान्तरकल्पने लाघववैपरीत्यम्, गुण-गुण्यादिद्वये तु नैवमनुगतं धर्मान्तरमस्ति, येन क्लृप्तलाघवाद् वैपरीत्यं स्यादिति वाच्यम्, तत्रापि वस्तुत्वसत्त्वाद्य-वच्छेदेन संबन्धत्वकल्पनात्।

[संबन्ध के एकत्व-अनेकत्व में लाघव अवतार–पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि–"जहां विशेषण के अनेक होने पर भी उसके सम्बन्ध में एकत्व अनेकत्व का दर्शन नहीं होता है वहां सम्बन्धनिष्ठ विषयता में न्यूनाधिक्यरूप लाघव गौरव का सम्भव न होने पर भी जहां सम्बन्ध में एकत्व-अनेकत्व का दर्शन होता है वहां सम्बन्धनिष्ठ विषयता में लाघव-गौरव हो सकता है। जैसे–'भूतलं घटाद्यभाववत्' इस बुद्धि में घटपटाद्यभावरूप विशेषण अनेक है। किन्तु उसका अधिकरणस्वरूपात्मक सम्बन्ध एक है। अतः उसमें एकत्व-अनेकत्व का दर्शन न होने से उस बुद्धि के विषयभूत घटाभावादि सम्बन्ध की विषयता में उस बुद्धिको अतिरिक्त सम्बन्ध विषयक मानने पर अतिरिक्त सम्बन्ध निष्ठ विषयता में लाघव और क्लृप्त स्वरूप सम्बन्ध निष्ठ विषयता में गौरव नहीं है। क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध निष्ठविषयता भी एक ही है। किन्तु 'गुणवान् घटः' इत्यादि बुद्धियों को यदि स्वरूपसम्बन्ध विषयक मानेगे तो गुण और गुणी दोनोंके स्वरूप में अनेकत्व है और यदि समवायविषयक माने तो समवाय में एकत्व है, अतः उक्त बुद्धिको स्वरूप सम्बन्ध विषयक मानने पर सम्बन्ध में दो संसर्गताख्य विषयता की कल्पना करनी होगी और समवाय-विषयक मानने पर सम्बन्ध में एक ही विषयता की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार सम्बन्धनिष्ठ विषयता में गौरव लाघव विचार सम्भव है। अतः प्रत्येक विशिष्टबुद्धि को पक्ष करके लाघव के बल से समवाय की सिद्धि की जा सकती है। क्योंकि स्वरूपसम्बन्ध को विनिगमना विरह से सम्बन्धि-द्वयात्मक मानना आवश्यक होने से गौरव होगा। अतः 'धर्मी का लाघव बाहुल्य अनुपादेय है' इस न्याय की प्रवृत्ति प्रस्तुत अनुमान में नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक विशिष्टबुद्धि को पक्ष बनाकर उक्तानुमान करने से उक्त बुद्धि को स्वरूपसम्बन्ध विषयक मानने पर सम्बन्धिद्वयविषयकत्व की कल्पना में लाघव है"—

[लाघवकल्पना में द्रव्यद्वय के समवाय की आपत्ति]

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'भूतलं घटवत्' इस एक प्रकार की बुद्धि में यदि विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व का विचार किया जायेगा तो उसे संयोगविषयक मानने पर

और उनमें संसर्गतानिरूपकत्वरूप साध्य सिद्ध होने से सिद्धसाधन तदवस्थ रहेगा, तथापि उक्त बुद्धि-त्वावच्छेदेन साध्यसिद्धि को उद्देश्य मानने से सिद्धसाधन का परिहार होगा। क्योंकि उक्त बुद्धियों के ध्य में 'नीलघट चल रहा है' इस प्रकार की घट में नीलवर्ण और चलन क्रिया को विषय करने वाली द्धि भी अन्तर्भूत होगी। किन्तु उन बुद्धियों में समवाय के विना संसर्गतानिरूपकत्व सिद्ध नहीं है।

किञ्च, प्रतीतेर्विषयभेदोऽनुभवात् सामग्रीभेदाद् वा न तु लाघवात्, अन्यथा सविषयत्वानुमानात् सम्बन्धाऽविषयत्वमेव सिध्येदिति।

अनेक सम्बन्धविषयक मानना होगा क्योंकि भूतलमें अनेकबार घटका आनयन-अपनयन करने पर घटका संयोग बदल जाता है, किन्तु सभी दशामें 'भूतलं घटवत्' इस एक ही आकार की बुद्धि होती है। किन्तु यदि उक्त बुद्धिको भूतल के साथ घटसमवायविषयक माना जायेगा तो घटके अनेक बार आनयन-अपनयन करने पर भी उसमें परिवर्तन न होने से 'घटवद् भूतलं' इस आकार की सभी बुद्धियों में एकसम्बन्धविषयकत्व होने से लाघव होगा। इस प्रकार द्रव्य का अपने संयोगी अधिकरण के साथ भी समवाय सम्बन्ध सिद्ध होने की आपत्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि "संयोग अनेक होने पर भी उसमें संयोगत्वावच्छिन्न एकसम्बन्धता की ही कल्पना होती है। संयोग सम्बन्ध कल्पनीय नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध रहता है केवल उसमें संसर्गता की कल्पना करने की जरुरत रहती है. किन्तु सम्बन्धान्तर समवाय की कल्पना करने पर सम्बन्ध और सम्बन्धता दोनों की कल्पना करनी पडती है। इसलिये भूतलादि के साथ घटादि का समवायसम्बन्ध मानने में लाघव न होकर प्रत्यक्षसिद्ध संयोग को ही सम्बन्ध मानने में लाघव है। अतः इस लाघव वैपरीत्य के कारण भूतलादि के साथ घटादि का समवाय सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता, फिर भी गुण-गुणी के बीच समवाय सम्बन्ध सिद्ध होने में कोई बाध नहीं है। क्योंकि वहां लाघव वैपरीत्य नहीं है। क्योंकि, गुण गुणी के मध्य स्वरूपसम्बन्ध मानने पर गुण-गुणी दोनों के स्वरूप का कोई अनुगत धर्म न होने से भिन्न भिन्न रूपसे दो सम्बन्धता माननी पडेगी और गुण-गुणी के बीच समवायसम्बन्ध मानने पर एक मात्र समवाय की ही कल्पना करनी होगी। उसमें संसर्गता सिद्ध करने का पृथक् प्रयास नहीं करना होगा, क्योंकि वह गुण–गुणी के सम्बन्ध रूपमें ही सिद्ध होता है। अतः उसकी संसर्गता धर्मी ग्राहक प्रमाण से सिद्ध है-"।

तो यह भी ठीक नही है। क्योंकि गुण-गुणी दोनों के स्वरूप में वस्तुत्व सत्तादि अनुगत धर्म विद्यमान है। अतः उन दोनों के स्वरूपमें वस्तुत्वादि अवच्छिन्न एक संसर्गता की कल्पना हो सकती है। इसके विरुद्ध यह शङ्का नहीं की जा सकती कि 'सम्बन्धता तो केवल गुण-गुणी के स्वरूप में है और वस्तुत्व अन्योन्य अनंत स्वरूप में रहता है इसलिये अतिप्रसक्त है। अत एव वह संसर्गतावच्छेदक नहीं हो सकता' क्योंकि सम्बन्धता विषयतारूप है और विषयता अतिप्रसक्त धर्म से भी अवच्छिन्न होती है.। जैसे घट और भूतल का संयोग एक होने पर भी 'घटवाला भूतल' इस ज्ञानकी संयोग निष्ठ विषयता संयोगत्वरूप अतिप्रसक्त धर्म से भी अवच्छिन्न होती है।

[विषयभेद की सिद्धि में लाघव अप्रयोजक]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि प्रतीति के विषयका भेद या तो अनुभव से सिद्ध होता है या सामग्रीवैलक्षण्य से सिद्ध होता है। जैसे 'घट-घटत्वे' 'पट-पटत्वे' इस निर्विकल्पकों में विषय भेद की सिद्धि उन निर्विकल्पकों की सामग्री के भेद से होती है. अनुभवभेद से नहीं क्योंकि निर्विकल्पक अतीन्द्रिय होता है। अनुभवभेद से विषयभेद उन प्रतीतियो में सिद्ध होता है जो समान सामग्री से उत्पन्न होकर भी विभिन्न विषयों को ग्रहण करती है। जैसे जहाँ एक देशमें अवस्थित दो घटों का क्रमसे प्रत्यक्ष होता है तब "एक घट को देखकर दूसरे घट को देखता हूं" ऐसा अनुभव

अथ विशेषणसंबन्धनिमित्तका इति साध्यं, हेतौ च सत्यत्वं विशेषणम् , तेन विशिष्टभ्रमे न व्यभिचारः, बुद्धिपदं च प्रत्यक्षपरम् , तेन नांशतो बाध-व्यभिचाराविति समवायसिद्धिरिति चेत् ? न, गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षे विशेषणसंबन्धत्वेन न हेतुत्वम् , संबन्धत्वस्य विषय-

होता है । इस अनुभव से पूर्वजात घटप्रत्यक्ष की अपेक्षा उत्तरजात घटप्रत्यक्ष में विषयभेदकी सिद्धि होती है क्योंकि वहां सामग्री का वैलक्षण्य नहीं है । दोनों घटों की प्रत्यक्ष सामग्री अंतर्गत जितने कारण हैं वे सब समान रूपसे ही कारण है. अतः वहां सामग्री वैलक्षण्य असिद्ध है । सामग्रीवैलक्षण्य सामग्रीघटकतावच्छेदक के वैलक्षण्य से होता है । अतः जैसे विभिन्न घट की सभी सामग्री में दण्डत्व-चक्रत्व आदि रूपसे विभिन्न दण्ड-चक्रादि का प्रवेश होने पर भी उनमें वैलक्षण्य नहीं माना जाता । उसी प्रकार घटद्वय के प्रत्यक्ष में चक्षुसंनिकर्ष-आलोक घट इन सभी के समान रूपसे कारण होनेसे उन दोनों घट की प्रत्यक्ष सामग्री में भी वैलक्षण्य नहीं माना जा सकता । अतः जिस प्रतीति में विषयभेद का साधक अनुभव या सामग्रीवैलक्षण्य नहीं है उनमें केवल लाघव से विषयभेद नहीं सिद्ध हो सकता है ।

[विशिष्ट बुद्धि में सम्बन्धाऽविषयकता की आपत्ति]

यदि लाघव से गुणक्रियादिविशिष्ट बुद्धिको विशेषण-विशेष्य अतिरिक्त सम्बन्ध विषयक माना जायेगा तो जिस अनुमान से इस सिद्धि की आशा की जाती है , उसी अनुमान से लाघव के आधार पर उक्त बुद्धि में सम्बन्धाऽविषयकत्व की ही सिद्धि हो जायगी । आशय यह है कि कोई विशिष्टबुद्धि विशेषण-विशेष्य अतिरिक्त सम्बन्धविषयक होती है, जसे 'घटवाला भूतल' इत्यादि बुद्धि, और कोई विशेषण-विशेष्य अतिरिक्त सम्बन्ध विषयक नहीं भी होती जैसे-'घटाभाववाला भूतल' इत्यादि बुद्धि । उसी प्रकार गुणक्रियाविशिष्टबुद्धि सम्बन्धाऽविषयक होकर भी विशिष्टबुद्धि हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि विशिष्टबुद्धित्व मे विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व के व्याप्ति का ग्राहक अनुकूल तर्क न होने से उक्त व्याप्ति असिद्ध है । प्रत्युत, विशिष्टबुद्धित्व को विशेषण विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व का व्यभिचारी मानने में लाघव है । क्योंकि गुण-क्रियादि विशिष्टबुद्धि सम्बन्धाऽविषयक होने पर भी विशिष्टबुद्धि हो सकती है । अतः गुण-क्रियादि विशिष्टबुद्धि में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध विषयकत्व साधक प्रयास उक्त बुद्धिमें सम्बन्धाऽविषयकत्व की सिद्धि में पर्यवसित होता है -यह मानना अनिवार्य है ।

('विशेष्य-विशेषण संबंधनिमित्तकत्व'-साध्य में नैयायिक परिष्कार)

यदि यह कहा जाय कि "साध्य विशेष्यविशेषणसम्बन्धनिमित्तकत्व है-अर्थात् यह अनुमान अभिप्रेत है कि गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धि विशेषण-विशेष्यसम्बन्धजन्य है । चूंकि वह विशिष्टबुद्धि है । जो भी विशिष्टबुद्धि होती हैं वह विशेषणविशेष्य संबन्धजन्य होती है । जैसे 'दण्डवाला पुरुष' यह विशिष्टबुद्धि दण्ड और पुरुष के संयोग सम्बन्ध से जन्य होती है । यदि विशिष्ट बुद्धि को विशेषण-विशेष्य सम्बन्धजन्य न माना जायगा तो दण्ड और पुरुष के बीच संयोगसम्बन्ध की असत्त्व दशा में भी 'दण्डवाला पुरुष' इस बुद्धि की आपत्ति होगी । अतः विशिष्टबुद्धि में विशेषणविशेष्यसम्बन्ध जन्यत्व का नियम होने से उक्त अनुमान से यह सिद्ध होगा कि गुणक्रियादि विशिष्टबुद्धि भी

द्रव्य के साथ गुण-क्रिया के सम्बन्ध से जन्य है। जो सम्बन्ध उक्त बुद्धि के जनक रूप में सिद्ध होगा वह समवाय से भिन्न सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि-उक्त हेतुक अनुमान का सम्भव नहीं है चूंकि उक्त हेतु 'वह्निवाला ह्रद' इत्यादि भ्रम में व्यभिचारी है। चूंकि वह भ्रमात्मकविशिष्टबुद्धि ह्रद और वह्नि के संयोग की असत्त्व दशा में भी उत्पन्न होती है।—तो इस व्यभिचार के वारण के लिये हेतु में सत्यत्व विशेषण देना आवश्यक है। यद्यपि वह भ्रम बुद्धि भी स्वरूपतः सत्य है और विषयतः सत्य कहने पर भी व्यभिचार का परिहार नहीं हो सकता चूंकि उसका विषय वह्नि और ह्रद सत्य है एवं जो संयोग सम्बन्ध उस बुद्धि में भासित होता है वह भी कहीं न कहीं सत्य है। तथापि सत्यत्व का अर्थ है प्रमात्व और प्रमात्व का अर्थ है सर्वांशे भ्रमभिन्नत्व। ऐसा अर्थ करने से उक्त बुद्धि में व्यभिचार का परिहार हो सकता है। क्योंकि उक्त ज्ञान ह्रद में भासमान वह्नि अंश में भ्रम है, इसलिये उस बुद्धि में सर्वांश में भ्रमभिन्नत्व नहीं है। ❀

❀ सर्वांश में भ्रमभिन्नत्वका अर्थ है जो बुद्धि किसी अंश में भी भ्रमरूप न हो। अर्थात् प्रकारता-विशिष्टविशेष्यता से शून्य हो। तात्पर्य, जिस बुद्धि की कोई विशेष्यता 'स्वनिरूपकत्व सम्बन्ध से और 'स्वावच्छेदकसम्बन्धेन स्वाश्रयशून्यवृत्तित्व सम्बन्ध से' इन दो सम्बन्ध से प्रकारताविशिष्ट न हो। 'अग्निवाला ह्रद' यह ज्ञान ऐसा नहीं है चूंकि इस ज्ञान में जो अग्निनिष्ठप्रकारता निरूपितह्रद निष्ठ-विशेष्यता है वह अग्निनिष्ठप्रकारता से विशिष्ट है, क्योंकि उक्त ज्ञानीय ह्रदनिष्ठविशेष्यता में अग्निनिष्ठप्रकारता का निरूपकत्व सम्बन्ध भी है और स्वावच्छेदक संयोगसम्बन्ध से स्वाश्रय अग्नि शून्य ह्रदवृत्तित्व होने से प्रकारता का उक्त द्वितीय सम्बन्ध भी है। इस पर यह शंका हो सकती है कि-सर्वांशे भ्रमभिन्नत्व का उक्त अर्थ करने पर 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावान्' यह बुद्धि भी सर्वांशे भ्रमभिन्न हो जायगी क्योंकि इस बुद्धि की गुणनिष्ठविशेष्यता गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तानिष्ठप्रकारता से विशिष्ट नहीं है क्योंकि विशिष्ट और शुद्ध में भेद न होने से उक्तप्रकारता का आश्रय शुद्ध सत्ता भी होगी और गुण उससे शून्य नहीं है। अतः उक्तप्रकारता का द्वितीयसम्बन्ध गुणनिष्ठविशेष्यता में नहीं है। यदि द्वितीयसम्बन्ध के स्थान में 'स्वावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न स्वावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणताशून्यवृत्तित्व को सम्बन्ध रखा जाय तो इस दोष का परिहार हो सकता है, क्योंकि उक्त प्रकारता का अवच्छेदक धर्म 'गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तात्व' है और 'समवायसम्बन्धा-वच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्नाधेयता निरूपित अधिकरणता' गुण में नहीं है। किन्तु ऐसा करने पर 'घटः समवायेन आकाशवान्' अथवा 'घटः संयोगसम्बन्धेन रूपवान्' इत्यादि बुद्धियां भी सर्वांशे भ्रमभिन्न हो जायगी। क्योंकि उक्तबुद्धियों की प्रकारता का द्वितीयसम्बन्ध अप्रसिद्ध होने से उन बुद्धियों में प्रकारताविशिष्टविशेष्यता नहीं रहेगी। इसी प्रकार शुक्ति में स्वरूपतः रजतत्वप्रकारक भ्रम भी सर्वांश में भ्रमभिन्न हो जायगा, क्योंकि उस ज्ञान की रजतत्वनिष्ठप्रकारता निरवच्छिन्न होने से उसका भी द्वितीय संबन्ध अप्रसिद्ध है। अतः उस में भी प्रकारताविशिष्टविशेष्यता नहीं है। यदि इन दोषों का परिहार करने के लिये द्वितीयसम्बन्ध के स्थान में 'स्वावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न स्वावच्छेदकधर्मा-वच्छिन्नअधिकरणत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का स्वाभाववद् निरूपितवृत्तित्वसंबन्ध' रखा जाय तो उक्त दोषों का परिहार हो सकता है क्योंकि समवायसम्बन्धावच्छिन्नाकाशनिष्ठप्रकारता का एवं संयोगसम्बन्धावच्छिन्न रूपादिनिष्ठप्रकारता का तथा रजतत्वनिष्ठ निरवच्छिन्न प्रकारता का उक्त-

पक्षबोधक वाक्य में बुद्धिपद के स्थान पर प्रत्यक्षपद का सन्निवेश करना होगा अन्यथा स्मृति अनुमिति आदि भी पक्षान्तर्गत होगी किन्तु उस में विशेषण-विशेष्यसम्बन्धजन्यत्व न होने से बाध होगा। यदि पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि को उद्देश्य रखेंगे तो 'दण्डवाला पुरुष' इस बुद्धि में साध्य सिद्ध होने से सिद्धसाधन होगा। इसी प्रकार हेतु में भी बुद्धि के स्थान में प्रत्यक्ष का निवेश करना होगा अन्यथा विशिष्टविषयकसत्यबुद्धित्व स्मृति-अनुमिति आदि में साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। इसलिये उक्त अनुमान इस रूप में पर्यवसित होगा कि गुणक्रियादि विशिष्टविषयक प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध जन्य है, क्योंकि वह विशिष्ट विषयक सत्यप्रत्यक्ष है, जो भी विशिष्टविषयक सत्य प्रत्यक्ष होता है वह विशेषण विशेष्यसम्बन्धजन्य होता है जैसे 'दण्ड वाला पुरुष' यह विशिष्टविषयकसत्यप्रत्यक्ष है। अतः इस अनुमान से विशिष्टविषयकबुद्धि के सम्बन्धविधया जनक रूप में समवाय की सिद्धि अपरिहार्य है।"

(साध्य में सम्बन्धजन्यत्व का परिष्कार असंगत-)

नैयायिकों का उपरोक्त वक्तव्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि गुणादिविशिष्टविषयकप्रत्यक्ष में विशेषणसम्बन्ध को विशेषणसम्बन्धत्वरूप से कारण नहीं माना जा सकता चूंकि सम्बन्धत्व यह विषयत्वादि अनेक पदार्थों से घटित होने के कारण जनकतावच्छेदक नहीं हो सकता-यह बात मिश्र (सम्भवतः पक्षधर मिश्र) ने कही है।

धिकरणता सम्बन्ध व्यधिकरण है अत एव उस सम्बन्ध से उक्त प्रकारताओं का अभाव विशेष्यता में रहेगा अतः ज्ञानों की विशेष्यता उक्त उभयसम्बन्ध से प्रकारता विशिष्ट हो जायगी। किन्तु यह भी ठीक नहीं है चूंकि ऐसा करने पर रजत में स्वरूपतः रजतत्वप्रकारक प्रमा में भी उक्तउभयसम्बन्ध से प्रकारताविशिष्टविशेष्यता रहेगी क्योंकि उक्तज्ञान की रजतत्व निष्ठप्रकारता भी स्वावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न स्वावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाधिकरणता व्यधिकरण सम्बन्ध होगा अत एव उक्त सम्बन्ध से उक्त-प्रकारता के अभाव का अधिकरण रजत होगा फलतः उक्त ज्ञान की रजतनिष्ठविशेष्यता रजतत्व-निष्ठप्रकारता से विशिष्ट हो जायगी। अतः तादृशविशेष्यताशून्यत्व न होने से उक्त प्रमात्मक ज्ञान भी सर्वांश मे भ्रमभिन्न न हो सकेगा।" किन्तु इन सब दोष का सर्वांशे भ्रम भिन्नत्व का निम्नप्रकार से निर्वचन करने से परिहार हो सकता है। प्रकारता विशिष्टविशेष्यता शून्यत्व ही सर्वांशे भ्रमभिन्नत्व का अर्थ है। प्रकारतावैशिष्ट्य अपेक्षित है स्वनिरूपकत्व और स्वविशिष्ट आधेयतानिरूपिताधिकरणत्व-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववन्निरूपितवृत्तित्वोभयसम्बन्ध इन दो सम्बन्ध से। आधेयता में स्ववैशिष्ट्य चार सम्बन्ध से [1]स्वसामानाधिकरण्य, [2]स्वावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व, [3]स्वावच्छेदक-धर्मावच्छिन्नत्व और [4]स्वावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्ववृत्तित्व इस चतुष्टय सम्बन्ध से। इसप्रकार निर्वच करने से रजत में स्वरूपतः रजतत्वप्रकारक प्रमा में सर्वांश में भ्रम-भिन्नत्व की उपपत्ति होने में कोई बाधा न होगी, क्योंकि उस ज्ञान की रजतत्वनिष्ठसमवायसम्बन्धाव-च्छिन्न निरवच्छिन्नप्रकारता से विशिष्ट समवायसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वनिष्ठ निरवच्छिन्नआधेयता होगी। तन्निरूपित अधिकरणता रजत में विद्यमान है, अत एव स्वविशिष्ट आधेयता निरूपित अधिकरणता सम्बन्ध से उस प्रकारता का अभाव रजत में नहीं रहेगा। अतः उक्तज्ञान में उक्त उभय सम्बन्ध से प्रकारता विशिष्टविशेष्यता शून्यत्व है।

स्त्वादिगर्भतया जनकतानवच्छेदकत्वादिति मिश्रेणैवोक्तत्वात् । न चात एव गुणादिविशिष्टप्रत्यक्षे गुणादिसमवायत्वेन हेतुत्वम् , न च समवायत्वमपि नित्यसंबन्धत्वरूपमित्युक्तदोषाऽनिस्तार इति वाच्यम् , समवायस्याखण्डतया तद्व्यक्तित्वेनैव हेतुत्वात् । तद्व्यक्तित्वं च तादात्म्येन सा व्यक्तिरेव, इति वाच्यम् , गुणादिसमवायत्वापेक्षया गुणत्वादिनैव हेतुत्वौचित्यात् ।

उसका आशय यह है कि सम्बन्धत्व विशेषण-विशेष्य दोनों से भिन्न होते हुये विशिष्टबुद्धि को जन्म देने की योग्यतारूप है । अर्थात् विशिष्टबुद्धिजननयोग्यत्व रूप है । इस में विशिष्टबुद्धिजननयोग्यत्व का अर्थ विशिष्टबुद्धिस्वरूपयोग्यत्व ही हो सकता है और तत्स्वरूपयोग्यता का अर्थ होता है तन्निरूपित कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्व । इसकी उपपत्ति सम्बन्ध में तभी हो सकती है जब सम्बन्ध में किसी अन्य रूप से विशिष्टबुद्धिकारणता सिद्ध हो । किन्तु यह कारणता सामान्य रूप से सिद्ध नहीं है । यह कारणता अर्थात् कार्य-कारण भाव तो संयोगादिनिष्ठ संसर्गताक बुद्धित्व -संयोगत्व आदि रूप से ही सिद्ध है अतः समवाय में उक्त सम्बन्धत्व नहीं माना जा सकता । चूंकि समवाय में विवाद होने से समवाय निष्ठसंसर्गताकबुद्धित्व और समवायत्व रूप से कार्य कारण भाव असिद्ध है । यदि समस्त संसर्ग में विशिष्टबुद्धित्व और सम्बन्धत्वरूप से कारणता मानी जाय तो यह भी सम्भव नहीं है । क्योंकि, सम्बन्धत्व का संसर्गताख्यविषयतारूप में निर्वचन करने पर विशिष्टबुद्धि के पूर्व संसर्गताविशिष्ट की सत्ता अपेक्षित होगी चूंकि कार्योत्पत्ति के पूर्व कारणतावच्छेदक विशिष्ट कारण की सत्ता अपेक्षित होती है और संसर्गताख्यविषयता विशिष्टबुद्धि के पूर्व हो नहीं सकती चूंकि विषयता ज्ञानसमानकालिक होती है । अतः सम्बन्धत्व विशिष्टबुद्धि का जनकतावच्छेदक नहीं हो सकता ।

(तद्व्यक्तित्व रूप से समवाय कारणता का समर्थन-नैयायिक)

यदि नैयायिक की ओर से कहा जाय कि सम्बन्धत्व जनकतावच्छेदक नहीं हो सकता, इसी कारण गुणादि विशिष्टविषयक प्रत्यक्ष में विशेषणसम्बन्ध को गुणादिसमवायत्वरूप से कारण माना जायगा । इसके विरुद्ध प्रतिवादी यदि यह कहें कि–'समवायत्व नित्यसम्बन्धत्वरूप है अतः उसको कारणतावच्छेदक मानने पर उक्त दोष का निस्तार नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है, चूंकि समवाय एक है अत एव उसे तद्व्यक्तित्वरूप से ही कारण माना जा सकता है । तद्व्यक्तित्व तादात्म्य सम्बन्ध से तद्व्यक्तिरूप ही है । तादात्म्यसम्बन्ध से तद्व्यक्तिरूप में तद्व्यक्तित्व के निर्वचन का आशय यह है कि तद्व्यक्तिगत असाधारण धर्मस्वरूप मानने पर समवाय तद्व्यक्तित्व रूप से कारण नहीं हो सकेगा क्योंकि समवाय में समवायत्व से भिन्न कोई असाधारण धर्म है नहीं । अतः समवायनिष्ठतद्व्यक्तित्व भी समवायत्वरूप होगा और समवायत्व नित्यसम्बन्धत्व रूप है और सम्बन्धत्व मिश्रमतानुसार विशिष्टबुद्धि का कारणतावच्छेदक होता नहीं । अतः समवाय को तद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानना सम्भव नहीं हो सकता । अतः तादात्म्येन तद्व्यक्ति को तद्व्यक्तित्वरूप मान कर समवाय के कारणत्व का समर्थन किया जा सकता है और यही उचित भी है क्योंकि तद्व्यक्तित्व को तद्व्यक्ति का असाधारण धर्म रूप मानने पर तद्घट में तद्रूप-तत्स्पर्श-तदेकत्व आदि अनेक असाधारण धर्म होने से विनिगमना विरह से तद्घटनिष्ठतद्व्यक्तित्व को अनेक रूप मानना होगा । अतः तद्व्यक्तित्व को तादात्म्यसम्बन्धेन तद्व्यक्ति रूप मानने में लाघव

न चाभावादिविशिष्टबुद्धिव्यावृत्तानुभवसिद्धवैलक्षण्यविशेषवद्बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति समवायं विना नान्यद् नियामकम् , गुणत्वादिना हेतुत्वे व्यभिचारादिति वाच्यम् , वैलक्षण्यस्य जातिरूपस्य स्मृतित्वाऽनुमितित्वादिना सांकर्यात् , विषयितारूपस्य च समवायाऽसिद्धया

है क्योंकि इस निर्वचन के अनुसार तद्व्यक्तित्व एकरूप होगा । अतः समवायनिष्ठतद्व्यक्तित्व भी समवायरूप ही है नित्यसम्बन्धास्वरूप नहीं है। अत एव तद्व्यक्तित्वरूप से समवाय को कारण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती"—

[गुणत्वादि रूपसे गुणादि को कारणता का औचित्य–जैन]

किंतु नैयायिक का यह प्रयास भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धि के प्रति गुणादि के सम्बन्ध को कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि परमत में गुणादि का सम्बन्ध गुणादिसमवाय रूप होगा जिसमें गुणादिप्रतियोगिक समवायत्वरूप से कारणत्व नहीं हो सकता। तद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानने पर गुणशून्य गुणादि में भी जाति का समवाय रहने से समवाय तद्व्यक्तित्वरूप से विद्यमान है अतः गुण में भी गुणविशिष्टबुद्धि का प्रसंग होगा। अतः गुणादिप्रतियोगिक तद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानना होगा। किन्तु वह भी उचित नहीं हो सकता, क्योंकि उक्तरूप से समवाय को कारण मानने की अपेक्षा गुणत्वादिरूप से गुणादि को ही कारण मानना उचित है। इस प्रकार जब गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धि में गुणादि ही कारण है तो गुणादिविशिष्टबुद्धि के कारणरूप में समवाय सम्बन्ध की सिद्धि की आशा दुराशा मात्र है।

[क्रिया में गुणवैशिष्ट्य बुद्धि की आपत्ति- नैयायिक]

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-"अभावादि की विशिष्टबुद्धि में न रहने वाला वैजात्य गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धियों में अनुभवसिद्ध है और उन विजातीयबुद्धियों की उपपत्ति समवाय के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि उन बुद्धियों के प्रति गुणत्वादिरूप से कारण मानने पर यदि उस कारणता को सम्बन्ध विशेष से नियन्त्रित नहीं किया जायगा तो कालिक सम्बन्ध से क्रिया में भी गुण के रहने से 'क्रिया गुणवती' इस प्रकार क्रिया में गुणविशिष्टविषयकबुद्धि की आपत्ति होगी। इस प्रकार उक्त कारणता में अन्वय व्यभिचार होगा। उस कारणता को स्वरूपसम्बन्ध विशेष से भी नियन्त्रित नहीं किया जा सकता क्योंकि कालिक सम्बन्ध भी स्वरूप सम्बन्ध ही है और यह विनिगमनाविरह से प्रतियोगी-अनुयोगी उभयस्वरूप है। अतः गुणादिस्वरूप को भी कारणतावच्छेदक मानने पर उक्त व्यभिचार का वारण नहीं हो सकता। सर्वाधारतानियामकसम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध को भी गुणादिनिष्ठकारणता का अवच्छेदक मान कर उक्त व्यभिचार का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि गुणादि का तादात्म्य भी सर्वाधारतानियामकसम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध से गुणादि गुणादि में रहता है किन्तु 'गुणादिः गुणादिमान्' इस प्रकार गुणादि की विशिष्टबुद्धि नहीं होती। अतः समवायसम्बन्ध स्वीकार कर गुणादिविशिष्टबुद्धि के प्रति गुणादि समवाय को गुणादिसमवायत्वरूप से या गुणादिप्रतियोगिकतद्व्यक्तित्वरूप से कारण मानना आवश्यक होने से उक्त बुद्धियों द्वारा समवाय की सिद्धि अनिवार्य है"।

[बुद्धि का वैलक्षण्य जातिरूप या विषयतारूप ?–जैन]

किन्तु नैयायिक का यह कथन भी ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि गुण-क्रियादिविशिष्ट बुद्धि

दुर्वचत्वात् । एतेन 'संबन्धांशे विलक्षणविषयताशालिगुणादिविशिष्टप्रत्यक्षे तद्धेतुत्वम्' इति परास्तम् वस्तुनस्तथाज्ञेयत्वस्वभावविशेषादेव ज्ञानविशेषाच्च; अन्यथा समूहालम्बन-विशिष्टबुद्ध्योरविशेषापातात् , भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वरूपप्रकारताया 'दण्ड-पुरुष संयोगाः' इत्यत्रापि सत्त्वात् , स्वरूपतो भासमानं यद् वैशिष्ट्यं तत्प्रतियोगित्वोक्तौ संयुक्तसमवायादेः संबन्धत्वे 'स्वरूपतः' इत्यस्य दुर्वचत्वाद् , संयोगितादात्म्यसंयोगादिसंसर्गकबुद्धेर्वैलक्षण्याऽऽपत्त्या संबन्धतावच्छेदकज्ञानस्वीकारात्, सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्वेन निरुक्तप्रकारत्वस्यानुव्यवसायग्राह्यत्वाऽसंभवात् , विषयविशेषं विना ज्ञाननिष्ठप्रकारिताविशेषाभ्युपगमे च साकारवादापातादिति दिग् ।

में अभावादि विशिष्टविषयक बुद्धि की अपेक्षा जिस वैलक्षण्य की चर्चा की गई उसे जातिरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि न्यायमत में सांकर्य जाति का बाधक होता है और उस वैलक्षण्य में स्मृतित्व-अनुमितित्व का सांकर्य है । उसे विषयतारूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि विषयतारूप वैलक्षण्य समवाय की सिद्धि के पूर्व दुर्वच है । आशय यह है कि गुणविशिष्टबुद्धि जैसे द्रव्य में होती है, उसी प्रकार 'अभावो गुणीयः' इत्यादि रूप से अभाव में भी होती है और जो गुण जिस द्रव्य में नहीं रहता उस द्रव्य में भी कालिक सम्बन्ध से गुणविशिष्टबुद्धि होती है । अतः समवायसम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये इन सभी बुद्धियों से विलक्षण जो गुणादिविशिष्टविषयक बुद्धि है उसी को पक्ष मानना होगा किन्तु उस बुद्धि में विषयतारूप वैलक्षण्य समवाय के बिना शक्य नहीं है, क्योंकि यदि उसे संसर्गाऽविषयक मानकर उसमें अन्य बुद्धियों से विलक्षणविषयता की उपपत्ति की जायगी तो उससे समवाय सिद्ध नहीं होगा । यदि उसे समवायविषयक मानकर समवाय की सिद्धि की जायगी तो तादृश विषयताशाली बुद्धि को समवायसाधक अनुमान में पक्ष नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस अनुमान का प्रयोग समवायविरोधी के प्रति करना होगा और उसे समवायमूलकविलक्षणविषयताशाली बोध अभिमत नहीं है और पक्ष वही हो सकता है जो वादी प्रतिवादी उभय सम्मत हो । अतः गुण-क्रियादि विशिष्टबुद्धि के कारण रूपमें भी समवाय सम्बन्ध की सिद्धि असंभव है ।

[सम्बन्धांश में ......इत्यादि परिष्कार की व्यर्थता]

उपरोक्त हेतु से यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि—'गुणत्वादिरूप से गुणादि को गुणादिविशिष्ट विषयक प्रत्यक्ष के प्रति कारण माना जा सकता है, किन्तु सम्बन्धांश में विलक्षणविषयताशाली गुणादिविशिष्टविषयक प्रत्यक्ष में गुणादि को गुणत्वादिरूप से कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि गुणादिविविध सम्बन्धांश में साधारणविषयताशाली गुणादिविशिष्ट का प्रत्यक्ष अर्थात् कालिकादि विविध अनियत सम्बन्ध से गुणादिविशिष्ट विषयक प्रत्यक्ष गुणादिहेतु से तत्तत्सम्बन्धरूप ग्राहक के सहयोग से उत्पन्न होता है किन्तु सम्बन्ध अंश में विलक्षणविषयताशाली गुणादिविशिष्टविषयकप्रत्यक्ष में गुणादि को कारण नहीं माना जा सकता, अतः तादृशप्रत्यक्ष के कारणरूप में समवाय की सिद्धि आवश्यक है ।'—क्योंकि जिस गुणादिविशिष्टविषयक प्रत्यक्ष के कारणरूप में समवाय का अनुमान अभिप्रेत है उस बुद्धि में समवाय सिद्धि के पूर्व सम्बन्धांश में

विलक्षणविषयताशालित्व का उपपादन संभव नहीं है। अतः तद्विषयताशाली गुणादिविशिष्टविषयक प्रत्यक्ष को समवायविरोधी के प्रति प्रयोक्तव्य अनुमान में पक्षरूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता चूंकि वह आवश्यक नहीं होता है।

तात्त्विक बात तो यह है कि ज्ञानों में जो वैलक्षण्य होता है वह विशेषण विशेष्य या सम्बन्ध-आदि के भान-अभान पर निर्भर नहीं होता अपितु वस्तु के तत्तद्रूप से ज्ञेय होने के स्वभावविशेष से होता है। आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु में विभिन्न रूपों से ज्ञेय होने का सहज स्वभाव होता है। उस स्वभाव के अनुसार ही वस्तु ज्ञेय होती है। तत्तद् द्रव्यात्मक वस्तु तत्तद्गुणविशिष्टतया ज्ञेय स्वभाव से सम्पन्न होने के कारण तत्तद्गुणविशिष्ट बुद्धि का विषय बनती है। अतः उस बुद्धि में जो अन्य-बुद्धियों की अपेक्षा वैलक्षण्य है वह उसके स्वभावाधीन ही है उसके लिये उसके विषयरूप में अथवा उसके कारण रूप में समवाय का अनुमान आवश्यक नहीं है। यही उचित भी है कि ज्ञानों में अनुभूय-मान वैलक्षण्य को वस्तुस्वभावाधीन ही माना जाय, क्योंकि यदि उसे विषयाधीन माना जायगा तो 'दण्ड और पुरुष' समूहालम्बन बुद्धि और 'दण्डवाला पुरुष' इस विशिष्ट बुद्धि में वैलक्षण्य न हो सकेगा क्योंकि दोनों समान है।

[भासमान संबंध प्रतियोगित्व रूप प्रकारता में अतिप्रसंग]

यदि यह कहा जाय कि-"दण्ड और पुरुष' इस बुद्धि में दण्ड में प्रकारता नहीं है और 'दण्ड वाला पुरुष' इस बुद्धि में दण्ड में प्रकारता है। क्योंकि प्रकारता केवल वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) प्रतियोगित्वरूप नहीं है किन्तु तत्तज्ज्ञान की प्रकारता तत्तज्ज्ञान में भासमान सम्बन्ध का प्रतियोगित्व रूप है। 'दण्ड और पुरुष' इस ज्ञान में दण्ड और पुरुष का सम्बन्ध भासमान नहीं होता। अत एव तज्ज्ञान में भासमान सम्बन्ध की प्रतियोगिता दण्ड में नहीं है किन्तु 'दण्डवाला पुरुष' इस ज्ञान में दण्ड-पुरुष का संयोग सम्बन्ध भासमान है और उसकी प्रतियोगिता दण्ड में है"- किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर भी 'दण्ड-पुरुष-संयोगाः' और 'दण्डी पुरुषः' इन बुद्धियों में वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि जैसे द्वितीय बुद्धि में दण्ड पुरुष का संयोग भासमान होता है और उसकी प्रतियोगिता दण्ड में होती है और इसलिये वह बुद्धि दण्ड प्रकारक होती है उसी प्रकार 'दण्डपुरुषसंयोगाः' इस बुद्धि में भी दण्डपुरुषसंयोग भासमान है और उसकी प्रतियोगिता दण्ड में है अतः वह बुद्धि भी दण्डप्रकारक हो जानेकी आपत्ति होगी फलतः उक्त दोनों बुद्धियों में वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा।

[स्वरूपतः भासमान संबंध प्रतियोगित्व में भी अनिष्ट]

इसके प्रतिकार में यदि यह कहा जाय कि—'तत्तज्ज्ञान की प्रकारता तत्तज्ज्ञान में स्वरूपतः भासमान जो सम्बन्ध तत्प्रतियोगित्वरूप है तो उक्त आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि 'दण्डी पुरुषः' इस बुद्धि में संयोग का स्वरूपतः भान होता है। अत एव उस ज्ञान में स्वरूपतः भासमान सम्बन्ध की प्रतियोगिता दण्ड में होने से वह बुद्धि दण्डप्रकारक होती है, किन्तु 'दण्डपुरुषसंयोगाः' इस बुद्धि में संयोग का स्वरूपतः नहीं किन्तु विशेष्यविधया अर्थात् संयोगत्वरूप से ही भान होता है,

यत्तु-प्रथमानुमानादेव समवायसिद्धिः, समवायबाधोत्तरकालकल्पनीयेन स्वरूपसंबन्धे-

अत एव उस ज्ञान में स्वरूपतः भासमान सम्बन्ध की प्रतियोगिता दण्ड में नहीं है। अत एव वह बुद्धि दण्डप्रकारक भी नहीं है। इस प्रकार दण्डप्रकारकत्व और दण्डप्रकारकत्वाभाव द्वारा 'दण्डी पुरुषः' और 'दण्डपुरुषसंयोगाः' इन बुद्धियों में वैलक्षण्य हो सकता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'चक्षुःसंयुक्तसमवायेन घटरूपं चक्षुष्मत्' यह बुद्धि और 'घटरूपं चक्षुःसंयुक्तसमवायश्च' इन बुद्धियों में वैलक्षण्य नहीं होगा क्योंकि जैसे द्वितीय बुद्धि में संयुक्तसमवाय का स्वरूपतः भान न होकर संयुक्तसमवायत्वेनैव भान होता है उसी प्रकार पूर्व बुद्धि में भी संयुक्तसमवाय का संयुक्तसमवायत्व रूप से ही भान मानना अनिवार्य है, अन्यथा 'घटरूपं समवायेन चक्षुष्मत्' और 'घटरूपं संयुक्तसमवायेन चक्षुष्मत्' इन बुद्धि में भेद न होगा। फलतः 'घटरूपं संयुक्तसमवायेन चक्षुष्मत्' इस बुद्धि में स्वरूपतः भासमान सम्बन्ध की प्रतियोगिता चक्षु में न होने से उन बुद्धियों में वैलक्षण्य नहीं हो सकेगा। क्योंकि, प्रकारता के उक्त निर्वचन में स्वरूपतः' इस पद के ऐसे किसी अर्थ का निर्वचन कठिन है जिस से संयुक्तसमवायादि सम्बन्धग्राहिणी बुद्धि और शुद्ध समवायादिग्राहिणी बुद्धि दोनों में स्वरूपतः संसर्गग्राहित्व की उपपत्ति की जा सके।

इसके अतिरिक्त संयोगितादात्म्य सम्बन्ध से 'पुरुषः दण्डवान्' और संयोग सम्बन्ध से 'पुरुषः दण्डवान्' इस बुद्धि में विशेषण, विशेष्य और उनका सम्बन्ध तीनों के समान होने से अवैलक्षण्य की आपत्ति होगी। अतः इस आपत्ति का परिहार करने के लिये पहली बुद्धि में संयोगितादात्म्यत्वरूप सम्बन्धतावच्छेदक का भान एवं दूसरी बुद्धि में संयोगत्वरूप सम्बन्धतावच्छेदक का भान मानना आवश्यक है।

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकारता यदि भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व रूप होगी तो अनुव्यवसाय में उसका ग्रहण नहीं होगा क्योंकि अनुव्यवसाय में आत्मा और आत्मा के योग्य विशेषगुण आदि से भिन्न बाह्यविषयों का भान ज्ञानलक्षण (उपनय) संनिकर्ष से होता है। उक्त प्रकारता विशेषण-विशेष्य के वैशिष्ट्य से घटित है। यह वैशिष्ट्य बाह्य पदार्थ है अत एव अनुव्यवसाय में उसका भान ज्ञानलक्षण संनिकर्ष से ही हो सकता है। किन्तु उसका भासक ज्ञानलक्षणसंनिकर्ष अनुव्यवसाय से पूर्व नहीं रहता क्योंकि व्यवसायात्मक ज्ञान में, जिसे ज्ञानलक्षणसंनिकर्ष के रूप में मान्यता दी जा सकती है उसमें वैशिष्ट्य का भानसंसर्गविधया होता है और संसर्ग ज्ञान उपनायक नहीं होता अर्थात् ज्ञानलक्षण संनिकर्षविधया अपने विषय का ग्राहक नहीं होता। क्योंकि यदि संसर्ग ज्ञान को उपनायक माना जायगा तो 'घटवद् भूतलम्' यह लौकिकप्रत्यक्ष संयोगविषयक होने से वह संयोग का भी उपनायक होगा। फलतः 'घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान के बाद 'संयोगवत्' इस प्रकार संयोग प्रकारक ज्ञान की आपत्ति होगी। यदि अनुव्यवसाय में उक्त प्रकारतारूप विषयविशेष का भान माने बिना भी उक्त सम्बन्ध से अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में 'व्यवसाय में प्रकारविधया भासमान पदार्थ निरूपित प्रकारिता' मानी जायगी तो साकारवाद की आपत्ति होगी। अर्थात् विषय विशेष के बिना भी ज्ञान में साकारता सम्भव होने से साकारज्ञान को मानकर विषयविशेष के अस्वीकार की आपत्ति होगी।

(स्वरूपसंबंध समवाय का उपजीवक नहीं हो सकता)

इस सन्दर्भ में समवाय सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये पक्षधरमिश्रने यह कहा है कि-''गुणक्रिया-दिविशिष्ट बुद्धि में विशेषण-विशेष्य सम्बन्धसाधक विशिष्टबुद्धित्वहेतुक प्रथम अनुमान से ही

नार्थान्तरप्रसङ्गः इति मिश्रेणाभिहितम्, तदसत्-स्वरूपसंबन्धत्वस्य परिणामविशेषरूपत्वात्, एकक्षेत्रावस्थितधर्मिद्वयस्वरूपसंयोगस्थलेऽपि स्वरूपस्यैव संबन्धत्वात्, अन्यथा 'कुण्ड एव बदरविशिष्टधीः, न तु बदरे कुण्डविशिष्टधीः' इति नियमायोगात्, स्वरूपसंबन्धत्वस्य संयोगसमवायातिरिक्तत्वाघटितत्वात्, समवायसंबन्धतयाऽप्यस्यैवोपजीव्यत्वादिति ।

यदपि तद्घट-रूपयोर्विशिष्टबुद्धौ विनिगमनाविरहादुभयोः संबन्धिनोः संबन्धत्वं कल्पनीयम्, तथा च लाघवादेक एव समवायः सम्बन्धत्वेन कल्प्यते, अभावस्थले त्वधिकरणानां नानात्वेऽप्येकस्यैवाभावस्य संबन्धत्वं युक्तम्, इति न तत्र संबन्धान्तरकल्पनप्रतिबन्धावकाश इति । तदपि न, 'समवायः, तत्र समवायत्वम्, क्लृप्तभावभेदः, नानाधिकरणवृत्तित्वम्' इत्यादिकल्पनायां महागौरवात् ।

समवाय की सिद्धि हो सकती है। उक्त बुद्धि को स्वरूप संबंध विषयक मान कर जो अर्थान्तर की आपत्ति दी गई है, वह ठीक नहीं है, क्यों कि उक्त बुद्धि में समवायविषयकत्व का बाध होने पर ही स्वरूप सबन्ध की कल्पना हो सकती है। अतः स्वरूप सबन्ध की कल्पना समवायसापेक्ष हो जाने से वह उपजीवक और समवाय उसका उपजीव्य होता है और उपजीवक से उपजीव्य का बाध नहीं होता''- किन्तु यह ठीक नहीं है। चूं कि स्वरूपसम्बन्धत्व परिणामविशेषरूप होता है और परिणामविशेष स्वकारणाधीन होता है। अतः स्वरूपसम्बन्धत्व की कल्पना में समवाय बाध की अपेक्षा नहीं है। जहाँ एक क्षेत्र में विद्यमान धर्मीद्वय का संयोग होता है वहाँ भी उन दोनों धर्मियों का संयोग नामक अतिरिक्तसम्बन्ध न होकर स्वरूप ही सम्बन्ध होता है क्योंकि यदि संयोग संबन्ध माना जायगा तो संयोग उभयवृत्ति होने के कारण जैसे कुण्ड में बदर की विशिष्ट बुद्धि होती है-उसी प्रकार बदर में कुण्डविशिष्टबुद्धि की आपत्ति होगी। अतः कुण्ड में ही बदरविशिष्टबुद्धि होती है और बदर में कुण्डविशिष्टबुद्धि नहीं होती है यह नियम अनुपपन्न हो जायगा। परिणामविशेषात्मक स्वरूप सम्बन्ध मानने पर कुण्ड का बदरविशिष्टकुण्डात्मना परिणाम का अभ्युपगम और बदर का कुण्डविशिष्टबदरात्मना परिणाम का अनभ्युपगम करने से ही उस नियम की उपपत्ति हो सकती है। स्वरूपसम्बन्ध की कल्पना समवायनिरपेक्ष इसलिये भी है कि स्वरूपसम्बन्धत्व संयोगसमवायातिरिक्तत्व से घटित नहीं है। साथ ही समवाय का भी सम्बन्ध स्वरूप होता है इसलिये समवाय की सम्बन्धता स्वरूप सम्बन्ध सापेक्ष है। अतः स्वरूप संबन्ध ही समवाय का उपजीव्य है। अतः स्वरूपसंबन्ध से समवाय का बाध मानने में उपजीव्य विरोध की आपत्ति नहीं हो सकती है।

(समवाय मानने में लाघव होने की बात निःसार है)

इस सम्बन्ध में नैयायिकों की ओर से यह बात भी कही जाती है कि-'स्वरूप सम्बन्ध मानने पर तद्घट और तद्रूप को जो 'तद्घटः तद्रूपवान्' इस प्रकार विशिष्टबुद्धि होती है उसमें विनिगमनाविरह से तद्घट और तद्रूप दोनों को ही सम्बन्ध मानना होगा। उसकी अपेक्षा एक समवाय को सम्बन्ध मानने में लाघव है और इस दृष्टान्त से अभाव स्थल में भी स्वरूप से अतिरिक्त सम्बन्ध की

एतेन 'गुण–गुण्यादिस्वरूपद्वये संबन्धत्वम्, अतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमनाविरहादप्यन्ततः समवायसिद्धिः' इति पदार्थमालाकृतो वचनमपहस्तितम्, जातेरनुगतत्वेन व्यक्तिसंबन्धत्वौचित्ये जाति-व्यक्त्योः समवायोच्छेदापत्तेश्च ।

किञ्च, रूपि-नीरूपिव्यवस्थानुरोधेन रूपादीनां संबन्धत्वकल्पनावश्यकत्वाद् न समवायस्य संबन्धत्वम्, वाय्वादेर्नीरूपत्वस्य रूपीयतद्धर्मताख्यसंबन्धाभावादेव पक्षधरमिश्रैरुपपादितत्वात्, तद्धर्मतायाश्च तद्रूपानतिरिक्तत्वात् । यत्तु 'रूपसमवायसत्त्वेऽपि वायौ स्वभावतो

कल्पना की प्रतिबन्दी रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता क्योंकि अधिकरण अनेक होने पर भी अभाव एक ही होता है अतः वहां अभाव के दो स्वरूप को सम्बन्ध मानने में लाघवरूप विनिगमक मिल जाता है'–किन्तु नैयायिक की यह बात उचित नहीं है क्योंकि स्वरूपसंबंध न मानने पर समवाय और उसमें समवायत्व, समवाय में क्लृप्त अनन्त पदार्थों के अनन्त भेद और समवाय की अनेक अधिकरणों में वृत्तिता की कल्पना आवश्यक होने से समवाय की कल्पना का पक्ष ही महान् गौरव से ग्रस्त है ।

(विनिगमना विरह से समवाय की सिद्धि अशक्य)

पदार्थ मालाकार ने इस सम्बन्ध में यह कहा है कि-'गुण और गुणी के स्वरूप द्वय को सम्बन्ध माना जाय अथवा अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध माना जाय इसमें कोई विनिगमना नहीं है, क्योंकि समवाय मानने पर समवाय और उसमें संसर्गता की कल्पना करनी पड़ती है, जैसे यह दो कल्पना करनी पड़ती है, उसी प्रकार गुण और गुणी के भिन्न स्वरूप द्वय में दो संसर्गता की कल्पना करनी पड़ती है अतः कल्पनाद्वय में साम्य होने से समवाय की सिद्धि अपरिहार्य है'-किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समवाय की कल्पना के पीछे जो अन्य कल्पनाएं बतायी गई हैं वे समवाय के पक्ष में अप्रतिकार्य है । इसके अतिरिक्त यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि समवाय एक होने के कारण उसे गुणक्रियादि का सम्बन्ध मानना है तो जाति अनुगत होने से जाति स्वरूप को ही व्यक्ति के साथ जाति का सम्बन्ध मानना उचित होगा । अतः जाति–व्यक्तिसमवाय का उच्छेद हो जायगा । यदि यह शंका की जाय कि-'यह आपत्ति एक जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध की दृष्टि से है किन्तु जातियाँ अनन्त है अत एव जाति को सम्बन्ध मानने में गौरव होगा । अतः समस्त जातियों का एक समवाय मानने में लाघव होने से जाति-व्यक्ति के समवाय का उच्छेद नहीं हो सकता है-' तो यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि समवाय पक्ष में भी समवाय की संसर्गता, तत्तज्जातिप्रतियोगिक समवायत्व रूप से ही है इसमें तत्तज्जाति को सम्बन्ध अन्तर्गत मानना आवश्यक होता है अन्यथा, समस्त जातियों का एक समवाय सम्बन्ध होने से गुणादि में द्रव्यत्व का सम्बन्ध रह जाने के कारण गुणादि में द्रव्यत्वबुद्धि के प्रामाण्य की आपत्ति हो सकती है । तो फिर जैसे समवाय में भी तत्तज्जाति की तत्तज्जातिप्रतियोगिक समवायत्वावच्छिन्न संसर्गता अनेक है उसी प्रकार तत्तज्जातिस्वरूप में अनेक संसर्गता मानने में भी कोई गौरव नहीं हो सकता, प्रत्युत क्लृप्त तत्तज्जातियों में तत्तज्जाति की सम्बन्धता की कल्पना होने से समवाय की अपेक्षा लाघव है, क्योंकि समवाय पक्ष में अक्लृप्त समवाय की भी कल्पना करनी पड़ती है, उसमें अनेक पदार्थों के सम्बन्ध की भी कल्पना करनी पड़ती है ।

रूपाभावादेव नीरूपत्वम्, इति **चिन्तामणिकृतोक्तम्**, तदसत्, प्रतियोगिसंबन्धसत्त्वे तत्संबन्धावच्छिन्नाभावायोगात्।

अथ प्रतियोगिसंबन्धसत्त्वेऽपि तद्वत्ताया अभावात् तत्र तदभावाऽविरोधः। न च तत्संबन्धस्तद्वत्तानियतः, गगनादिसंयोगे व्यभिचारात्। न च 'वृत्तिनियामक' इति विशेषणाद् न इति वाच्यम्, करवृत्तितानियामककपालसंयोगवति कपाले कपालाभावसत्त्वेन व्यभिचारात्। 'यत्र तद्वृत्तितानियामकः संबन्धः, तत्र तद्वत्त्वनियम' इति चेत्? तर्हि रूपसमवायस्य वायुवृत्तित्वानियामकत्वादेव वायौ न तद्वत्त्वम्, इति चेत्?

(रूपी–अरूपी व्यवस्था की समवायपक्ष में अनुपपत्ति)

उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि पृथिव्यादि द्रव्य रूपवान् है और वायु आदि द्रव्य नीरूप है। इस व्यवस्था की उपपत्ति समवाय से नहीं हो सकती–उसके लिये रूपादि के स्वरूप को ही सम्बध मानना आवश्यक है। इसमें पक्षधरमिश्र की भी सम्मति का संकेत प्राप्त होता है क्योंकि उन्हों ने वायु आदि में नीरूपत्व का उपपादन रूप के तद्धर्मतानामक सम्बन्ध के अभाव से किया है। तद्धर्मता की "स धर्मो यस्य स तद्धर्मा, तस्य भावः तद्धर्मता" इस व्युत्पत्ति के अनुसार तद्धर्मता तद्धर्म से भिन्न नहीं होती। रूप की तद्धर्मता का अर्थ होता है रूपात्मकधर्म। फलतः रूप में ही रूपसम्बन्धता पर्यवसित होती है। तो इस प्रकार उक्तव्यवस्था के लिये रूपादिस्वरूप को रूपादि का सम्बन्ध मानना ही है तो फिर रूपादि के सम्बन्ध रूप में समवायसिद्धि की आशा दुराशा मात्र है। उक्तव्यवस्था के सम्बन्ध में तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्यायने यह कहा है कि-'वायु में यद्यपि रूप-स्पर्श आदि का समवाय एक ही होता है फिर भी वायु नीरूप होता है क्योंकि उसमें रूप का अभाव स्वाभाविक है। अतः समवायपक्ष में भी रूपी और नीरूप की व्यवस्था होने में कोई बाधा नहीं है'-किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वायु में जब रूपाभाव के प्रतियोगी रूप का सम्बन्ध है तो वहाँ समवायसम्बन्धावच्छिन्न रूपाभाव नहीं हो सकता क्यों कि प्रतियोगी का सम्बन्ध अभाव का विरोधी होता है।

[सम्बन्ध होने पर अधिकरणता का नियम नहीं है-]

यदि यह कहा जाय कि-प्रतियोगी सम्बन्ध होने पर भी प्रतियोगी की अधिकरणता का अभाव होता है। अतः प्रतियोगी के सम्बन्ध के साथ अभाव का विरोध नहीं होता क्योंकि तत्सम्बन्धी में तदधिकरणता का नियम नहीं है, जैसे कि गगन का संयोग घटपटादि मूर्त द्रव्य में होने पर भी संयोग सम्बन्ध से गगनादि की अधिकरणता उसमें नहीं होती। यदि कहें कि-'प्रतियोगी का वृत्तिनियामकसम्बन्ध जहाँ रहता है वहाँ प्रतियोगी की अधिकरणता अवश्य रहती है' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि कर में कपाल का संयोग वृत्तिनियामक सम्बन्ध है और वह कपाल में भी है किन्तु कपाल में कपाल के उस वृत्तिनियामक सम्बन्ध के रहने पर भी उस संयोग से कपाल में कपाल की अधिकरणता नहीं होती। प्रत्युत उस सम्बन्ध से कपाल में कपाल का अभाव ही होता है। अतः तद्वस्तु के वृत्तिनियामक सम्बन्ध में तदधिकरणता का नियम व्यभिचारग्रस्त है। यदि यह कहा जाय कि-जिसमें जिस वस्तु का वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है उसमें उस वस्तु की अधिकरणता का

न, तत्र तद्वृत्तितानियामकत्वं हि तत्र तद्विशिष्टबुद्धिजनकत्वम् । अस्ति च वायावपि 'इह रूपम्' इति धीः, तदभावप्रत्यक्षवादिनापि तत्रावश्यं तत्स्वीकारात् । 'साऽऽरोपरूपा, न तु प्रमे'ति चेत् ? न, 'तदभावधियः प्रमात्वाऽसिद्धौ तदप्रमात्वाऽसिद्धेः' इति मिश्रैरेवोक्तत्वात् । प्रतियोगित्वादेरनतिरेकेण तदनुयोगितानिरूपिततत्प्रतियोगिताकवैशिष्ट्यस्य तत्र तद्वृत्तिनियामकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

नियम है'-तो इससे समवाय की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि रूप समवाय वायु में रूप वृत्तिता का नियामक नहीं है। इसलिये वायु में रूप समवाय के रहने पर भी रूपाधिकरणता की आपत्ति नहीं हो सकती''—

[तद्वृत्तितानियामकत्व का अर्थ है तद्विशिष्टबुद्धि का जनकत्व]

किन्तु नैयायिक का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वायु में रूपाधिकरणता का वारण करने के लिये नैयायिक को यह मानना होगा कि जिसमें जिस वस्तु की वृत्तिता का नियामक सम्बन्ध रहता है उसीमें वह वस्तु होती है और तद्वस्तु में तद्वस्तु की वृत्तित्तानियामक का अर्थ होता है तद्वस्तु में तद्विशिष्टबुद्धि का जनक। फलतः, वायु में भी 'इह रूपम्' इस प्रकार रूप की विशिष्टबुद्धि होती है अतः समवाय वायु में रूपविशिष्टबुद्धि का जनक होने से वायु में रूपवृत्तिता का नियामक होगा, इसलिए समवायपक्ष में वायु में रूपाधिकरणता की आपत्ति का परिहार नहीं हो सकता।

(वायु में 'इह रूपं' बुद्धि के प्रामाण्य की उपपत्ति)

यदि यह कहा जाय कि 'नैयायिक के मत में वायु में-'इह रूपम्-यह प्रतीति असिद्ध है'-तो यह कहना ठीक नहीं हो सकता क्योंकि नैयायिक वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं और उस अभाव के प्रत्यक्ष में योग्यानुपलब्धि सहकारिकारण होता है। योग्यानुपलब्धि का अर्थ होता है योग्यता-विशिष्टानुपलब्धि और योग्यता का अर्थ है जिस अधिकरण में अभाव का प्रत्यक्ष करना है उस अधिकरण में प्रतियोगी के आरोप से प्रतियोगी की उपलब्धि का आरोप। अतः वायु में रूपाधिकरणता की आपत्ति का वारण शक्य नहीं है। इसके उत्तर में नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-''वायु में होनेवाली 'इह रूपम्' यह प्रतीति आरोपात्मक है और तद्वस्तु में तद्वस्तु की विशिष्ट प्रमा का जनक सम्बन्ध ही तद्वस्तु की वृत्तिता का नियामक होता है। अतः समवाय वायु में रूपवृत्तिता का नियामक नहीं हो सकता'' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधरमिश्रने यह कहा है कि अभाव की बुद्धि में प्रमात्व की सिद्धि न होने पर ही तद्बुद्धि में अप्रमात्व की सिद्धि होती है। समवायसाधन के पक्ष में वायु में रूपाभाव सिद्ध नहीं रहता अत एव वायु में रूपाभाव की बुद्धि को अप्रमा नहीं कहा जा सकता। जब वायु में रूपाभाव की बुद्धि में अप्रमात्व असिद्ध है तो वायु में 'इह रूपम्' इस बुद्धि को अप्रमा कहना उचित नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि-'तन्निष्ठानुयोगिता निरूपिततन्निष्ठप्रतियोगिताक वैशिष्ट्य ही तद्वस्तु में तद्वस्तु की वृत्तिता का नियामक होता है। समवाय में वायुनिष्ठ अनुयोगिता निरूपित रूपनिष्ठ प्रतियोगिताकत्व नहीं है। अत एव समवाय वायु में रूपवृत्तिता का नियामक नहीं हो सकता'-तो यह

यत्तु 'एकस्यैव समवायस्य किञ्चिदधिकरणावच्छेदेन रूपसंबन्धत्वकल्पनेनैव व्यवस्थोपपत्तिः, इति-तन्न, रूपसंबन्धत्वं हि रूपप्रकारकविशिष्टज्ञानीयसंसर्गताख्यविषयताशालित्वम्, तच्च तत्तदधिकरणावच्छेदेन तत्तदधिकरणान्तर्भावेन विशिष्टधीहेतुतयैव निर्वहतीति महागौरवात्, अस्माकं तु रूपप्रकारकविशिष्टबोधे रूपसंबन्ध एव तन्त्रमिति लाघवात्। किञ्च, एवं 'रूपसंबन्धे न रूपसंबन्धत्वम्' इति व्यवहारः प्रामाणिकः स्यात्।

अन्ये तु 'रूपि-नीरूपिव्यवस्थानुरोधाद् नानैव समवायः, समनियतकाल-देशावच्छे-

भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रतियोगिता-अनुयोगिता अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अतः वायुनिष्ठ अनुयोगिता वायुरूप और रूपनिष्ठप्रतियोगिता रूपात्मक है। जब वायु रूप और समवाय तीनों ही सिद्ध है तब समवाय में वायुनिष्ठानुयोगिता निरूपित रूपनिष्ठप्रतियोगिताकत्व नहीं है यह कहना कठिन है।

[निरवच्छिन्न सम्बन्ध अधिकरणतानियामक नहीं हो सकता]

बहुत से विद्वानों का यह कहना है कि-'समवाय एक ही है-वही रूपस्पर्शादि सभी का सम्बन्ध है किन्तु उसमें रूपसम्बन्धत्व पृथिव्यादिद्रव्यावच्छेदेन है वायु आदि द्रव्यावच्छेदेन नहीं है, और जो जिसका निरवच्छिन्न सम्बन्ध होता है वही उसमें उसको अधिकरणता का नियामक होता है। अतः समवाय में वायु आदि द्रव्यावच्छेदेन रूपसम्बन्ध न होने से समवाय वायु में रूप आदि का वृत्तिता नियामक नहीं हो सकता। अत एव पृथिव्यादि में रूपित्व और वायु आदि में नीरूपत्व की व्यवस्था समवाय सम्बन्धवादी के पक्ष में भी बिना किसी बाधा के उपपन्न हो सकती है'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि रूपसम्बन्धत्व का अर्थ है रूपप्रकारक विशिष्टज्ञानीय संसर्गता, यह वायु आदि द्रव्यावच्छेदेन समवाय में नहीं है और पृथिव्यादिद्रव्यावच्छेदेन समवाय में है यह मानना तभी सम्भव हो सकता है जब तत्तदधिकरणावच्छेदेन तत्तत्सम्बन्ध को तत्तद् अधिकरणावच्छेदेन तत्तद्धर्म की विशिष्ट बुद्धि के प्रति कारण माना जाय। किन्तु ऐसा मानने में रूपादिविशिष्टबुद्धि के कार्य-कारण भाव के शरीर में तत्तदधिकरण का अन्तर्भाव होने से महान् गौरव होगा, जब जैन मत में रूपप्रकारकविशिष्टबुद्धि के प्रति रूपसम्बन्ध को कारण मानने में लाघव है। क्योंकि, कार्य कारण भाव के गर्भ में रूप के अधिकरण का अन्तर्भाव नहीं करना होता है। उसके अतिरिक्त समवाय में पृथिव्यादिद्रव्यावच्छेदेन रूपसम्बन्धत्व और वायु आदि द्रव्यावच्छेदेन रूपसम्बन्धत्वाभाव मानने पर 'रूपसम्बन्धे न रूपसम्बन्धत्वम्' इस व्यवहार में प्रामाण्य की आपत्ति होगी।

(अनेक समवायवादी का पूर्वपक्ष)

अन्य विद्वानों का कथन है कि रूपवान् और निरूप की व्यवस्था के अनुरोध से समवाय भी अनेक ही है, जिसमें रूप का समवाय होता है वह रूपवान् जैसे पृथ्व्यादि द्रव्य, जहाँ रूपसमवाय का अभाव होता है वह नीरूप होता है जैसे वायु आदि। वायु में गुणान्तर का एवं जाति आदि का समवाय होने पर भी उसमें रूप का समवाय नहीं होता, क्योंकि रूप का समवाय गुणान्तर के समवाय से भिन्न है। अतः वायु आदि में गुणान्तर का समवाय होने पर भी रूपसमवाय का अभाव हो सकता है। इस पक्ष में यह प्रश्न हो सकता है कि समवाय अनेक है तो उसकी कल्पना भी

दकानां संख्या-परिमाण-पृथक्त्वादीनां चैक एवायम्, तदभिप्रायेणैव समवायैकत्वप्रवादः, युक्तं चैतत्, इत्थमेव चक्षुःसंयुक्तघटादिसमवायात् पटत्वादेः प्रत्यक्षतापत्तेः' इति वदन्ति। तदपि न, गुणत्वावच्छेदेन गुणिस्वरूपसंबन्धत्वकल्पनादतिरिक्तसंबन्धकल्पनानौचित्यात्। 'जले स्नेहस्य समवायः, न गन्धस्य' इति प्रतीतिवद् 'घट-रूपयोः संबन्ध एव न घट-रसयोः संबन्ध' इति प्रतीतेरपि सत्त्वात्, अतिरिक्तसमवायाननुभवात् अपृथग्भावस्यैव समवाय-पदार्थत्वात्।

क्यों की जायेगी ! और तब 'समवाय एक ही होता है' इसप्रकार का प्रवाद जो दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध है उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर रूपादि के समवाय को अनेक माननेवालों की ओर से यह दिया जाता है कि जिन गुणों का देश काल और अवच्छेदक समनियत है ऐसे संख्या परिमाण पृथक्त्व आदि जो अनेक गुण हैं उन सभी का एक ही समवाय संबन्ध होता है क्यों कि उनके समवाय संबन्ध को एक मानने पर इस प्रकार की आपत्ति सम्भव नहीं हो सकती कि 'उक्त गुणों में से जहाँ एक गुण है वहाँ भी गुणान्तर की अधिकरणता हो जायेगी या जिस काल में एक गुण जहाँ है उसी काल में वहाँ गुणान्तर की अधिकरणता हो जायेगी अथवा यद्देशावच्छेदेन जहाँ एक गुण है वहाँ तत्देशावच्छेदेन गुणान्तर की अधिकरणता की आपत्ति आ जायेगी'–क्योंकि एक समवाय ऐसे ही गुणों के सम्बन्ध रूप से मान्य है जिन का आश्रय और देश काल रूप अवच्छेदक समान है और ऐसे गुणों के समवाय संबन्ध की एकता की दृष्टि से ही दार्शनिक जगत में समवायसम्बन्ध के एक होने का प्रवाद प्रचलित है। तथा उचित भी यही है कि रूप स्पर्शादि गुण और घटत्व पटत्वादि जातिओं का समवाय अनेक माना जाय क्योंकि ऐसा मानने पर ही घट मात्र के साथ चक्षु संयोग होने पर चक्षुसंयुक्त घटसमवायरूप संनिकर्ष से पटत्वादि के प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति का समर्थन हो सकता है। अन्यथा घटत्व, पटत्वादि का समवाय एक होने पर पट के साथ चक्षु का संयोग न होने पर भी घट के साथ चक्षुसंयोग होने से पटत्व के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय संनिकर्ष सम्भव होने से पटत्व के प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार दुष्कर होगा।

[अनेक समवाय पक्ष में अतिगौरव दोष–उत्तर पक्ष]

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि इस पक्ष में भी जिन गुणों का आश्रय, देश और कालरूप अवच्छेदक समनियत नहीं है तथा जो जातियां समनियत नहीं है उन सब का विभिन्न समवाय और संख्या परिमाण आदि का एक समवाय ऐसी कल्पना होती है। ऐसी स्थिति में गुणी के साथ सभी गुणों का और व्यक्तिओं के साथ जाति का स्वरूप संबन्ध मानना ही उचित है क्यों कि स्वरूप संबन्ध पक्ष में किसी अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना करनी नहीं होती बल्कि गुण जाति आदि के प्रमाणसिद्ध स्वरूपों में संबन्धत्व मात्र की कल्पना करनी होती है और समवाय पक्ष में अतिरिक्त अनेक समवाय एवं संख्या परिमाण आदि समनियत आश्रय और देश–कालवाले गुणों के समवाय की कल्पना करनी पड़ती है और उन सब में सम्बन्धत्व की कल्पना और अनन्त पदार्थ के भेद की कल्पना करनी पड़ती है जो अतिगौरवग्रस्त होने से अनुचित है। एवं यह भी ध्यान देने

यदि पुनरेवमप्यनुगतसंबन्धधीनिर्वाहायाऽप्रामाणिकसमवायाभ्युपगमो न त्यज्यते, तदा लाघवादभावादिसाधारणं वैशिष्ट्यमेव किमिति नाभ्युपैषि ? । न चैवं पटवति भूतले पटाभावधीप्रसङ्गः, तदानीं तदधिकरणतास्वाभाव्याभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, स्वभावस्य यावद्द्रव्यभावित्वात्; रक्ततादशायां घटे श्यामाधिकरणतास्वाभाव्येऽपि श्यामाभावेन तदंशे लौकिकप्रत्यक्षाभावादिति वाच्यम्, शाखावच्छिन्नसंयोगसमवायस्य मूलावच्छेदेनेव वैशिष्ट्यस्य तत्काले तदधिकरणावच्छेदेन पटाभावं प्रत्यसंबन्धत्वात्।

योग्य बात है कि समनियत गुणों के समवाय में ऐक्य का अभ्युपगम भी निर्दोष नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे 'जल में स्नेह का समवाय होता है किन्तु गन्ध का नहीं होता' यह प्रतीति होती है उसी प्रकार 'घट एवं रूप का जो सम्बन्ध है वह घट और रस का संबन्ध नहीं है' यह भी प्रतीति होती है। किन्तु घटगत रूप-रस के समनियत होने से यदि घट के साथ उन दोनों का एक ही समवाय माना जायगा तो इस प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी, क्रिया क्रियावान् आदि के मध्य अतिरिक्त समवाय का अनुभव भी नहीं होता इसलिये सत्य बात यह है कि समवाय अतिरिक्त पदार्थ नहीं है जिसे अतिरिक्त सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाय। अपितु अपृथक्भाव यानी अयुतसिद्ध (मिलित) का अस्तित्व ही समवाय है। इसलिये 'गुण द्रव्य में समवेत होता है' एवं 'जाति व्यक्ति में समवेत होती है' इत्यादि व्यवहार वचनों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि द्रव्य से असंबद्ध होकर एवं व्यक्ति से असंबद्ध होकर गुण और जाति का अस्तित्व नहीं होता किन्तु अपने लोकसिद्ध द्रव्य और व्यक्ति रूप आश्रयों से सम्बद्ध होकर ही उनका अस्तित्व होता है और वह सम्बन्ध आश्रय के परिणाम विशेषात्मक स्वरूप सम्बंध से भिन्न नहीं होता।

(अनुगतसंबंधप्रतीति के बल पर समवायसिद्धि अशक्य)

यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-'जिन बातों के लिये अब तक समवाय संबंध की आवश्यकता बतायी गई थी उनकी अन्य प्रकार से उपपत्ति हो जाने के कारण समवाय की कल्पना यदि अनावश्यक प्रतीत होती है तो उन बातों के अनुरोध से समवाय की कल्पना न भी हो, किन्तु गुण-क्रिया-जाति आदि की विशिष्ट बुद्धिओं में गुण-क्रिया-जाति आदि के अनुगत सम्बन्ध का भान अनुभवसिद्ध है। अतः उसकी उपपत्ति के लिये प्रमाणान्तर का अभाव होने पर भी समवाय का त्याग नहीं किया जा सकता'-तो नैयायिक के इस कथन के प्रतिवाद में यह कहा जा सकता है कि तब तो गुण-क्रियादि की विशिष्ट बुद्धि में, एवं अभावादि की विशिष्टबुद्धि, इन सभी बुद्धिओं में लाघव की दृष्टि से एक ही अनुगत संबंध का ही भान मानना चाहिए और उसका वैशिष्ट्य नाम से व्यवहार करना चाहिए। फिर नैयायिक गुणादि का समवाय सम्बन्ध और अभावादि का स्वरूप संबन्ध ऐसी विभिन्न कल्पना क्यों करते हैं ? सभी का वैशिष्ट्य एक ही सम्बन्ध क्यों नहीं स्वीकारते ?

(वैशिष्ट्य संबन्ध में पटाभाव प्रत्यक्ष की आपत्ति-नैयायिक)

यदि इस के उत्तर में नैयायिक की ओर से कहा जाय कि सभी गुणादि का और सभी अभावों का एक ही वैशिष्ट्य सम्बन्ध मानने पर जिस काल में भूतल में पट होता है उस काल में भी भूतल

न च तत्र शाखासमवायोभयमेव संबन्धः न तु समवायस्य संबन्धत्वे शाखावच्छे-दिकेति वाच्यम्, शाखावच्छेदेन समवायसंबन्धावच्छिन्नसंयोगाभावग्रहेऽपि 'शाखायां संयोग' इति बुद्ध्यापत्तेः, तत्र शाखासमवायोभयसंबन्धावच्छिन्नसंयोगाभावग्रहस्यैव विरोधित्वात्, तत्रोक्ताभावग्रहप्रतिबन्धकत्वस्यापि कल्पने गौरवात्। अस्तु वा 'इदानीं पटाभावः' इत्यत्रापि तत्कालवैशिष्ट्योभयसंबन्धेन पटाभाव एव विषय इति न किञ्चिदनुपपन्नम्। न च समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वेन हेतुत्वात् तत्सिद्धिः, कालिकविशेषणताभिन्न-वैशिष्ट्येनैव तदुपपत्तेः।

में पटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी क्योंकि उस काल में भी भूतल, उसके साथ पटाभाव का वैशिष्ट्य सम्बन्ध और अत्यन्ताभाव के नित्य होने से पटाभाव ये तीनों ही विद्यमान होते हैं। इस प्रत्यक्षापत्ति का परिहार यह कह कर नहीं किया जा सकता कि 'भूतलमें पट सत्त्वकाल में पटा-भावाधिकरणत्व स्वभाव नहीं रहता, इसलिये उस समय भूतल में पटाभाव के न रहने से उसके प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती' क्योंकि, पट के असत्त्वकाल में भूतल में पटाभाव प्रत्यक्ष के अनुरोध से पटाभावाधिकरणत्व को भूतल का स्वभाव मानना आवश्यक है और स्वभाव यावद् आश्रयभावी होता है इसलिये पट सत्त्वदशा में भी भूतल में पटाभावाधिकरणत्व स्वभाव होना अनिवार्य है। पाक से श्याम घट रक्त हो जाने पर घट में उस दशा में श्यामरूपाधिकरणत्व स्वभाव रहता है किन्तु श्यामरूप नहीं रहता। अतः उस दशा में श्याम रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष के लिये विषय का सद्भाव आवश्यक होता है।

(कपिसंयोग के दृष्टान्त से उक्त आपत्ति का परिहार—जैन)

किन्तु नैयायिक का यह उत्तर प्रयास भी निरर्थक है क्योंकि संपूर्ण अभावों का वैशिष्ट्य नामक एक सम्बन्ध मानने पर भी भूतल में पट सत्त्वदशा में पटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति का परिहार सरलता से हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि-जैसे वृक्षों में कपिसंयोग का समवाय शाखा-वच्छेदेन वृक्ष के साथ कपिसंयोग का संबन्ध होता है मूलावच्छेदेन नहीं होता है और इसलिये शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवाला भी वृक्ष मूलावच्छेदेन कपिसंयोगवाला नहीं होता। उसी प्रकार वैशिष्ट्य के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि जिस काल में पट होता है उस काल में वैशिष्ट्य भूतलावच्छेदेन पटाभाव का सम्बन्ध नहीं होता इसलिये उस काल में 'भूतले पटो नास्ति' इस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसके प्रतिवाद में यदि नैयायिक की ओर से यह कहा जाय कि-'वृक्ष के साथ कपिसंयोग का शाखा और समवाय दोनों सम्बन्ध होता है, समवाय की संसर्गता स्वरूपसम्बन्ध से और शाखा की संसर्गता अवच्छिन्नत्व सम्बन्ध से होती है, किन्तु समवाय के कपिसंयोग सम्बन्धत्व में शाखा अवच्छेदक नहीं होती है। अतः समवाय के दृष्टांत से वैशिष्ट्य में पटाभावादि सम्बन्धत्व के अव्याप्यवृत्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर वृक्ष में शाखावच्छेदेन समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक कपिसंयोगाभाव के प्रत्यक्ष काल में भी 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी' इस बुद्धि की आपत्ति होगी, क्योंकि शाखा और समवाय दोनों को कपिसंयोग का सम्बन्ध मानने पर उस बुद्धि में शाखा-समवाय उभयसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक

अथ प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशं प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसंबन्धेन घटादिनाशस्य हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन तथात्वे घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तेः । न च द्वित्रिक्षणस्थायिघटादिसमवेतनाशे स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेनैव तथात्वात् सत्त्वेन नाशहेतुत्वकल्पनाद् न तदापत्तिरिति वाच्यम्, तत्रापि कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वेनैव तथात्वेऽनतिप्रसङ्गात् इति चेत् ? न, उक्ते हेतुतावच्छेदकेऽक्लृप्तसमवायनिवेशापेक्षया क्लृप्तसत्त्वनिवेशस्यैवोचितत्वात्। 'द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् समवायसिद्धिः' इत्यपि वार्तम्, द्रव्यान्यसच्चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति महदुद्भूतरूपवद्भिन्नवृत्तित्वेन तत्त्वसंभवादिति न किञ्चिदेतत्। अधिकं ज्ञानार्णव-स्याद्वादरहस्य-न्यायालोकादौ ॥६५॥

अभाव का ज्ञान ही विरोधी होगा और यदि शाखावच्छेदेन समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक कपिसंयोगाभाव के ज्ञान को भी प्रतिबन्धक माना जायेगा तो 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी' इस बुद्धि के प्रति उक्त दो प्रकार के अभाव ज्ञान में प्रतिबन्धकत्व की कल्पना में गौरव होगा। साथ ही नैयायिक को इस तथ्य की ओर भी दृष्टि देनी चाहिए कि जिस काल में भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है तत्काल और वैशिष्ट्य इन सम्बन्धों से ही घटाभाव उक्तप्रत्यक्ष प्रतीति का विषय होता है। भूतल में घट सत्त्वकाल में घटाभाव का वैशिष्ट्य सम्बन्ध होने पर भी तत्काल रूप सम्बन्ध नहीं रहता। अत एव उस दशा में भूतल में घटाभाव के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। अतः संपूर्ण अभाव का एक वैशिष्ट्य सम्बन्ध मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

(नाश की व्यवस्था के लिये समवाय आवश्यक-नैयायिक)

नैयायिक की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'घटादि के नाश से जो घटादि गत रूपादि का नाश होता है वह प्रतियोगितासम्बन्ध से घटादिगत रूपादि में ही उत्पन्न होता है, पटादिगत रूपादि में अथवा घटादिगत जाति में नहीं होता। इस व्यवस्था की उपपत्ति के लिये यह कार्यकारण भाव मानना आवश्यक हुआ कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादि समवेत प्रतियोगिक नाश के प्रति स्वप्रतियोगिसमवेतत्व और स्वाधिकरणत्व उभय सम्बन्ध से घटादिनाश कारण है। ऐसा कार्य कारणभाव बनाने पर उक्तापत्ति नहीं होती क्योंकि घटादिनाश का प्रतियोगी घटादि होता है और उसका समवेतत्व घटादिगत रूपादि में ही होता है, पटादिगत रूपादि में नहीं। अत एव घटादिनाश उक्त उभय सम्बन्ध से पटादिगत रूपादि में नहीं होता। एवं घटादिगत जाति के साथ घटादिनाश का कोई सम्बन्ध न होने से उसमें घटादि नाश स्वाधिकरणत्व घटित उक्त उभय सम्बन्ध से नहीं रहता। अत एव घटादिगत जाति में भी प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादि समवेत प्रतियोगिक नाश की आपत्ति नहीं होगी। किन्तु घटादिसमवेत प्रतियोगिक नाश की प्रतियोगिता संबन्ध से उत्पत्ति घटादिगत रूपादि में ही हो सकती है क्योंकि, घटादिगत रूपादि में घटादिनाश का स्वप्रतियोगिसमवेतत्व संबन्ध भी है और घटादि नाश के उत्पत्तिकाल में घटादिगतरूपादि के विद्यमान रहने से उसमें घटादिनाश का स्वाधिकरणत्व सम्बन्ध भी है। तो इस प्रकार अब घटादिगत रूप और घटा-

विगत जाति में प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादिसमवेत प्रतियोगिक नाश के प्रति घटादिनाश को कारण मानना आवश्यक है तो फिर इसके लिये समवाय सम्बन्ध की कल्पना करनी ही होगी, क्यों कि-उक्त आपत्ति का परिहार प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादिवृत्ति प्रतियोगिक नाश के प्रति स्वप्रतियोगि वृत्तित्व और स्वाधिकरणत्व उभय सम्बन्ध से घटादिनाश को कारण मान कर नहीं किया-जा सकता क्योंकि इस प्रकार का कार्य-कारणभाव मानने पर घटादिवृत्ति ध्वंस के ध्वंस की भी आपत्ति होगी।'

(स्वप्रतियोगिवृत्तित्वविशिष्ट सत्तावत्त्व रूप से कारणता-का आपादन)

यदि समवायप्रतिपक्षी की ओर से यह कहा जाय कि-"प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादि समवेत प्रतियोगि के नाश के प्रति स्वप्रतियोगि समवेतत्व स्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्ध से घटनाश को कारण मानने में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में स्वध्वंसाधिकरणत्व का निवेश, घटादिसमवेत जाति में उक्त नाश की उत्पत्ति होने की आपत्ति का परिहार करने के लिये किया जाता है। उसकी अपेक्षा कारणतावच्छेदक सम्बन्ध ऐसा बनाना चाहिये जिससे घटादिसमवेतप्रतियोगि नाश प्रतियोगिता सम्बन्ध से द्वि-त्रिक्षणस्थायी अर्थात् ध्वंसप्रतियोगी पदार्थ में ही उत्पन्न हो सके। इस प्रकार का जो कार्यकारणभाव बनेगा उसी से घटादिवृत्तिध्वंस की ध्वंसापत्ति का परिहार भी हो जायगा और वह कार्यकारणभाव इस प्रकार बन सकता है कि 'प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादिवृत्ति प्रतियोगिकनाश के प्रति घटादिनाश स्वप्रतियोगिवृत्तित्व विशिष्ट ध्वंसप्रतियोगित्वसम्बन्ध से कारण है, अर्थात् स्वप्रतियोगि वृत्तित्वविशिष्ट सत्तावत्त्वेन कारण है। कारणतावच्छेदक सम्बन्ध में स्वध्वंसाधिकरणत्व के निवेश की आवश्यकता नहीं है क्यों कि जाति आदि में ध्वंसप्रतियोगित्व अथवा सत्ता न होने से उसमें घटादिनाश रूप कारण नहीं रहेगा, इसीलिये घटादिवृत्तिध्वंस में भी प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटादिवृत्तिप्रतियोगिकध्वंस की आपत्ति न होगी, चूंकि उसमें भी ध्वंस प्रतियोगित्व और सत्त्व न रहने से घटादिनाशरूप कारण उक्त सम्बन्ध से नहीं रहेगा-"तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जाति में उक्तनाशापत्ति का परिहार करने के लिए स्वध्वंसाधिकरणत्व को कारणता अवच्छेदक सम्बन्ध न मान कर कालावच्छिन्न स्वप्रतियोगिसमवेतत्वमात्र को भी कारणता अवच्छेदक सम्बन्ध मान लेने से उक्त अतिप्रसंग का परिहार किया जा सकता है।❀

❀ न च द्वित्रिक्षण' से लेकर 'वाच्यम्' पर्यन्तग्रन्थ यतः समवायप्रतिपक्षी की ओर से उक्त है इसलिये उस भाग में आये हुए 'समवेत' पद का 'वृत्ति' मात्र अर्थ है। तथा घटादिसमवेत में द्वि-त्रिक्षणस्थायित्व का कथन इस बात की सूचना के लिये किया गया है कि घटादिवृत्तिप्रतियोगिक नाश और घटादिनाश में कार्यकारणभाव इस रीति से बनाया जाना चाहिये जिससे घटावृत्ति प्रतियोगिक नाश द्वि-त्रिक्षणस्थायि अर्थात् ध्वंसप्रतियोगिपदार्थ में ही उत्पन्न हो सके। जैसा कि कार्य-कारण भाव विवेचन में प्रदर्शित किया गया है। उक्तग्रन्थ में' सत्त्वेन का अर्थ है 'सत्त्ववत्तितेन' और वह स्वप्रतियोगिसमवेतत्व अर्थात् स्वप्रतियोगिवृत्तित्व में विशेषण है इस प्रकार स्वप्रतियोगि विशिष्ट सत्त्वसम्बन्ध से घटादिनाश की कारणता के प्रतिपादन में उक्त ग्रन्थ का तात्पर्य है। सच बात तो यह जान पड़ती है कि 'न च द्वि' से लेकर 'वाच्यम्' पर्यन्त का ग्रन्थ अपने मूल रूप से अत्यन्तपरिवर्तित प्रतीत होता है। किन्तु आशय उसका उक्त कार्य-कारण भाव के प्रदर्शन में ही है।

किन्तु नैयायिक का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उक्त कारणतावच्छेदक में अक्लृप्त (प्रमाणान्तर से असिद्ध) समवाय के निवेश की अपेक्षा प्रमाणान्तरसिद्ध सत्त्व का निवेश ही उचित है, क्योंकि अतिरिक्तसमवाय की कल्पना पूर्वोक्तरीति से अत्यन्त गौरवग्रस्त है।

(द्रव्य-जाति भिन्न के चाक्षुष को प्रतिबन्धकता से समवाय सिद्धि ?)

कुछ लोगों का तो यह कहना है कि द्रव्य और जाति से भिन्न वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत् और उद्भूतरूपवत् से भिन्न में समवेत पदार्थ तादात्म्य संबंध से प्रतिबन्धक है। यह प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न मानने पर चक्षुः इन्द्रियगत रूपादि के चाक्षुष की आपत्ति होगी क्योंकि वह भी चक्षुसंनिकृष्ट है, उसमें भी चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री विद्यमान है। उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबंधक भाव मानने पर यह आपत्ति अब नहीं हो सकेगी क्योंकि चक्षुरादिगत रूपादि उद्भूतरूपवद्भिन्न महत् में समवेत होने से प्रतिबन्धक होगा। यदि स्पर्शादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष की आपत्ति का वारण करने के लिये जैसे स्पर्शादि को तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतिबन्धक माना जाता है उसी प्रकार चक्षु आदि गत रूपादि को भी प्रतिबन्धक भाव मानने की आवश्यकता क्या ? ऐसा प्रश्न उपस्थित हो तो इस प्रश्न का यह उत्तर है कि इसे न मानने पर चक्षु आदि में जितने भी ऐसे गुण हैं जिनके चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति हो सकती है उन सभी को पृथक् पृथक् प्रतिबन्धक मानने में प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव मानने में आनन्त्य होगा। अतः चक्षुरादिगत रूप संख्या परिमाण संयोग विभाग को पृथक् प्रतिबन्धक न मानना पड़े इसलिये प्रस्तुत प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की कल्पना आवश्यक है। इस प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव में प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में द्रव्यान्यत्व का निवेश न करने पर त्रसरेणु के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध हो जायगा क्योंकि वह भी महत् उद्भूतरूपवद्भिन्न में समवेत होता है। एवं जातिभिन्नत्व का निवेश न करने से द्रव्यत्व आदि के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध हो जायगा क्योंकि वह भी महदुद्भूतरूपवद्भिन्न में समवेत होता है। एवं प्रतिबन्धकतावच्छेदक कोटि में समवेतत्व का निवेश न कर वृत्तित्व का निवेश किया जायगा तो वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि वह भी महदुद्भूतरूपवद्भिन्न में वृत्ति है। यदि रूप में उद्भूतत्व का निवेश न किया जायगा तो चक्षुरादिगतरूपादि के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध न होगा क्योंकि वह रूपवद्भिन्न में समवेत नहीं है। इस प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव की उपपत्ति के लिये समवाय की सिद्धि आवश्यक है क्योंकि समवाय न मानने पर प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटिप्रविष्ट समवेतत्व की व्याख्या नहीं हो सकती।"

(प्रतिबन्धकता में 'समवेत' पद की अनावश्यकता)

किन्तु यह कथन भी तुच्छ है–क्योंकि द्रव्यान्यसद्विषयक चाक्षुष के प्रति महदुद्भूतरूपवद्भिन्न-वृत्ति को प्रतिबन्धक मानने से चक्षु आदि गत रूपादि के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रतिबन्ध की और वायु में रूपाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो सकती है, इसलिये प्रतिबन्धकतावच्छेदक कोटि में समवेतत्व के निवेश की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-' प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में प्रविष्ट सत् का यदि 'सम्बन्ध सामान्य से सत्तावत्' अर्थ किया जायगा तो रूपाभाव भी व्यभिचारित्व सम्बन्ध से सत्तावान् हो जायगा इसलिये उसका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रतिबध्यतावच्छेदक से आक्रान्त हो जायगा, अतः समवायसम्बन्ध से सत्तावत् यही अर्थ करना होगा, इस प्रकार पुनरपि समवाय की सिद्धि गले पतित हो जायगी।"–तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि सत् का अर्थ ही सत्तावत् नहीं है किन्तु 'नञ्पदजन्यप्रतीति का अविषय है। अथवा उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि

सामग्रीपक्षमपि स्फुटतरं विक्षिपति–

मूलम्—यापि रूपादिसामग्री विशिष्टप्रत्ययोद्भवा ।
अजनकत्वेन बुद्धयादेः कल्प्यते साऽप्यनर्थिका ॥६६॥

यापि **रूपादिसामग्री**–रूपा-ऽऽलोक-मनस्कार-चक्षुःसंनिधानरूपा, **विशिष्टप्रत्ययोद्भवा**=स्वहेतुसंनिधिपरम्परोपजनितविशेषा, **बुद्धयादेः**=कार्यजातस्य, जनकत्वेनाऽन्त्यैव* कल्प्यते, समर्थस्य कालक्षेपाऽयोगेन कार्याजनकानां सामग्र्यामननुप्रवेशात् । **साऽपि**=स्वोपक्लृप्ता सामग्र्यपि, **अनर्थिका**=प्रयोजनविकलकल्पनाविषया ॥६६॥ तथाहि—

मूलं-सर्वेषां बुद्धिजनने यदि सामर्थ्यमिष्यते ।
रूपादीनां ततः कार्यभेदस्तेभ्यो न युज्यते ॥६७॥

प्रतिबन्धकतावच्छेदक कोटिप्रविष्ट समवेतत्व का समवायसम्बन्ध से वृत्तित्व' ऐसा अर्थ न करके समवायस्थानीय वर्णनान्तरस्वीकृतसम्बन्ध से 'वृत्तित्व' यह अर्थ किया जा सकता है । इस विषय में अधिक विस्तृत विचार व्याख्याकारकृत ज्ञानार्णव-स्याद्वादरहस्य-न्यायालोक आदि ग्रन्थ में द्रष्टव्य है ॥६५॥

आठवी कारिका में किये गए निर्देश अनुसार ९ वीं कारिका से ६५ वीं कारिका तक सन्तान पक्ष की दृष्टि से प्रस्तुत समाधानों की समीक्षा पूर्ण हुई । अब ६६ वीं कारिका से इस सामग्री पक्ष की आलोचना की जाने वाली है कि 'कार्य की उत्पत्ति सामग्री से होती है । सामग्री को कार्य का उत्पादक मानना सभी को आवश्यक होता है क्योंकि एक एक कारण मात्र से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती और सामग्री सभी के मत में क्षणिक होती है । अतः अर्थक्रियाकारित्व क्षणिक में ही होता है, स्थिर में नहीं ।'

[सामग्री पक्ष की कल्पना प्रयोजनशून्य है]

रूपादि घटित सामग्री जो रूप-आलोक-मनस्कार और सदृश प्रत्यय चक्षुः आदि के सन्निधान रूप है और जिसका उद्भव विशिष्ट प्रत्ययों के, अर्थात रूप आलोक आदि हेतुओं के सन्निधान की परम्परा से कार्योत्पत्ति के प्रयोजकविशेष के साथ होता है, और जो बुद्धयादि कार्यों के अन्तिम उत्पादक रूप में स्वीकार की जाती है. और जिस में कार्य के अजनक का प्रवेश नहीं होता, क्योंकि समर्थ कारण द्वारा विलम्ब से कार्योत्पत्ति मानने में युक्ति नहीं है, वह सामग्री भी निरर्थक है । अर्थात् ऐसी सामग्री की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि इस सामग्री में जब कार्यानुत्पादक का प्रवेश नहीं होता किन्तु उसके प्रत्येक घटक कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में ही सन्निहित होते हैं तब उसमें से एक मात्र को ही कार्योत्पादक मान लेना पर्याप्त हो जायगा । ॥६६॥

६७ वीं कारिका में भी बौद्धसम्मत सामग्री पक्ष की आलोचना की गई है—

[बुद्धिविजातीय कार्यों की उत्पत्ति का असंभव]

रूपादि समस्त कारणों को यदि बुद्धि जैसे एकजातीय कार्य के ही उत्पादन में समर्थ माना जायगा तो उनसे विजातीय कार्यों की उत्पत्ति नहीं होगी । जब कि सौत्रान्तिक और वैभाषिक के

* अन्त्या-मदव्यवहितोत्तरक्षणे कार्यं संपद्यते तत्क्षणवर्तिनी ।

सर्वेषां=रूपादीनां बुद्धिजनने=बुद्धिलक्षणैकजातीयकार्योत्पादने, यदि सामर्थ्यं=शक्तिः, इष्यते=अङ्गीक्रियते। एकं कार्यं तु सौत्रान्तिक-वैभाषिकमते रूपादिजन्यमप्रसिद्धम्, तन्मते संचितेभ्यः परमाणुभ्यः संचितानां परमाणूनामेवोत्पादात्, संवृत्तिमत एकस्य घटादेऽसत्तदजन्यत्वात्, ज्ञानस्यापि ग्राह्य-ग्राहकाऽऽकारद्वयप्रतिभासनादिति बोध्यम्। ततः=तेषामेकाऽजनकत्वात् तेभ्यः सकाशात् कार्यभेदः=रूपादिकार्यविशेषः न घटते, किन्तु बुद्धिरेवैका स्यात् ॥६७॥

न चैवमेवास्तु, इत्याह—

मूलं—रूपालोकादिकं कार्यमनेकं चोपजायते ।
तेभ्यस्तावद्भ्य एवेति तदेतच्चिन्त्यतां कथम्? ॥६८॥

मत में सामग्री से बुद्धि और विषय दोनों की उत्पत्ति मानी जाती है। इतना ही नहीं किन्तु यह भी ध्यान में रखने की बात है कि बाह्यार्थवादी बौद्धों के मत में जो बाह्यार्थ उत्पन्न होता है वह भी एक व्यक्ति रूप नहीं होता किन्तु क्षणिक परमाणुओं के समूह रूप होता है। क्योंकि उनका यह सिद्धान्त है कि 'पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिः' अर्थात् पूर्वक्षण में सन्निहित क्षणिक परमाणुसमूह से उत्तरक्षण में नये क्षणिक परमाणु समूह की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वे निराकार ज्ञान को ही पारमार्थिकसत्ता मानने वाले योगाचार, अथवा शून्यता ही पारमार्थिक मानने वाले बौद्धों के अनुसार-संवृति अविद्या अथवा वासनामूलक एक घटादि की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। अतः उनके मतानुसार सामग्री से विभिन्न कार्यों का उदय होता ही है। किन्तु सामग्री में अथवा सामग्री घटक रूप आदि में ज्ञान जैसे एकजातीय कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य मानने पर अनेक कार्यों का उत्पादन जो उन्हें अभिमत है-वह कभी भी न हो सकेगा, इतना ही नहीं ज्ञान की भी उत्पत्ति संकटग्रस्त हो जायगी क्योंकि ज्ञान का भी ग्राह्य और ग्राहक दो आकारों में प्रतिभास होता है। अतः सामग्री को किसी एक आकार के प्रति समर्थ मानने पर अन्य आकार का उद्भव न हो सकेगा और ऐसा कोई ज्ञान आनुभविक नहीं है जो ग्राह्य और ग्राहक दो आकारों में प्रतिभासित न होता हो। फलतः, सामग्री से कोई कार्य का सम्भव न होने के कारण उस की निरर्थकता अनिवार्य होगी। यदि बुद्धि के आकारद्वय में भेद न मान कर दोनों को बुद्धिजातीय ही माना जाय तो बुद्धि की तो उत्पत्ति हो सकती है किन्तु बाह्यार्थवादी बौद्धों को अभिमत बुद्धिभिन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, अतः उन कार्यों के प्रति सामग्री का नैरर्थक्य अपरिहार्य है ॥६७॥

(सामग्री और उसके घटक से विभिन्न कार्यों का असंभव)

६८ वीं कारिका में बौद्ध द्वारा आशंकित उक्त दोष के परिहार की चर्चा कर उसका खण्डन किया गया है—

'रूपादिघटितसामग्री को ज्ञान के उत्पादन में समर्थ मानने पर विभिन्न कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' इसके प्रतिवाद में बौद्धों की ओर से यह कहा जा सकता है कि-'रूप आलोक आदि

रूपाऽऽलोकादिकं कार्यं स्वस्वसंततिगतम्, अनेकं च=विभिन्नं च उपजायते। तदेतत्=विभिन्नकार्यभवनम् तेभ्यः=रूपादिभ्यः, तावद्भ्य एव=तावत्संख्याकेभ्य एव कथम् इति चिन्त्यताम्, सर्वेषामेव बुद्धिजननसमर्थत्वात्, रूपादौ जननीयेऽतिरिक्ता-ऽनागमनात् ॥६८॥ दोषान्तरमाह--

प्रभूतानां च नैकत्र साध्वी सामर्थ्यकल्पना।
तेषां प्रभूतभावेन तदेकत्वविरोधतः ॥६९॥

प्रभूतानां च=विभिन्नानां च रूपादीनाम्, एकत्र=एकजातीये बुद्ध्यादिकार्ये **सामर्थ्य-कल्पना** शक्तिसमर्थना, **साध्वी न**=न्याय्या न। कुतः? इत्याह-**तेषां**=समर्थानां **प्रभूत-भावेन** विभिन्नत्वेन, **तदेकत्वविरोधतः** कार्यैकत्वविरोधात् ॥६९॥

कार्य अपने सन्तान में विभिन्न रूप से उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि रूप-आलोक आदि प्रत्येक रूप-आलोक आदि का भी कारण होता है अतः सामग्री घटक रूप आलोक आदि से रूप आलोक आदि की उत्पत्ति, और सामग्री से बुद्धि की उत्पत्ति, ऐसा मानना संभव है।'-इस बौद्धों के प्रतिवाद के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि रूप-आलोकादि विभिन्न कार्यों का जनन ज्ञानसामग्री के सन्नि-धान के पूर्व जैसे आलोकादि के असंनिधानदशा में भी होता है, उसी प्रकार सदा हो सकता है। अतः यह चिन्तन आवश्यक है-ज्ञानसामग्री काल में रूप-आलोक आदि की उत्पत्ति उतनी संख्या में सन्निहित रूप आदि से क्यों होती है? चिन्तन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानसामग्री दशा में रूप-आलोक आदि भिन्न कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान सामग्री का घटक होने पर रूप आलोकादि सभी में ज्ञानोत्पादन का ही सामर्थ्य होता है, अतः उनसे ज्ञान की उत्पत्ति तो हो सकती है, किन्तु रूप आदि उत्पत्ति कैसे सम्भवित है? उनकी उत्पत्ति की सम्भावना तब होती जब उनके उत्पादन के लिये अतिरिक्त रूप आदि का भी संनिधान होता। क्योंकि जो रूप आदि ज्ञान का उत्पादक हो गया उसका ज्ञान से भिन्न रूप-आदि का उत्पादक होना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि एकजातीय कारण से विभिन्न जातीय कार्यों की उत्पत्ति मानी जायगी तो विभिन्न कारणों की कल्पना ही समाप्त हो जायगी। यह सोचना कि-सामग्री घटक प्रत्येक रूप आदि से रूप आदि की उत्पत्ति और सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है-ठीक नहीं है-क्योंकि सामग्रीघटकों से अतिरिक्त सामग्री का कोई अस्तित्व ही नहीं है ॥६८॥

६९ वीं कारिका में सामग्रीपक्ष में एक अन्य दोष का निदर्शन किया गया है जो कारिका की व्याख्या से ज्ञातव्य है-

रूप आदि विभिन्न पदार्थों में बुद्धि जैसे एकजातीय कार्य के उत्पादन शक्ति की कल्पना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि विजातीय कारणों से एकजातीय कार्यको उत्पत्ति विरुद्ध है ॥६९॥

७० वीं कारिका में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है-

एतदेव भावयन्नाह—

तानशेषान् प्रतीत्येह भवदेकं कथं भवेत् ? ।
एकस्वभावमेकं यत्तत्तु नानेकभावतः ॥७०॥

तान्=समर्थान् प्रतीत्य=आश्रित्य, इह=लोके भवत् कार्यम् एकं कथं भवेत् ! नैव भवेदित्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह-यद्=यस्मात्, एकस्वभावमेकम् 'उच्यते' इतिशेषः, 'तत्तु= एकस्वभावं तु अनेकभावतः=अनेकेभ्यो रूपादिभ्यो हेतुभ्य उत्पत्तेः न घटते ॥७०॥

कथम् ? इत्याह—

यतो भिन्नस्वभावत्वे सति तेषामनेकता ।
तावत्सामर्थ्यजत्वे च कुतस्तस्यैकरूपता ? ॥७१॥

यतः=यस्मात्, **भिन्नस्वभावत्वे**=नानास्वभावत्वे सति, तेषां=रूपादीनाम् अनेकता नान्यथा; **तावत्सामर्थ्यजत्वे च**=तावत्कारणशक्तिजन्यत्वे च, तस्य=बुद्ध्यादेः, कथमेक-रूपता=एकस्वभावता, रूपादिशक्तिजन्यत्वस्वभावभेदात् ? ॥७१॥

एतदेव समर्थयन्नाह—

यज्जायते प्रतीत्यैकसामर्थ्यं नान्यतो हि तत् ।
तयोरभिन्नतापत्तेर्भेदे भेदस्तयोरपि ॥७२॥

विजातीय अनेक कारणों को पाकर उत्पन्न होने वाला कार्य एकजातीय कैसे हो सकता है ! क्योंकि जो वस्तु एकस्वभाव होती है उसकी उत्पत्ति अनेक स्वभाव धारण करने वाले कारणों से नहीं हो सकती ॥७०॥

७१ वीं कारिका में इस कथन की युक्तता प्रतिपादित की गई है—

रूप-आलोक आदि में जो भिन्नता है वह उनके स्वभावभेद के कारण भिन्नता है अन्यथा नहीं और जब वे सब भिन्नस्वभाव वाले हैं तब उन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान रूप कार्य में एक-स्वभावता नहीं हो सकती क्योंकि रूप आदि पदार्थ भिन्न स्वभाव सामर्थ्य से जन्य होने पर बुद्धि में स्वभाव भेद आवश्यक है ॥७१॥

७२ वीं कारिका में भी इस का समर्थन किया गया है—

[कारणगत सामर्थ्य में स्वभावभेद कल्पना अयुक्त]

जो कार्य कारणगत एकसामर्थ्य को प्राप्त कर उत्पन्न होता है वही कार्य कारणगत अन्य सामर्थ्य से उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि एक कार्य के उत्पादक सामर्थ्यों में भेद नहीं हो सकता। यदि दो समझे जाने वाले सामर्थ्य एक ही कार्य को उत्पन्न करेंगे तो वास्तव में उन में अभिन्नता ही होगी भले वे दो समझे जाते हों। क्योंकि, एक कार्य के जनक में एक स्वभाव मानना ही उचित है। यदि यह कहा

यत् कार्यम् एकसामर्थ्यं कारणगतं प्रतीत्य जायते तद्धि=तदेव, अन्यतः=कारणसामर्थ्यान्तरात् न जायते । कुतः ? इत्याह–तयोः=कारणसामर्थ्ययोः, अभिन्नतापत्तेः=एकत्वप्रसङ्गात्, एककार्यजनकत्वेनैकस्वभावत्वौचित्यात् । भेदे तयोः=सामर्थ्ययोः कुतश्चिद्न्यतो निमित्तात् स्वभावभेदेऽभ्युपगम्यमाने, तयोरपि=तदुभयजन्यबुद्ध्यादेरपि भेदः स्यात्, *प्रत्येकजन्यत्वस्वभावभेदात् ॥७२॥

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

मूलं—न प्रतीत्यैकसामर्थ्यं जायते तत्र किंचन ।
सर्वसामर्थ्यभूतिस्वभावत्वात्तस्य चेन्न तत् ॥७३॥

एकसामर्थ्यं प्रतीत्य=आश्रित्य, तत्र=कार्ये न किञ्चन=तज्जन्यतानियतं रूपं (जायते), कुतः ? इत्याह तस्य=अधिकृतकार्यस्य सर्वसामर्थ्यभूतिस्वभावत्वात्=अधिकृतसकलहेतुशक्त्यपेक्षोत्पत्त्येकस्वभावत्वात्, इति चेत् ? न तत्=नैतदुक्तं युक्तम् ॥७३॥

जाय–'कारणगत सामर्थ्यों में किसी निमित्त विशेष से स्वभाव भेद माना जायगा, जैसे-रूपादिस्वरूप कार्य के अनुरोध से तथा बुद्धिरूप कार्य के अनुरोध से कारणगत सामर्थ्य में भेद की कल्पना हो सकती है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि रूपादि में जो सामर्थ्य है, एक रूपादिकार्यों का उत्पादक स्वभाव है और दूसरे में बुद्धि का उत्पादक स्वभाव है' । किन्तु यह कथन उचित नहीं हो सकता क्योंकि भिन्नस्वभाव सम्पन्न भिन्न सामर्थ्यशाली एक रूपादि से जन्य होने के कारण बुद्धि में भी स्वभावभेद हो जायगा । आशय यह है कि यदि रूपात्मककारण में बुद्ध्यनुगुण स्वभाव से उपेत सामर्थ्य और रूप के अनुगुण स्वभाव से उपेत सामर्थ्य दोनों हो रहेगा तो एक सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले कार्य के प्रति दूसरे सामर्थ्य के तटस्थ रहने में कोई युक्ति न होने के कारण दोनों सामर्थ्यों से भिन्न स्वभावोपेत एक कार्य की ही उत्पत्ति होगी । फलतः रूप भी बुद्धिस्वभावोपेत होगा और बुद्धि भी रूपस्वभावोपेत होगी, अतः बुद्धि में शुद्धबुद्धि-विषयाऽनात्मकबुद्धि का भेद हो जायगा जब कि बुद्धि का विषयानात्मक स्वरूप ही सौत्रान्तिक आदि बौद्धों को मान्य है । बुद्धि में इस आपाश के उत्पादक स्वभावभेद का होना इसलिये अपरिहार्य है कि वह कारणगत विभिन्नस्वभावोपेत प्रत्येक सामर्थ्य से उत्पन्न होगी और भिन्नस्वभावोपेत प्रत्येक सामर्थ्य से जन्य होने पर स्वभावभेद का होना आवश्यक होता है ॥७२॥

७३ वीं कारिका में उक्त दोष के सम्बन्ध में बौद्ध के परिहाराभिप्राय को उपस्थित कर इस के निराकरण का संकेत किया गया है—

बौद्धों का उक्त दोष के परिहार के सम्बन्ध में यह अभिप्राय हो कि 'जिस सामग्री से जो कार्य उत्पन्न होता है उस कार्य में उस सामग्री के घटक किसी एक सामर्थ्य से जन्य होने के कारण उस में कोई स्वभावभेद नहीं होता, किन्तु कार्य का केवल इतना ही स्वभाव होता है कि वह सामग्रीघटक

* 'प्रत्येकजन्यत्वस्वभावभेदात्' इस पाठ के स्थान में 'प्रत्येकजन्यत्वे स्वभावभेदात्' यह पाठ उचित प्रतीत होता है ।

कुतः ? इत्याह—

प्रत्येकं तस्य तद्भावे युक्ता ह्युक्तस्वभावता ।
न हि यत्सर्वसामर्थ्यं तत्प्रत्येकत्ववर्जितम् ॥७४॥

तस्य=बुद्ध्यादेः कार्यस्य प्रत्येकं=रूपादिकमेकैकमपेक्ष्य तद्भावे=तेभ्य उत्पत्तिस्वभावत्वे, हि=निश्चितम्, उक्तस्वभावता=सर्वसामर्थ्यभूतिस्वभावता युक्ता । अत्रोपपत्तिमाह-न हि यत् सर्वसामर्थ्यं नाम तत् प्रत्येकत्ववर्जितम्=प्रत्येकसामर्थ्यभिन्नम्, प्रत्येकाऽवृत्तेः समुदायाऽवृत्तित्वनियमादिति भावः ।७४॥

प्रत्येकसामर्थ्यं च परिहृतमेवेति दर्शयति—

अत्र चोक्तं न चाप्येषां तत्स्वभावत्वकल्पना ।
साध्वीत्यतिप्रसङ्गादेरन्यथाप्युक्तिसंभवात् ॥७५॥

कारणों के सम्मिलित सामर्थ्य से उत्पन्न होता है । उत्पत्ति के अतिरिक्त उस में कारणसामर्थ्य मूलक कोई वलक्षण्य नहीं होता ।' इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का संकेत है कि बौद्ध का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥७३॥

७३ वीं कारिका में जिस युक्ति से बौद्ध के अभिप्राय की असंगति का संकेत किया गया है उस युक्ति का ७८ वीं कारिका में उपन्यास किया गया है—

बौद्धों का यह कहना कि 'कार्य का स्वभाव है कि वह सामग्रीघटक कारणों के सम्मिलित सामर्थ्य से उत्पन्न होता है' तभी संगत हो सकता है जब सामग्रीघटक कारणों के सम्मिलित सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले कार्य में सामग्रीघटक एक एक कारण के सामर्थ्य से भी उत्पन्न होने का स्वभाव हो । कहने का आशय यह है कि सामग्री में उसी कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य या स्वभाव माना जा सकता है जिस कार्य के उत्पादन का स्वभाव सामग्रीघटक प्रत्येक कारण में हो । क्योंकि, सामग्री अपने घटक एक एक कारण से भिन्न नहीं होती । इसी प्रकार सामग्रीघटक कारणों का सामर्थ्य-समूह भी सामग्रीघटक प्रत्येक कारण के सामर्थ्य से भिन्न नहीं होता । अतः कार्यविशेष की उत्पादकता यदि सामग्रीघटक प्रत्येक कारण में या प्रत्येककारणगतसामर्थ्य में नहीं रहेगी तो कारणसमुदायरूप सामग्री अथवा कारणसामर्थ्यसमुदाय में भी नहीं रह सकती, क्योंकि यह नियम है कि जो प्रत्येक में नहीं रहता वह समुदाय में भी नहीं रहता ॥७४।

सामग्रीघटक प्रत्येक कारण अथवा प्रत्येक कारणगत सामर्थ्य को सामग्री से उत्पन्न होने वाले कार्यविशेष का उत्पादक मानने पर जो दोष ७२ वीं कारिका में कहा गया था, ७५ वीं कारिका में उस दोष का स्मरण कराने के साथ उस पक्ष में अन्य दोष का उद्भावन किया गया है—

सामग्रीजन्य कार्य में सामग्रीघटक प्रत्येकजन्यत्व मानने पर 'यज्जायते' इत्यादि ७२ वीं कारिका में दोष बताया जा चुका है । कार्य को सामग्रीअन्तर्गत प्रत्येकघटक से जन्य न मान कर केवलसामग्रीजन्य मानने में यह दोष है कि जैसे कार्य के अजनकव्यक्तियों के एकसमूहरूप सामग्री से किसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है उसी प्रकार कार्य के अजनक अन्य व्यक्तियों के समूह से भी उस कार्य की

अत्र च=प्रत्येकजन्यत्वस्वभावपक्षे च उक्तं 'यज्जायते' (का० ७२) इत्यादि। दोषान्तरमाह न चापि एषाम्=अधिकृतसमग्रहेतूनाम् तत्स्वभावत्वकल्पना=प्रकृतफलजननस्वभावत्वकल्पना, अतिप्रसंगादिदोषात् साध्वी=न्याय्या; समग्रान्तराण्यपि तज्जननस्वभावानि भवन्त्वित्यतिप्रसङ्गः । आदिशब्दादेक एव तज्जननस्वभावोऽस्तु, शेषा उपनिमन्त्रितकल्पा इत्यादि दोषसंग्रहः। एवमपि तत्स्वभावत्वोक्तौ दोषमाह--अन्यथाऽप्युक्तिसंभवात्= समग्रान्तराणामपि तत्स्वभावत्ववचनसंभवात्, युक्तिवैकल्यस्य चोभयसाधारणत्वात्। 'इतिः' आद्यपक्षसमाप्त्यर्थः ॥७५॥

उत्पत्ति की आपत्ति होगी । जैसे, दंड-चक्र-चीवरादि घटित सामग्री से घट उत्पन्न होता है, किन्तु सामग्रीघटक दंडादि प्रत्येक भाव अपने सन्तान में अपने सजातीय दंडादि का ही जनक होता है घट का जनक नहीं होता है । फलतः घट के अजनक व्यक्तियों के समूह से ही घट की उत्पत्ति होती है। तो जब घट को घट के अजनक व्यक्तियों के समूह से ही उत्पन्न होना है तब तुरीतन्तु वेमादि के समूह से भी घट की उत्पत्ति होनी चाहिये क्योंकि घट की अजनकता प्रत्येक दंडचक्रादि और प्रत्येक तुरीतन्तुआदि में समान है।

मूल कारिका में 'अतिप्रसंगादि' में आदि शब्द से और अन्य प्रकार के दोषों की सूचना दी गई है जैसे यह कि–सामग्रीघटक व्यक्ति जब सामग्री काल में ही सन्निहित होते हैं उससे पूर्व उसका अस्तित्व नहीं होता तो उनमें से किसी एक को ही कार्य विशेष के उत्पादक स्वभाव से सम्पन्न माना जा सकता है और दूसरे कारण उपनिमन्त्रित-मुख्य अतिथि के साथ आये हुये अन्य के समान अन्यथासिद्ध हो सकते हैं। इन सब त्रुटियों की ओर ध्यान न देते हुये भी यदि एक समूह विशेष को कार्यविशेष के उत्पादक स्वभाव से सम्पन्न माना जा सकता है तो जिस समूह से वह कार्य विशेष नहीं उत्पन्न होता उसमें भी उस कार्य के उत्पादक स्वभाव का प्रतिपादन हो सकता है। क्योंकि कार्यविशेष के अजनक व्यक्तिओं के एकसमूह में कार्यविशेष के उत्पादन का स्वभाव है और उसी प्रकार के दूसरे समूह में उसके उत्पादन का स्वभाव नहीं है ऐसा मानने में कोई विनिगमना नहीं है, क्योंकि दोनों ही समूहों में युक्तिविरह समान है। कारिका में 'साध्वी' शब्द के अनन्तर 'इति' शब्द का प्रयोग अब तक विचार्यमाण प्रथम पक्ष के विचार की समाप्ति का द्योतक है ॥७५॥

असत् कार्यवादी के सम्बन्ध में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत 'सामग्री पक्ष' के दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं (१) एक विकल्प यह कि जिन व्यक्तिओं के एकत्र सह सन्निधान के अनंतर किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उन व्यक्तिओं की एक देश और एक काल में संनिधान रूप सामग्री उस कार्य की उत्पादक होती है, सामग्रीघटक व्यक्ति उत्पादक नहीं होते । यह सामग्री पक्ष का प्रथम विकल्प है जिसे 'सामग्री पक्ष' शब्द से भी कहा जाता है। (२) दूसरा विकल्प यह है कि सामग्री घटक प्रत्येक व्यक्ति सामग्री के अनंतर उत्पन्न होने वाले कार्य के उत्पादक होते हैं। कार्य की उत्पत्ति में उन सभी व्यक्तिओं की समान अपेक्षा होती है। क्योंकि उन में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अन्य व्यक्तिओं से असन्निहित होकर उस कार्य का प्रादुर्भाव करें ।

मौलं विकल्पमधिकृत्य पक्षान्तरमाह—

अथान्यत्रापि सामर्थ्यं रूपादीनां प्रकल्प्यते ।
न तदेव तदित्येवं नाना चैकत्र तत्कुतः ? ॥७६॥

अन्यत्रापि=बुद्ध्यादिव्यतिरेकेण स्वसंततावपि, **सामर्थ्यं**=रूपादिजननी शक्तिः, रूपादीनां समग्राणां प्रकल्प्यते । अत्र दोषमाह-न **तदेव**=बुद्ध्यादिजननसामर्थ्यमेव, **तत्** अन्यत्रापि सामर्थ्यम् , अन्यस्यापि बुद्ध्यादित्वव्याप्तेः, **इति**=उक्तहेतोः **नाना**=अनेकं बुद्धि-रूपादिजननसामर्थ्यम् । एवं **च**=नानात्वे च, **एकत्र**=एकस्वभावे रूपादौ, **तत्**=सामर्थ्यम् , **कुतः** ? नानासामर्थ्यस्वभावत्वेन सर्वथैकत्वविरोधात् ? ॥७६॥

यह ज्ञातव्य है कि इन दोनों विकल्पों की चर्चा के प्रसङ्ग में जो सामग्रीघटक कारणों का एक देश में सन्निधान होना बताया गया है, उसका तात्पर्य किसी एक स्थानविशेष में आश्रित होना नहीं है क्योंकि क्षणिक वादी बौद्ध के मत में यह मानना संभव नहीं हो सकता कि कोई एक ऐसा स्थान होता है जहाँ किसी कार्यविशेष के विभिन्नकारण सन्निहित या उत्पन्न होते हैं। अत एव बौद्ध दृष्टि से एक देश में विभिन्न कारणों के सन्निहित होने का अर्थ है देशकृतव्यवधान के विना विभिन्न सन्तानवर्ती व्यक्तियों का उत्पन्न होना। अतः प्रस्तुत प्रतिपादन में एक देश में सन्निधान होने के उल्लेख के सम्बन्ध में असंगति की शंका नहीं हो सकती।

६६ वीं कारिका से ७५ वीं कारिका तक सामग्री पक्ष के प्रथम विकल्प की आलोचना की गई है। अब ७६ वीं कारिका से दूसरे विकल्प को दृष्टिगत रख कर पक्षान्तर की चर्चा की जाती है। व्याख्याकार ने इस कारिका का व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए इस विकल्प को मौल विकल्प कहा है जिससे निराकृत विविध पक्षों से इस विकल्प को दृष्टिगत रख कर निराकरणीय पक्ष का भेद स्पष्ट हो सके। का०७६ का अर्थ इस प्रकार है-

(एक व्यक्ति में अनेक सामर्थ्य का असंभव)

बौद्धों की ओर से यदि यह विकल्प प्रस्तुत किया जाय कि-"रूप-आलोक-मनस्कार-चक्षु आदि के संनिधान रूप सामग्री जिससे रूप विषयक बुद्धि का उदय होता है उस सामग्री घटक रूपादि प्रत्येक व्यक्ति में रूपादि के जनन का भी सामर्थ्य है और बुद्धि के जनन का भी सामर्थ्य है इसलिये उन कारणों के संनिधान रूप सामग्री के अनन्तर रूपविषयकबुद्धि का भी उद्भव होता है और रूपादि द्वारा अपने सन्तान में उत्तरवर्ती रूपादि का भी उद्भव होता है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि रूपादि में जो बुद्ध्यादिजनन का सामर्थ्य होगा यदि वही रूपादिजनन सामर्थ्य रूप भी है तो उस सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला कार्य तो बुद्धिरूप होता है अतः उस सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले रूप आदि में भी बुद्धिरूपता की प्रसक्ति होगी। अतः तद्वारणार्थ रूपादि कारणों में बुद्धि एवं रूपादि कार्यों के जनन का भिन्न भिन्न सामर्थ्य मानना होगा। और जब वे सब सामर्थ्य भिन्न भिन्न होंगे तो वह रूपादि एकैक व्यक्ति में कैसे रह सकेंगे ? क्योंकि सामर्थ्य रूप स्वभाव का अनेकत्व उन स्वभावों के आश्रय के ऐक्य का विघटन कर देगा। वह इसलिये कि एकवस्तु का अनेक स्वभाव से सम्पन्न होना

परपक्ष एव दोषान्तरमाह—

सामग्रीभेदतो यश्च कार्यभेदः प्रगीयते ।
नानाकार्यसमुत्पाद एकस्याः सोऽपि बाध्यते ।७७।।

यश्च परैः=सुगतसुतैः **सामग्रीभेदतः**=सामग्रीविशेषात् **कार्यभेदः**=कार्यविशेषः **प्रगीयते**=प्रतिज्ञायते, सोऽपि एकस्या एव सामग्र्या रूपा-ऽऽलोकादिनानाकार्यसमुत्पादेऽभ्युपगम्यमाने बाध्यते, सामग्र्यविशेषे कार्याऽविशेषादिति भावः ।।७७।।

अत्रैव पराभिप्रायं निषेधति–

उपादानादिभावेन न चैकस्यास्तु संगता ।
युक्त्या विचार्यमाणेह तदनेकत्वकल्पना ।।७८।।

न च, **एकस्यास्तु**=सामान्यत एकस्या एव सामग्र्याः **उपादानादिभेदेन**=ज्ञानादौ मनस्कारादेरुपादानत्वेन; इतरेषां च सहकारित्वेन कारणताघटितेनावान्तरसामग्रीभेदेन, युक्त्या विचार्यमाणा, इह=प्रस्तुतविचारे, **तदनेकत्वकल्पना**=सामग्र्यनेकत्वकल्पना, **संगता**=युक्ता ।।७८।। तथाहि—

युक्तिसंगत नहीं है। कारण, स्वभाव और स्वभाव के धर्मों में परस्पर भेद होने में कोई युक्ति नहीं होने से स्वभाव के अनेक होने पर उसके धर्मों में अनेकता अपरिहार्य है अर्थात् स्वभावभेद धर्मिभेद का आपादक है ।।७६।।

७७ वीं कारिका में बौद्ध के उक्त पक्ष में ही एक अन्य दोष भी बताया गया है–

बौद्ध मत में भी सामग्री के भेद से कार्य भेद माना जाता है तो फिर जब रूप–आलोकादि कारणों के संनिधान रूप सामग्री से, रूपादि अनेक कार्यों की तथा बुद्धि की उत्पत्ति मानी जायगी, तो एकसामग्री से भी कार्यभेद (विभिन्न कार्य) की उत्पत्ति होने से 'सामग्री भेद से कार्यभेद होता है इस सिद्धान्त का व्याघात होगा ।।७७।।

७८ वीं कारिका में इसी संदर्भ में बौद्ध के एक समाधान परक अभिप्राय का प्रतिषेध किया गया है-बौद्ध पक्ष में अनंतर उद्भावित दोष के सम्बन्ध में बौद्ध का यह कथन है कि रूप-आलोकादिघटित एक सामग्री से रूप-आलोकादि अनेक कार्यों की उत्पत्ति अभिप्रेत नहीं है किन्तु जिस सामग्री को प्रतिवादी एक सामग्री समझते हैं, वह उपादान भेद से भिन्न सामग्री है । अर्थात् उक्तसामग्री आलोक आदि सहकारी और रूपात्मक उपादान से घटित होकर रूप की सामग्री है और मनस्कारात्मक उपादान एवं अन्य सहकारियों से घटित होकर ज्ञान की सामग्री है अतः ऊपर ऊपर से एक प्रतीत होने वाली सामग्री भी वस्तुतः अनेक है। अतः अनेक सामग्री से ही अनेक कार्योत्पत्ति होती है न कि एक सामग्री से ही अनेक कार्योत्पत्ति होती है। अतः अनंतरोक्त दोष के लिये कोई अवसर नहीं है। इस बौद्ध कथन के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का यह सङ्केत है कि बौद्ध की यह कल्पना युक्ति संगत नहीं है ।।७८।।

रूपं येन स्वभावेन रूपोपादानकारणम् ।
निमित्तकारणं ज्ञाने तत्तेनान्येन वा भवेत् ? ॥७९॥

रूपं येन स्वभावेन रूपोपादनकारणम् तेनैव स्वभावेन ज्ञाने निमित्तकारणं, अन्येन वा स्वभावेन भवेत् ? इति पक्षद्वयम् ॥७९॥ आद्ये आह–

यदि तेनैव विज्ञानं बोधरूपं न युज्यते ।
अथान्येन, बलाद् रूपं द्विस्वभावं प्रसज्यते ॥८०॥

यदि तेनैव=रूपोपादनस्वभावेनैव ज्ञानजननस्वभावं रूपं, तदा विज्ञानं बोधरूपं न युज्यते, कार्ये सकलस्वगतविशेषाधायकत्वं ह्युपादानत्वम्, तत्स्वभावत्वं च रूपादेर्यदि ज्ञानेऽपि जननीये, तदा तद्रूपादिस्वरूपतामास्कन्देत्=बोधरूपतां जह्यादिति भावः । द्वितीये आह-अथान्येन=उपादेयजननस्वभावभिन्नस्वभावेन रूपं बोधजनकं, तदा बलात्=त्वदिच्छाननुरोधात्, द्विस्वभावं रूपं प्रसज्यते । अनिष्टं चैतद् भवतः, उपादानसहकारिशक्तिभेदेऽपि स्वसंविद्यकत्वेनावभासनात्, एकत्वाभ्युपगमे जनकत्वाऽजनकत्वाभ्यामप्यक्षणिकस्य तत एव तथात्वाभ्युपगमे बाधकाभावात् । अथ न स्वभावभेदाद् भावभेदः, अपि तु विरुद्धस्वभावभेदात्,

७९ वीं कारिका में उसी संकेत के उपपादन का उपक्रम किया गया है। रूप को रूप के प्रति उपादान कारण और ज्ञान के प्रति निमित्तकारण मानने पर दो पक्ष प्रश्नरूप में प्रस्तुत होते हैं। एक यह कि रूप जिस स्वभाव से रूप का उपादान कारण होता है क्या उसी स्वभाव से वह ज्ञान का निमित्त कारण होता है ? अथवा (२) किसी अन्य स्वभाव से ?

८० वीं कारिका में इन दोनों पक्षों की अयुक्तता बतायी गयी है। यदि रूप जिस स्वभाव से ज्ञान का उपादान कारण होता है उसी स्वभाव से ज्ञान का निमित्त कारण होगा तो ज्ञान बोधरूप न हो सकेगा। क्योंकि उपादान कारण वही होता है जो अपने कार्य में अपने सम्पूर्ण वैशिष्ट्य का आधान करता है। अतः रूप जैसे अपने रूपात्मक कार्य में अपनी रूप स्वभावता का आधान करता है उसी प्रकार वह ज्ञान में भी अपने उस स्वरूप का आधान करेगा। क्योंकि यद्यपि वह ज्ञान का उपादान कारण नहीं है किन्तु ज्ञान का जनन करते हुए भी वह अपने उस स्वभाव से मुक्त तो नहीं हो सकता। अतः रूप से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को रूपस्वभावता प्राप्त कर बोधरूपता का त्याग करना होगा।

कारिका के उत्तरार्ध में रूप अन्य स्वभाव से ज्ञान का निमित्त कारण है–इस दूसरे पक्ष का निराकरण किया गया है। आशय यह है कि यदि रूप जिस स्वभाव से अपने उपादेय कार्य रूप का जनक होता है, यदि उस स्वभाव को छोड कर भिन्न स्वभाव से बोध का जनक होगा तो रूप हठ पूर्वक बौद्ध की इच्छा के विपरीत दो स्वभावों का आस्पद-आश्रय हो जायेगा जो बौद्ध को इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मत में स्वभावभेद आश्रय के ऐक्य का विरोधी होता है। यदि यह कहा जाय कि-"स्वभाव भेद से आश्रय का भेद तभी होता है जब आश्रय के ऐक्य को सिद्ध करने

तत्कार्यजनकत्वा-जनकत्वे चाक्षणिकस्य विरुद्धौ स्वभावौ, उपादानत्व-सहकारित्वशक्त्योश्च न विरोध इति न दोष इति चेत् ? न, तथाप्यनेकशक्तितादात्म्यानुविद्धैकरूपक्षणाद्यभ्युपगमेऽनेकान्तप्रसङ्गात् । शक्तिनां शक्तिमतोऽभेद एवेत्यभ्युपगमे च 'इदमुपादानम्, इदं च सहकारिकारणम्' इत्यादिविभागाभावप्रसङ्गात् ॥८०॥

कल्पनयाऽयं विभागो भविष्यतीति पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अबुद्धिजनकव्यावृत्त्या चेद् बुद्धिप्रसाधकः ।
रूपक्षणो ह्यबुद्धित्वात्कथं रूपस्य साधकः ? ॥८१॥

वाली कोई युक्ति न हो किन्तु रूप में ऐक्य सिद्ध करने वाली युक्ति है । अतः रूप के स्वभाव भेद से रूप में रूप के ऐक्य का विरोध नहीं हो सकता, जैसे उपादान शक्ति और सहकारि शक्ति रूप स्वभाव के भेद होने पर भी रूपज्ञान में रूप का एक ही रूपाकार में अवभास होता है, अतः यह स्वभाव उसके ऐक्य का साधक है । इसलिये स्वभावभेद से उसका ऐक्य प्रतिहत नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य के जनकत्व और अजनकत्व रूप स्वभावभेद से स्थिरवस्तु में भी ऐक्य की सिद्धि का विरोध न हो सकेगा क्योंकि कुशूलस्थित दशा में अंकुर का अजनक और क्षेत्रस्थ दशा में अंकुर का जनक जो बीज उसके ज्ञान में बीज का एक ही बीजाकार रूप में भान होता है । अतः कुशूलस्थ बीज और क्षेत्रस्थ बीज में भी ऐक्य का साधक उक्त ज्ञान रूप युक्ति विद्यमान है इसलिये उक्त स्वभाव भेद से बीज की भी भिन्नता नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि दोनों की एकता में कोई बाधक नहीं है । फलतः अर्थक्रियाकारित्व के बल से भाव की क्षणिकता का साधन असम्भव हो जायगा ।

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि "उन्हें स्वभावमात्र के भेद से आश्रयभेद मान्य नहीं है अपितु विरुद्ध स्वभाव के भेद से आश्रयभेद मान्य है । तत्कार्यजनकत्व और तत्कार्याजनकत्व ये दोनों भाव-अभाव रूप होने से विरुद्ध स्वभाव है अतः इन स्वभावों से युक्त एक स्थिर वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती किन्तु उपादानशक्ति और सहकारिशक्तिरूप विभिन्न स्वभाव से युक्त क्षणिक एक रूप आदि की सिद्धि हो सकती है और इन स्वभावों में विरोध नहीं है । अतः रूप में स्वभावभेद प्रयुक्त जो अनेकत्वप्रापत्ति रूप दोष उद्भावित किया गया है वह नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनेक शक्तियों के तादात्म्य से युक्त रूपात्मक एक क्षणिक भाव का अस्तित्व मानने पर अनेकान्तवाद के शरण में पड़ जाना होगा ! शक्ति और शक्तिमान् में अभेद मान कर यदि इस संकट से बचने की चेष्टा की जायगी तो वह भी सफल नहीं हो सकती है क्योंकि उस दशा में यह उपादान कारण है और यह सहकारी कारण है इस प्रकार का विभाग न हो सकेगा । क्योंकि उपादानशक्ति और सहकारी शक्ति रूप स्वभाव भी आश्रय से अभिन्न होने के कारण तद्-से अभिन्न होता है इस न्याय से एक हो जायगा ।।८०।।

८१ वीं कारिका में उपादान और सहकारी कारण के बौद्धाभिमत काल्पनिक विभाग का परिहार किया गया है–

अबुद्धिजनकव्यावृत्त्या-'अबुद्धिजनकेभ्यो व्यावृत्तः' इति कृत्वा, चेत्=यदि बुद्धिप्रसाधकः शुबुद्ध्युपधायकः रूपक्षणो विकल्प्यते, तदा हि=निश्चितम्, अबुद्धित्वात्=बुद्धिभिन्नत्वात्, कथं स रूपस्य साधकः ? । न ह्यबुद्धिजनकव्यावृत्तमबुद्धिजनकं भवतीति ॥८१॥ पर आह-

स हि व्यावृत्तिभेदेन रूपादिजनको ननु ।
उच्यते व्यवहारार्थमेकरूपोऽपि तत्त्वतः ॥८२॥

स हि=रूपक्षणः, 'ननु' इति निश्चये, तत्त्वतः=परमार्थतः, एकरूपोऽपि=एकस्वभावोऽपि, व्यवहारार्थं व्यावृत्तिभेदेन=अरूपजनकादिव्यावृत्तिविशेषेण, रूपादिजनक उच्यते, विरुद्धरूपस्यैकत्राभावेऽपि विभिन्नरूपेण कल्पनाया अप्रतिरोधात्, कल्पनायां विषयसत्त्वस्याऽनियामकत्वादिति भावः ॥८२॥ अत्राह—

अगन्धजननव्यावृत्त्यायं कस्मान्न गन्धकृत् ।
उच्यते, तदभावाच्चेद्भावोऽन्यस्याः प्रसज्यते ॥८३॥

अगन्धजननव्यावृत्त्या अयं=रूपक्षणः, व्यवहारार्थमेव कस्माद् न गन्धकृदुच्यते ? अगन्धजननव्यावृत्त्यभावात् चेद्=यदि नोच्यते, तदाऽन्यस्याः=अबुद्धिजनकव्यावृत्तेः भावः=पारमार्थिकसत्त्वं प्रसज्यते ॥८३॥ ततः किमित्याह-

---

बौद्ध का अभिमत यह है कि-'रूपक्षण में अबुद्धिजनकव्यावृत्ति है जिसका अर्थ है-बुद्धिभिन्नजनकव्यावृत्ति, अत एव बुद्धिभिन्न रूप को उत्पन्न करने में कोई बाधा न होने से वह रूपभिन्नबुद्धि का उत्पादक होता है।'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि वह बुद्धि भिन्न जनक व्यावृत्त होगा तो वह बुद्धिभिन्न रूप का जनक कैसे होगा क्योंकि बुद्धिभिन्नजनकव्यावृत्त बुद्धिभिन्नजनक नहीं हो सकता ।।८१।।

८२ वीं कारिका में बौद्ध की ओर से उक्त प्रतिषेध का समाधान प्रदर्शित किया गया है-

बौद्ध का समाधान यह है कि रूपक्षण वस्तुतः एकस्वभाव ही है । केवल व्यवहार के लिये उस में व्यावृत्तिभेद की कल्पना है, अतः जैसे उस में अबुद्धिजनकव्यावृत्ति कल्पित है उसी प्रकार उस में अरूपजनकव्यावृत्ति भी कल्पित है । इस दूसरी व्यावृत्ति से वह रूप का भी जनक कहा जाता है । एकस्वभाव वस्तु में परस्पर विरुद्ध विभिन्न रूप से कल्पना करने में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि कल्पना में विषय की सत्ता नियामक नहीं होती ।८२॥

८३ वीं कारिका में बौद्ध के उपर्युक्त समाधान का निरसन किया गया है—

बौद्ध के उक्त समाधान के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कहना है कि जैसे रूप क्षण में अरूपजनकव्यावृत्ति की कल्पना कर के उसे रूपजनक कहा जाता है उसी प्रकार अगन्धजनक व्यावृत्ति की कल्पना कर के उसे गन्धजनक क्यों नहीं कहा जाता ? यदि इस के उत्तर में बौद्ध की ओर से यह

एवं व्यावृत्तिभेदेऽपि तस्यानेकस्वभावता ।
बलादापद्यते सा चायुक्ताभ्युपगमक्षतेः ॥८४॥

एवम्=उक्तप्रकारेण, व्यावृत्तिभेदेऽपि=विभिन्नकारणतावच्छेदके भेदविशेषेऽभ्युपगम्यमाने (?) क्रियमाणे, तस्य=वस्तुनः, बलादनेकस्वभावताऽऽपद्यते । सा चाऽभ्युपगमक्षतेः=प्रतिज्ञातविरोधात् , अयुक्ता । अथ 'आरोपे सति०'...इत्यादिन्यायेन रूपक्षणस्याऽगन्धजनकत्वव्यावृत्त्या गन्धजनकत्वाकल्पनायामप्यबुद्धिजनकव्यावृत्त्यादिना बुद्ध्यादिजनकत्वकल्पनाद् न दोष इति चेत् ? न, रूपत्वादिनाऽन्वय-व्यतिरेकग्रहेण रूपत्वादिनैव रूपादेर्बुद्ध्यादिहेतुत्वौचित्यात् , इतरव्यावृत्तेर्दुर्ग्रहत्वाद् , कल्पनातः कारणतावच्छेदकत्वांश इव कारणतांशेऽप्यनाश्वासात् , स्वलक्षणाऽसंस्पर्शेऽपि कल्पनाप्रसरात् , व्यावृत्तिभेदस्यापि स्वलक्षणसंस्पर्शे च व्यावृत्तिभेदानुमतनानाक्षणवृत्तित्वस्यापि स्वलक्षणसंस्पर्शप्रसङ्गात् , व्यावृत्तिभेदेन कारणक्षणानां कार्यक्षणानां चानुगमे एकैकग्रहविनिर्मोकाभ्यामविनिगमात् , विशिष्य हेतुताग्रहे चोपायाभावादिति अन्यत्र विस्तरः ॥८४॥

कहा जाय कि रूपक्षण में अगन्धजनकव्यावृत्ति का अभाव होने से उसे गन्धजनक नहीं कहा जाता तब तो ऐसा कहने का अर्थ यह हुआ कि उस में अरूपजनकव्यावृत्ति आदि का भाव है, यानी इन दोनों का पारमार्थिक अस्तित्व प्रसक्त होगा ।।८३।।

८४ वीं कारिका में उक्त प्रसक्ति से बौद्ध को होनेवाली अनिष्टापत्ति का प्रदर्शन किया गया है-

[एकान्त एकस्वभावता मानने में विरोध]

उक्त रीति से रूपक्षण में यदि अबुद्धिजनकव्यावृत्ति और अरूपजनकव्यावृत्ति जैसे विभिन्न कारणतावच्छेदक की पारमार्थिक सत्ता मानने पर रूपक्षण में अनेकस्वभावता की बलात् आपत्ति होगी, जो बौद्ध के लिये अयुक्त है । क्योंकि एकवस्तु में अनेकस्वभावता की प्रसक्ति होने पर बौद्ध के इस अभ्युपगम-इस प्रतिज्ञा का-कि 'वस्तु एकान्ततः एकस्वभाव ही होती है अथवा सर्वस्वभावविनिर्मुक्त स्वलक्षण होती है'-विरोध होगा । इसके उत्तर में पुनः बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि—"आरोपे सति निमित्तानुसरणम् , न तु निमित्तमस्तीति आरोपः" यह न्याय है, इसके अनुसार जो आरोप प्रामाणिक एवं सप्रयोजन हो उसके लिये तो निमित्त की कल्पना उचित है, किन्तु निमित्त की कल्पना करके नैमित्तिक (आरोप) की कल्पना नहीं की जा सकती । अतः रूपक्षण में अगन्धजनकव्यावृत्ति की कल्पना करके गन्धजनकत्व की कल्पना करना न्याययुक्त नहीं है फिर भी अबुद्धिजनकव्यावृत्ति की कल्पना करके बुद्धिजनकत्व और अरूपजनकव्यावृत्ति की कल्पना करके रूपजनकत्व की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है । आशय यह है कि रूपक्षण में बुद्धिजनकत्व और रूपजनकत्व का व्यवहार लोकसिद्ध है अत एव उसकी उपपत्ति के लिये अबुद्धिजनकव्यावृत्ति और अरूपजनकव्यावृत्ति की कल्पना तो न्यायसंगत है, किन्तु रूपक्षण में गन्ध-

जनकत्व व्यवहार लोकसिद्ध नहीं है अतः उसमें अगन्धजनकव्यावृत्ति रूप निमित्त की कल्पना करके गन्धजनकत्व की कल्पना न्याय संगत नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है—

[अरूपजनकव्यावृत्ति आदि रूपसे कारणता का असंभव]

क्योंकि बुद्धि आदि के साथ रूपादि का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान रूपत्वादि धर्मों से ही है। अर्थात् 'रूपे सति बुद्धिः रूपं च जायते-रूपेऽसति ते न जायेते' इसी प्रकार का अन्वयव्यतिरेक ज्ञान होता है, इसलिये बुद्धि आदि के प्रति रूप आदि को रूपत्वादि धर्मों से ही कारणता मानना उचित है. अरूप-जनकव्यावृत्ति अथवा अबुद्धिजनकव्यावृत्ति रूपेण कारणता उचित नहीं है। क्योंकि उक्तव्यावृत्तियाँ अरूपजनक और अबुद्धिजनक आदि जो साध्य ज्ञान उनकी सापेक्ष होने से दुर्ज्ञेय है। दूसरी बात यह है-यदि उक्त व्यावृत्तियों में काल्पनिक कारणतावच्छेदकत्व को माना जायगा तो कारणता-अंश में भी अविश्वास हो जायगा। तात्पर्य यह है कि कारणता का ज्ञान कारणतावच्छेदक के ज्ञान के अधीन होता है अतः कारणतावच्छेदक का ज्ञान अगर काल्पनिक होगा तो कारणता का भी ज्ञान काल्पनिक ही होगा। इसलिये रूपक्षण में रूप और बुद्धि आदि की कारणता भी काल्पनिक हो जायगी, क्योंकि आप के मत में स्वलक्षण यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध के बिना भी कल्पना हो सकती है। अतः रूपक्षण से असम्बद्ध होने पर भी कारणता कल्पित हो सकती है। यदि स्वलक्षण वस्तु के साथ कारणता के सम्बन्ध की उपपत्ति करने के लिये स्वलक्षण के साथ व्यावृत्ति विशेष का भी सम्बन्ध माना जायगा तो स्वलक्षणवस्तु में व्यावृत्तिभेदों द्वारा अनुगत किये हुए अनेकक्षणवृत्तित्व का सम्बन्ध हो जायगा। फलतः स्वलक्षण वस्तु में अनेकक्षणसम्बन्धरूप स्थायित्व को प्रसक्ति होने से क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि हो जायगी। आशय यह है कि बौद्ध को स्वलक्षण सत्य वस्तु की क्षणिकता अर्थात् एकक्षणमात्र का सम्बन्ध ही मान्य है अनेक क्षणों का सम्बन्ध मान्य नहीं है। काल्पनिक अरूपजनकव्यावृत्ति आदि से स्वलक्षणरूप क्षण में अरूपजनकत्व मान्य होता है उसी प्रकार अतद्वस्तुवृत्तिव्यावृत्ति अर्थात् 'तद्वस्तु से भिन्नवस्तु के अधिकरण क्षण में वर्तमान तद्भिन्न का भेद' रूप से स्वलक्षण तद्वस्तु में अनेकक्षण-वृत्तित्व मानकर स्थिरत्व का आपादान हो सकता है। किन्तु जिस स्वलक्षण वस्तु में जिस क्षण का सम्बन्ध मान्य है उस क्षण और उससे भिन्न अनेक क्षणों में एक व्यावृत्ति भेद-एक अतद्व्यावृत्ति मान कर यह कहा जा सकेगा कि स्वलक्षण तद्वस्तु में अतद्व्यावृत्तक्षणवृत्तित्वरूप अनेकक्षणवृत्तित्व है जो बौद्ध को मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणों का कोई अनुगमक धर्म मान्य न होने से स्वलक्षणवस्तु में बौद्ध को अननुगतक्षण का सम्बन्ध ही स्वीकार्य है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि कारणक्षण और कार्यक्षणों का भिन्न भिन्न व्यावृत्तियों से अनुगम करके कार्य-कारण भाव बनाने पर उन व्यावृत्तियों से अनुगत होने वाले अव्य-वहित कार्यक्षणों और कारणक्षणों को ग्रहण कर और उन व्यावृत्तियों से अनुगत होने वाले व्यवहित कार्यक्षण और कारणक्षण का विनिर्मोक=त्याग कर कार्यक्षण और कारणक्षणों में उत्पाद्य-उत्पादक भाव की कल्पना में कोई विनिगमना नहीं हो सकेगी क्योंकि अव्यवहित कार्यकारण क्षणों में विशेष रूप से कार्यकारणभाव के ज्ञान का कोई विनिगमक नहीं हो सकेगा क्योंकि अव्यवहित कार्यकारण क्षणों में विशेष रूप से कार्यकारणभाव के ज्ञान का कोई उपाय नहीं है। यदि उत्पाद्य-उत्पादक व्य-क्तिओं से विशेष रूप से कार्यकारणभावग्रह का कोई उपाय होता तो वह कार्य कारण भाव ही उनके उत्पाद्य-उत्पादक भाव में विनिगमक हो जाता, किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं है ॥८४॥

बौद्ध के साथ प्रस्तुत चर्चा में ८५ वीं कारिका में बौद्ध के प्रति एक अन्यदोष बताया गया है—

विभिन्नकार्यजननस्वभावाश्चक्षुरादयः ।
यदि ज्ञानेऽपि भेदः स्यान्न चेद् भेदो न युज्यते ॥८५॥

दोषान्तरमाह–विभिन्नकार्यजननस्वभावाश्चक्षुरादयः कारणविशेषा यदीष्यन्ते, तदा तज्जन्ये ज्ञानेऽपि भेदः स्यात् । न चेद् भिन्नकार्यजननस्वभावत्वं तदा रूप-बुद्ध्यादेरपि भेदो न युज्यते । 'प्रत्येकं विभिन्नकार्यजननस्वभावत्वादयमदोष' इति चेत् ? न, तथाप्येकत्र कार्ये प्रत्येकं विभेदापत्तेः ॥८५॥ प्रस्तुतपक्षमुपसंहरति–

सामग्र्यपेक्षयाप्येवं सर्वथा नोपपद्यते ।
यद्धेतुहेतुमद्भावस्तदेषाऽप्युक्तिमात्रकम् ॥८६॥

एवम्=उक्तयुक्त्या सामग्र्यपेक्षयापि, यद्=यस्मात् कारणात् , सर्वथा हेतु-हेतुमद्भावो नोपपद्यते, तत्=तस्मात् , एषा=सामग्र्यपि, उक्तिमात्रकं=प्रकृतपक्षाऽसाधिका ॥८६॥

[चक्षु आदि में भिन्नकार्य जननस्वभाव होने में आपत्ति]

बौद्ध चक्षु-रूप-आलोकादि को अपने सन्तान में चक्षु-रूप आदि का जनक और अन्य सन्तान में बुद्धि का जनक मानते हैं। अतः उनकी मान्यता का यह निष्कर्ष है कि चक्षु-रूप आदि कारणों में विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने का स्वभाव है। फलतः उनके मत में उन कारणों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी एक न होकर विभिन्न हो जायगा। अर्थात् उनसे एक ज्ञानव्यक्ति की उत्पत्ति न होकर विभिन्न ज्ञानव्यक्तिओं की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। यदि इस आपत्ति के भय से वे चक्षु रूप आदि में विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने का स्वभाव मानना अस्वीकार कर देंगे तो इसका अर्थ होगा कि उन कारणों में अभिन्न कार्य को ही उत्पन्न करने का स्वभाव है और उनसे उत्पन्न होने वाले रूपबुद्ध्यादि में भी भेद न हो सकेगा।

इस के उत्तर में बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-चक्षु रूप आदि में विभिन्न जातीय एकैक कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव है अतः न अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंग होगा और न रूप-बुद्धि आदि में एकजातीयता का ही प्रसंग होगा। अतः उक्त दोष को अवसर नहीं मील सकता' तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि कारण में विभिन्नजातीय एक-एक कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव माना जायगा तो प्रत्येक कार्य में भी विभिन्नजातीयता की प्रसक्ति होने से भिन्नता की आपत्ति होगी और उसका पर्यवसान या तो अनेकान्तवाद में होगा या तो शून्यवाद में होगा।

कहने का आशय यह है कि यदि कारण भिन्न जातीय कार्य को उत्पन्न करेंगे तो उनसे जो भी कार्य उत्पन्न होगा उनमें विभिन्न जातियां होंगी, जैसे उन कारणों से रूप एवं ज्ञान उत्पन्न होता है तो ये दोनों उभयजातीय होंगे अर्थात् रूप ज्ञानजातीय होगा और ज्ञान रूपजातीय होगा क्योंकि ऐसा मानने पर ही उनमें भिन्नजातीयता होगी। ऐसी स्थिति में यदि उन जातियों में कथञ्चित् अविरोध मान कर उन जातीयों से अनुविद्ध एकैक कार्य व्यक्ति की सत्ता मानी जायगी तो अनेकान्तवाद का प्रसंग होगा और यदि उन जातियों में सर्वथा विरोध ही होगा तो दोनों जातियाँ किसी भी एक कार्य व्यक्ति में नहीं बैठ सकेगी। फलतः शून्यवाद का प्रसंग होगा।८५॥

८६ वीं कारिका में ६६ वीं कारिका द्वारा प्रस्तुत सामग्री पक्ष का उपसंहार किया गया है—

अभ्युपगम्यापि हेतु–हेतुमद्भावं दोषमाह—

नानात्वाबाधनाच्चेह कुतः स्वकृतवेदनम् ? ।
सत्यप्यस्मिन्मिथोऽत्यन्तभेदादिति चिन्त्यताम् ॥८७॥

च=पुनः इह=क्षणिकत्वपक्षे, सत्यप्यस्मिन्=हेतुहेतुमद्भावे पूर्वोत्तरक्षणरूपकर्तृ-भोक्त्रोः, मिथः=परस्परम्, अन्वयाभावेनाऽत्यन्तभेदात्, स्वकृतवेदनम्=स्वार्जितहिताहित-कः फलानुभवः कुतः ? इति चिन्त्यताम्=माध्यस्थ्यमवलम्ब्य विमृश्यताम् ॥८७॥

उक्त युक्ति से सामग्री की अपेक्षा कार्य कारण भाव नहीं बन सकता। इसलिये सामग्री की चर्चा भी कोरी चर्चा ही है। अतः वह भी प्रकृतपक्ष-असत् कार्यवाद एवं भावमात्र के क्षणिकतावाद की साधक नहीं हो सकती ॥८६॥

८७ वीं कारिका में कार्य कारण क्षणों में विशेष रूप से कार्य कारण भाव का अभ्युपगम करने पर भी बौद्ध पक्ष में दोष प्रदर्शित किया गया है—

(विशेष रूप से कार्य कारण भाववादी बौद्ध के मत में दोष)

बौद्धवादीः–अव्यवहित पूर्वोत्तरक्षणों में विशेष रूप से कार्य कारण भाव का हम अभ्युपगम करते हैं और इस अभ्युपगम में यह युक्ति है कि उपधेय-उपधायक वस्तुओं में विशेष रूप से कार्यकारण भाव प्रायः सभी स्थिरवादियों को भी मानना आवश्यक होता है। अन्यथा, केवल सामान्य कार्य-कारण भाव के बल से ही विशेष कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति मानने पर यह प्रश्न ऊठ सकता है कि जिन तन्तु व्यक्तिओं से एक पट व्यक्ति की उत्पत्ति होती है उन तन्तु व्यक्तिओं से दूसरे पट व्यक्तिओं की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ! क्योंकि पटत्व-तन्तुत्व रूप से कार्य कारण भाव के आधार पर सभी तन्तु में सभी पट की जनकता सिद्ध होती है। इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा की तत्तत्पट के प्रति तत्तत्तन्तु को विशेषरूप से कारणता है। अतः केवल सामान्य कार्य कारण भाव के बल पर उक्त आपत्ति नहीं ऊठायी जा सकती। अतः इस विशेष कार्य कारण भाव का ज्ञान कैसे हो सकता है-इस प्रश्न का उत्तर देने का भार केवल बौद्धों पर ही नहीं किन्तु कार्य कारण वादी सभी दार्शनिकों पर है और वह उत्तर यही है कि विशेष कारण के रहने पर विशेष कार्य का उदय और विशेष कारण के अभाव में विशेष कार्य का अनुदय इस प्रकार विशेष कार्य–कारणों में अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान से विशेष कार्य कारण भाव का ज्ञान होता है। भले यह कार्य कारण भाव कार्यार्थी के कारणोपादान में प्रवृत्ति का नियामक न हो किन्तु इसके होने में बाधा नहीं है। अत एव जो दोष बौद्ध पक्ष में दिया गया वह उचित नहीं है।"-बौद्ध के इस अभ्युपगम को दृष्टिगत रखते हुये ग्रन्थकार का यह कहना है कि-क्षणिकत्वपक्ष में विशेष रूप से कार्य कारण भाव सम्भव होने पर भी पूर्व क्षण रूप कर्ता और उत्तरक्षणरूप भोक्ता में अत्यन्त भेद होगा, क्योंकि उनमें अत्यन्त भेद का बाधक किसी प्रकार का अन्वय क्षणिकत्ववादी के मत में नहीं होता और जब कर्ता और भोक्ता में अत्यन्त भेद होगा तो कर्ता को अपने अर्जित शुभ अशुभ कर्मों के फल का अनुभव कैसे हो सकेगा ? इस विषय पर तटस्थ होकर बौद्ध को विचार करने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह है-कि बौद्ध मत में इस प्रश्न का समाधान सम्भव न होने से वह मत उपादेय नहीं हो सकता ॥८७॥

वास्यवासकभावाच्चेन्नैतत्तस्याप्यसंभवात् ।
असंम्भवः कथं न्वस्य, विकल्पानुपपत्तितः ॥८८॥

पर आह—वास्यवासकभावात् स्वकृतवेदनं युज्यते, 'स्ववासककृतं स्वेन भुज्यते' इति नियमात् स्ववासककृते स्वकृतत्वव्यवहाराच्च । अत्रोत्तरम्-इति चेत् ? नैतदेवम्, तस्यापि=वास्यवासकभावस्यापि असंभवात् । पर आह-'नु' इति वितर्के,कथमस्य=वास्यवासकभावस्य, असम्भवः ? अत्रोत्तरम्-विकल्पानुपपत्तितः=विकल्प्यमानस्य सत-स्तस्यनीत्याऽघटमानत्वात् ॥८८॥

वासकाद्वासना भिन्नाऽभिन्ना * वा भवेद्यदि ।
भिन्ना स्वयं तया शून्यो नैवान्यं वासयत्यसौ ॥८९॥

तथाहि-वासकात् सकाशाद् वासना भिन्ना वा भवेत् , अभिन्ना वा ?, इति द्वयी गतिः । तत्र यदि वासकाद् वासना भिन्ना, तदा स्वयं तया शून्योऽसौ वासकः क्षणः नैवान्यं वासयेत् , अन्यक्षणाऽविशेषात् ॥८९॥

८८ वीं कारिका में उक्त अनुपपत्ति के विरुद्ध बौद्ध अभिमत समाधान को प्रस्तुत कर उसके निराकरण का संकेत किया गया है—

[वास्य-वासक भाव में विकल्पों की अनुपपत्ति]

उक्त सम्बन्ध में बौद्ध की यह मान्यता है कि पूर्वोत्तर कर्तृ और भोक्तृक्षणों में वास्य-वासक भाव होता है और उसी के बल पर स्वकृत कर्मों का फलोपभोग होता है । अर्थात् जो जिस से वासित होता है वह उस के किये कर्मों का भोक्ता होता है और उसका किया हुआ कर्म भोक्तृकृत कहा जाता है ।

कहने का आशय यह है कि "जब कोई क्षणजीवी प्राणी कोई शुभ या अशुभ कर्म करता है तो उन कर्मों का भला या बुरा संस्कार पुण्य-पाप उत्पन्न होता है, जिसे वासना कहा जाता है । इसी से उस कर्ता प्राणी के उत्तर क्षण में उत्पन्न होनेवाला दूसरा प्राणी वासित हो जाता है । इसप्रकार वह संस्कार उत्पत्ति के माध्यम से प्रवाहित होता हुआ उस क्षणजीवी प्राणी तक पहुंचता है जिसे उन कर्मों का फल भोग होता है । एवं उन कर्मों के फल का भोक्ता होने से ही उसे उन कर्मों का भोक्ता और उन कर्मों को उसी के द्वारा किया हुआ माना जाता है" । बौद्धों के इस कथन का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने यह कहा है कि-भाव मात्र के क्षणिकता पक्ष में वास्य-वासक भाव भी सम्भव नहीं है । यदि बौद्ध प्रश्न करे कि ऐसा क्यों ? तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने सम्भावित पक्षों की अनुपपत्ति को बताया है । अर्थात् यह कहा है कि भाव की क्षणिकता पक्ष में वास्य-वासक भाव की उपपत्ति के लिये जो भी विकल्प सम्भवित हो सकते हैं-युक्तिपूर्वक उस का उपपादन अशक्य है ।।८८॥

८९ वीं कारिका में पूर्वकारिका में संकेतित अनुपपत्ति का उपपादन किया गया है —

* क्रियमाणेऽत्र संधौ सप्ताक्षरत्वप्रसङ्गेन छन्दोहानिः, संधेरविधाने च संहितैकपदवत् 'पादेऽ-धान्तवर्जम्' इति काव्यसमयातिक्रमः इति 'भिन्ना वाऽभिन्ना' इति पाठश्चेत् स्यात् सुसंगतः स्यात् ।

अथाभिन्ना न संक्रान्तिरस्या वासकरूपवत् ।
वास्ये सत्यां च संसिद्धिर्द्रव्यांशस्य प्रजायते ॥९०॥

अथाभिन्ना वासकक्षणाद् वासना तदा तस्या वासकरूपवद् निरन्वयविनष्टत्वेन वास्ये संक्रान्तिरन्वयरूपा न स्यात् । **सत्यां च**=अभ्युपगतायां च संक्रान्तौ द्रव्यांशस्य संसिद्धिः प्रजायते, अन्वयस्यैव द्रव्यसंज्ञितत्वात् ॥९०॥ संक्रान्ति विनैव वासना भविष्यतीत्यत आह—

असत्यामपि संक्रान्तौ वासयत्येव चेदसौ ।
अतिप्रसङ्गः स्यादेवं स च न्यायबहिष्कृतः ॥९१॥

असत्यामपि **सङ्क्रान्तौ**=वासकसंवेधरूपायाम् चेदसौ=वासकक्षणः वासयत्येव वास्यम्, तदेवं सति अतिप्रसङ्गः स्यात्, अन्यस्यापि वासनप्रसङ्गात्, स च **न्यायबहिष्कृतः**= युक्तिबाधितः ॥९१॥

[वासक से वासना भिन्न होने पर दोष]

बौद्ध–पूर्वक्षणजीवी प्राणी अपने द्वितीयक्षण में उत्पन्न होनेवाले दूसरे क्षणजीवी प्राणी को अपने कर्मों के संस्कार से वासित करता है । इस प्रकार पूर्वक्षण वासक और उत्तरक्षण वास्य होता है और यह वास्यवासकभाव जिस वस्तु से होता है उसे वासना कहा जाता है । पुण्य–पाप आदि अन्य शब्दों से भी उसका व्यवहार होता है । बौद्ध की इस मान्यता के सम्बन्ध में दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं । (१) एक यह कि पूर्वक्षण जिस वासना से उत्तरक्षण को वासित करता है वह वासना वासक क्षण से भिन्न है अथवा (२) वासकक्षण से अभिन्न है ? इन विकल्पों में प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि वासना वासक से भिन्न होगी तो वासक स्वयं उस वासना से शून्य होगा, ऐसी दशा में जब स्वयं उसके पास ही वासित करने का साधन न रहेगा तो वह दूसरे को वासित कैसे कर सकेगा ? क्योंकि वह भी वासनाहीन अन्य क्षणों के समान ही होगा ॥८९॥

९० वीं कारिका में दूसरे विकल्प की अनुपपत्ति बतायी गई है –

[वासक-वासना अभेद पक्ष में द्रव्य की सिद्धि]

यदि वासना वासकक्षण से अभिन्न होगी तो वासक का नाश होने पर स्वयं भी निरन्वय नष्ट हो जायगी । इसलिये वास्य के उत्तरक्षण में उसका (वासना का) अन्वय रूप संक्रमण न हो सकेगा । अतः उस से उत्तरक्षण का वासित होना सम्भव न होगा । यदि उत्तरक्षण में वासना की संक्रान्ति मानी जायगी तो उस में कोई अंश ऐसा मानना होगा जो पूर्वोत्तर दोनों क्षणों में अनुगत हो, जिस के द्वारा वासना की संक्रान्ति हो सकेगी । यह अंश अन्वयात्मक होगा, क्योंकि इस की अनुगति पूर्वक्षण और उत्तरक्षण दोनों में है । इसीलिये वह द्रव्य नाम से भी संज्ञात हो सकेगा । क्योंकि 'द्रवति= विभिन्नक्षणेषु धावति यत्, तद् द्रव्यं' और 'अनु'=पूर्वक्षणसम्बन्धानन्तरं उत्तरक्षणे 'एति=गच्छति' इस व्युत्पत्ति से द्रव्य और अन्वय दोनों शब्दों का अर्थ समान होता है ।

९१ वीं कारिका में संक्रान्ति के बिना भी वासना की सम्भावना का निरसन किया गया है—

अथ नेयं वासना वासकसंसर्गरूपा, किन्तु मृगमदक्षणपरम्परावत् स्वहेतुप्रसूततत्तत्क्षणपरम्परारूपैव, इत्यभिप्रायमाकलय्याभ्युपगतमप्यसंगतत्वात् परित्यजन्नाह—

वास्यवासकभावश्च न हेतुफलभावतः ।
तत्त्वतोऽन्य इति न्यायात्स चायुक्तो निदर्शितः ॥९२॥

वास्यवासकभावश्चायं भवत्कल्पितो न हेतुफलभावतः सकाशात् तत्त्वतोऽन्यः, किन्तु स एव । स च न्यायात्=सत्तर्कात्, अयुक्तो निदर्शितः ॥९२॥

[संक्रमण के बिना वासना की परम्परा का असंभव]

यदि वासना का संक्रमण अर्थात् वासक पूर्वक्षण का उत्तरक्षण में किसी प्रकार का संबंध अन्वय के अभाव में भी माना जायगा कि वासकपूर्वक्षण उत्तरक्षण को वासित कर सकता है तो ऐसा मानने पर अतिप्रसंग होगा, क्योंकि फिर 'यह अपने सन्तानवर्त्ती क्षण को ही वासित करेगा और दूसरे को नहीं' इसमें कोई युक्ति न होगी। फलतः एक क्षणजीवीप्राणी के द्वारा किये गये कर्म से जन्य वासना से अन्य सन्तानवर्त्ती क्षणों भी वासित होने से एक सन्तान द्वारा कृत कर्म के फलभोग की दूसरे सन्तान में भी आपत्ति होगी ॥९१॥

९२ वीं कारिका में वास्य-वासक भाव के सम्बन्ध में बौद्धोक्त एक अन्य कथन का निराकरण किया गया है—

(परम्परा के आधार पर वास्य वासक भाव की अनुपपत्ति)

बौद्धों का यह कहना है कि वासना 'वास्य में वासना का अन्वय' रूप नहीं है, किन्तु जैसे मृगमद (कस्तुरी) क्षण अपने उपर रखे हुये पट के विभिन्न स्तरों में नये नये मृगमद क्षण को उत्पन्न कर सभी को वासित करता है, और उससे उत्पन्न होने वाली कस्तुरीक्षणों की परम्परा ही कस्तुरी द्वारा की जाने वाली वासना कही जाती है, उसी प्रकार एक सन्तान का घटक पूर्वक्षणजीवी प्राणी जब कोई कर्म करता है और उस कर्म से कोई शुभाशुभ वासना उत्पन्न होती है तो उस वासना से भी वासना क्षणों की परम्परा प्रादुर्भूत होती है और यह तब तक होती रहती है जब तक उस सन्तान के प्राणी द्वारा उस कर्म के फल का अनुभव नहीं हो जाता। इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षणों में वासनाक्षण-परम्परा रूप वासना के द्वारा उनमें वास्य-वासक भाव सम्भव हो सकता है। इसके लिये किसी अंश की अपेक्षा भी नहीं है। किन्तु इसके विरुद्ध ग्रन्थकार का कहना यह है कि बौद्धों द्वारा कल्पित यह वास्यवासक भाव पूर्वोत्तर क्षणों के कार्य कारण भाव से वस्तुतः भिन्न नहीं है। और पहले तर्कसिद्ध प्रतिपादन किया जा चुका है कि पूर्वोत्तर क्षणों में कार्यकारणभाव युक्तिसंगत नहीं है ॥९२॥

९३ वीं कारिका में कार्य कारण भाव के सम्बन्ध में बौद्ध ने सिंहावलोकन न्याय से अपने मन्तव्य को अर्थात् जैसे सिंह आगे बढ़ने से पूर्व कभी कभी पीछे देख लेता है उसी प्रकार कार्य कारण भाव के सम्बन्ध में जो चर्चा की जा चुकी है और उसमें जो दोष बताया जा चुका है उस ओर दृष्टि जाने पर कार्य कारण भाव के समर्थन में बौद्ध का एक नया मन्तव्य प्रस्तुत होता है। प्रस्तुत कारिका में उसी का प्रतिपादन किया गया है—

परः सिंहावलोकितेन स्वाभिप्रायमाह—

तत्तज्जननस्वभावं जन्यभावं तथा परम् ।
अतः स्वभावनियमान्नायुक्तः स कदाचन ॥९३॥

तत्=कारणं मृदादि, तज्जननस्वभावं=घटादिजननस्वभावम्, तथा परं=घटादि, जन्यभावं=मृदादिजन्यस्वभावम्। अतः स्वभावनियमाद् हेतु-फलयोः सः=हेतु-फलभावः न कदाचनाऽयुक्तः, अन्त्यावस्थायां सर्वेषां प्रत्येकमभिमतकार्योत्पादकत्वात्, अन्यसंनिधेस्तु स्वहेतुप्रत्ययसामर्थ्यनिमित्तत्वेनोपालम्भानर्हत्वात्। न च भिन्नकार्योत्पत्तिः, सर्वेषां तस्यैव जनने सामर्थ्यात्। अथवा, मृदादिक्षण एव शक्तिरूपा घटादिहेतुता वास्तवी, अन्यत्र तु पौर्वापर्यनियममात्रम्, इति न विभागाभावादिदोष इति ॥९३॥

उभयोर्ग्रहणाभावे न तथाभावकल्पनम् ।
तयोन्यांय्य न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्ति वः ॥९४॥

(स्वभाव से ही घट-मिट्टी के जन्य जनक भाव की सिद्धि-बौद्ध)

बौद्ध का कहना है कि मिट्टी आदि कारणों में घटादि कार्यों को उत्पन्न करने का स्वभाव होता है और घटादि कार्यों में मिट्टी आदि कारणों से ही उत्पन्न होने का स्वभाव होता है। इस स्वभाव-मूलक नियम से कार्य और कारणों में कार्य-कारणभाव उपपन्न हो सकता है अतः क्षणिकतापक्ष में कार्य कारण भाव को अयुक्त बताना ठीक नहीं है। जिन कारण क्षणों के संनिधान होने पर किसी अभिमत कार्य की उत्पत्ति होती है वे सभी कारण क्षण अपनी अन्तिम अवस्था में अर्थात् अपने पूर्व सन्तानों से पृथक् होने की अवस्था में सब मिलकर अभिमत कार्य को उत्पन्न करते हैं। 'दण्ड-चक्रादि कारणों का संनिधान मृत्तिका में ही क्यों होता है, तन्तुआदि में भी क्यों नहीं होता जिस से वे तन्तु के संनिधान में पट के भी उत्पादक हो सके ?' इस प्रकार का उपालम्भ नहीं दिया जा सकता, क्योंकि दंड-चक्रादि अन्य कारणों का सन्निधान आकस्मिक नहीं होता किन्तु हेतु (उपादान कारण) और प्रत्यय (निमित्त कारण) के सामर्थ्य से होता है। दंड-चक्रादि के हेतु और प्रत्ययों में ऐसा सामर्थ्य है जिससे उनका संनिधान मिट्टी में ही होता है तन्तु आदि में नहीं होता है। मिट्टी-दंड-चक्रादि विभिन्न कारणों से घटादिरूप कार्य की उत्पत्ति मानने पर विभिन्न घटादि रूप कार्य-उत्पत्ति की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि उन सभी कारणों में उस एक ही कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य होता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि शक्तिरूप घट को कारणता मिट्टी में ही होती है-दंड चक्रादि के साथ उसके पौर्वापर्य का नियम मात्र होता है, इसीलिये 'मिट्टी घट का उपादान कारण है और दंडादि निमित्त कारण है' इस विभाग के अभावादि दोषों की प्रसक्ति नहीं हो सकती क्योंकि शक्तिरूप कारणता उपादानव्यवहार का और पौर्वापर्य नियम मात्र निमित्तकारण व्यवहार का सम्पादक है ॥९३॥

९४ वीं कारिका में बौद्ध के पूर्व कारिका उक्त समाधान का प्रत्याख्यान किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

अत्राह-उभयोः=हेतु-फलयोः, ग्रहणाभावे न तथाभावकल्पनं=तज्जननस्वभावादिकल्पनम् ; तयोः=हेतु-फलयोः न्याय्यम् , उभयघटितत्वात् तस्य । न चैकेन ग्राहकेण द्वयोर्भिन्नकालयोः ग्रहणमस्ति, वः=युष्माकम् ॥९४॥ एतदेव दर्शयति–

एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं यथा ।
विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं तथा ॥९५॥

यथा विज्ञानद्वयं भिन्नकालं क्षणिकत्वादेकमर्थं न विजानाति, तथा विज्ञानमेकमर्थद्वयं भिन्नकालं क्षणिकत्वादेव न विजानाति । 'नाऽननुकृतान्वय-व्यतिरेकं कारणं, नाकारणं विषयः' इति हि सौगतानां मतम्, न च ज्ञानद्वय एकस्यार्थस्येव ज्ञानेऽर्थद्वयस्यापि हेतुत्वम् , इति नैकेनोभयग्रहणमिति भावः ॥९५॥

कार्य और कारण का ग्रहण न होने से यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जिन कारणों के सह सन्निधान के अनंतर जिस कार्य का उदय होता है उन सभी कारणों में उस एक ही कार्य के जनन का स्वभाव है और कार्य में उन कारणों से ही उत्पन्न होने का स्वभाव होता है । ऐसी कल्पना न हो सकने का कारण यह कि उक्त कल्पना कार्यकारण दोनों से घटित है और कार्यकारण दोनों ही भिन्नकालिक हैं। बौद्ध मत में ग्रहीता भी क्षणिक है, इसलिये कार्य-कारण का ग्रहण किसी एक द्वारा नहीं हो सकता ॥९४॥ ९५ वीं कारिका में इसी तथ्य को अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(एक और दो का ग्राह्य-ग्राहक भाव असंभव)

भिन्नकालिक दो विज्ञान जैसे एक अर्थ को नहीं ग्रहण करते क्योंकि क्षणिक होने से कोई अनुसंधान करने वाला एक अर्थ भिन्न कालिक दो विज्ञानों के समय नहीं रहता. इसी प्रकार एक विज्ञान भी भिन्न कालिक दो अर्थों को ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि क्षणिक होने से वह भी दो क्षण तक नहीं रह सकता ।

बौद्धों का यह मत है कि जिसका अन्वयव्यतिरेक कार्य द्वारा अनुकृत नहीं होता वह कारण नहीं होता, और जो अकारण होता है वह विषय नहीं होता । भिन्नकालिक ज्ञानद्वय के द्वारा एक अर्थ के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान नहीं होता है क्योंकि पूर्वकालोत्पन्न में ज्ञान द्वितीयक्षण में होने वाले अर्थ का व्यतिरेक होने पर भी उत्पन्न होता है और उस अर्थ के काल में पूर्व ज्ञान होता नहीं । इसी प्रकार द्वितीय विज्ञान द्वारा पूर्वकालोत्पन्न अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुकरण नहीं होता, क्योंकि द्वितीय विज्ञान द्वितीयक्षण में पूर्वोत्पन्न अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न होता है और पूर्वोत्पन्न अर्थकाल में उत्पन्न नहीं होता । इसलिये एक अर्थ ज्ञानद्वय का कारण नहीं होता । उसी प्रकार एक ज्ञान अर्थद्वय का भी कारण नहीं होता क्योंकि अर्थ द्वय से किसी एक ज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक का अनुकरण नहीं होता, जैसे द्वितीय ज्ञान के दूसरे क्षण में ज्ञान के अभाव में भी दूसरे अर्थ की उत्पत्ति होती है, और ज्ञान-काल में उस अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती । इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध मत में एक ज्ञान से दोनों का ग्रहण नहीं होता है ॥९५॥

पराभिप्रायमाह—

वस्तुस्थित्या तयोस्तत्त्व एकेनापि तथाग्रहात् ।
नो बाधकं न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्त्यदः ॥९६॥

वस्तुस्थित्या पौर्वापर्यभावेन तयोः=हेतु-फलयोः, तत्त्वे=तज्जननादिस्वभावत्वे, एकेनापि=धर्मिग्राहकेण, तथाग्रहात्=तदभिन्नतद्धर्मप्रकारकग्रहात्, नो बाधकं प्रागुक्तम् । न चादः=एतत्, एकेन द्वयोर्ग्रहणमस्ति, धर्म-धर्मिणोरनर्थान्तरत्वात्, एकेनैकस्यैव ग्रहात् ॥९६॥

एतत् परिजिहीर्षुराह—

तथाग्रहस्तयोर्नेतरेतरग्रहणात्मकः ।
कदाचिदपि युक्तो यदतः कथमबाधकम् ॥९७॥

तयोः=हेतु-फलयोः, तथाग्रहः=तज्जननस्वभावत्वादिना ग्रहः इतरेतरग्रहणात्मकः=घटकग्रहसापेक्षग्रहरूपः, धर्मिमात्रग्रहात् न कदाचिदपि युक्तः, अतः कथमबाधकं प्रागुक्तम्? । नहि स्वलक्षणाध्यक्षं स्वस्य याथात्म्ये प्रमाणम्, क्षणिकत्व-स्वर्गप्रापणशक्त्यादावपि तथात्वप्रसङ्गात्, "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इत्यस्य व्याघातापत्तेश्च ॥९७॥

(कारण और उसका स्वभाव अभिन्न रूप से गृहीत होगा-बौद्ध)

९६ वीं कारिका में पूर्वोक्त दोष का बौद्धसम्मत समाधान प्रदर्शित किया गया है—

बौद्ध का कहना है कि-'कार्य और कारण का एक ज्ञान से ग्रहण नहीं होता है यह ठीक है किन्तु इससे कार्य कारण भाव के ग्रहण में कोई बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों में पौर्वापर्य होता है अर्थात् कार्य-कारणभाव समकालीन में नहीं किन्तु पूर्वापरकालीन में होता है। इसलिये कारण में कार्यजननस्वभाव और कार्य में कारणजन्यस्वभाव रहता है। वह स्वभाव कारण-कार्य का धर्म होता है, अत एव कारणरूप धर्मी के ग्राहक ज्ञान से उसके कार्यजननस्वभावरूप धर्म का और कार्य के ग्राहक ज्ञान से उसके कारणजन्य स्वभाव का ग्रहण हो सकता है। यह कारण एवं कारणस्वभाव और कार्य एवं कार्यस्वभाव का ग्रहण एक ज्ञान से दो का ग्रहण रूप नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी में भेद न होने से उनके ग्रहण को उभयग्रहण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उपरोक्त प्रतिपादन के अनुसार एक से एक का ही ग्रहण फलित होता है ॥९६॥

९७ वीं कारिका में इस बौद्ध अभिप्राय का परिहार किया गया है—

(धर्मिग्राहक से धर्मग्रह होने में क्षणिकत्व प्रत्यक्ष की आपत्ति)

ग्रन्थकार का कहना है कि कारण और कार्य का उक्त स्वभाव से जो ग्रहण होता है वह इतरेतरग्रहण रूप है, अर्थात् कारण-स्वभावों के ग्रहण मे उस स्वभाव की कुक्षि में प्रविष्ट कार्यज्ञान की और कार्य के उक्त स्वभाव में घटक कारणज्ञान की भी अपेक्षा है। अतः कारणरूप धर्मी मात्र के ज्ञान से तथा कार्यरूप धर्मीमात्र के ग्रहण से उनके स्वभाव का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता। अतः कार्य-कारण भाव के ग्रहण में जो बाधक बताया गया है वह अबाधक नहीं हो सकता उसका बाधकत्व अक्षुण्ण है क्योंकि अध्यक्ष यानी प्रत्यक्ष स्वलक्षणशुद्धवस्तु का ग्राहक होता है। वह वस्तु के

तथाग्रहे च सर्वत्राऽविनाभावग्रहं विना ।
न धूमादिग्रहादेव ह्यनलादिगतिः कथम् ॥९८॥

न च हेतुफलमात्रस्वरूपग्रहाद् हेतुफलभावविकल्प इति साम्प्रतम् अतिप्रसङ्गात्,

इत्याह–सर्वत्र तथाग्रहे च=सर्वत्र धर्मिमात्रग्रहात् तत्स्वभावस्यविकल्पने च, अविनाभावस्य ग्रहो यस्मादित्यविनाभावग्रहः=सहचारादिज्ञानं तद् विना, धूमादिग्रहादेव=धूमादिस्वरूपमात्रग्रहादग्न्यादिव्याप्तिविकल्पनादेव हि=निश्चितम्, अनलादिगतिः=अग्न्याद्यनुमानम् कथं न भवेत्? । 'भवेदेवाभ्यासपाटवादिना क्वचिदि'ति चेत्? अगृहीतसहचारस्य नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि धूमदर्शनमात्रादग्निव्याप्तिविकल्पादग्न्यनुमानं किं न स्यात्? ॥९८॥

याथात्म्य-वस्तु की तद्रूपता में प्रमाण नहीं हो सकता। अन्यथा क्षणिकता भी अध्यक्ष से ही सिद्ध हो जायगी क्योंकि अध्यक्ष क्षणिकत्व के धर्मी स्वलक्षण का ग्रहण करते हुये क्षणिकता का भी ग्रहण कर लेगा। एवं स्वर्ग प्रापक शुभ कर्म का ग्राहक अध्यक्ष उस कर्म में विद्यमान स्वर्ग प्रापण शक्ति का भी ग्राहक हो जायगा। जब कि यह बौद्ध को भी इष्ट नहीं है, क्योंकि वस्तु के क्षणिकत्व और शुभ कर्म के स्वर्ग प्रापणशक्तिमत्त्व को वे भी अनुमेय ही मानते हैं। साथ यह भी ज्ञातव्य है कि धर्मी ग्राहक ज्ञान से धर्म का भी ग्रहण मानने पर बौद्ध के इस सिद्धान्त का व्याघात भी होगा कि अध्यक्ष जिस विषय में गुण धर्म संज्ञा आदि के सम्बन्ध की कल्पनात्मिका=सविकल्प प्रत्यक्षात्मिका बुद्धि को उत्पन्न करता है उस विषय में ही वह प्रमाण होता है क्योंकि धर्मग्राहक अध्यक्ष से यदि धर्मी के परिकल्पित रूप का भी ग्रहण होगा तो परिकल्पित रूप की कल्पनात्मिका बुद्धि का जनक न होने पर भी उस में प्रमाण हो जायगा। अतः उक्त सिद्धान्त का व्याघात स्फुट है ॥९७॥

९८ वीं कारिका में कार्य और कारण के स्वरूप ज्ञानमात्र से कार्य कारणभाव का ज्ञान होता है-इस बौद्ध मत का प्रकारान्तर से भी अनौचित्य बताया गया है।

(नालिकेर द्वीपवासी को धूम से अग्निज्ञान नहीं क्यों ?)

यदि सर्वत्र धर्मीमात्र के ज्ञान से उसके स्वभाव का भी ग्रहण माना जायगा तो अविनाभाव का ज्ञान जिससे होता है उस सहचारादि ज्ञान के न रहने पर भी धूम के मात्र स्वरूपज्ञान से धूम के अग्निव्याप्तिरूप स्वभाव का भी ज्ञान हो जायगा। तो यह प्रश्न हो सकता है कि जिसे धूम-अग्नि का सहचार ज्ञान एवं तन्मूलक अविनाभाव का ज्ञान नहीं है उसे भी धूममात्र ज्ञान से अग्नि का अनुमान क्यों नहीं होता ? उसे भी धूम के ग्राहक ज्ञान से बौद्धमतानुसार उसके अग्निव्याप्तिरूप धर्म का ज्ञान हो ही जाता है। इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त नहीं है कि 'अभ्यास-पटुता आदि से अर्थात् जिसे धूम ज्ञान से वह्नि की अनुमिति करने का अभ्यास हो जाता है और उसे देखते ही वह्नि के ज्ञान करने की पटुता उत्पन्न हो जाती है उसे धूम के स्वरूपज्ञान मात्र से वह्नि का अनुमान होता ही है।' क्योंकि अभ्यासपाटव से भी जहाँ धूम के स्वरूपज्ञान मात्र से वह्नि अनुमान का होना ज्ञात है वहां भी अनुमाता को धूम में वह्नि व्याप्ति का ज्ञान हो कर के ही वह्नि का अनुमान होता है। व्याप्ति ज्ञान के बिना भी अगर उस स्थल में भी धूम स्वरूप के ज्ञान मात्र से वह्नि का अनुमान माना जाय तो यह प्रश्न स्वाभाविक होगा कि नालिकेरद्वीप जहां धूम

अत्रैवाक्षेपं समाधानं चाह—

समनन्तरवैकल्यं तत्रैत्यनुपपत्तिकम् ।
तुल्ययोरपि तद्भावे हन्त ! क्वचिददर्शनात् ॥९९॥

'तत्र=नालिकेरद्वीपवासीधूमादिज्ञानादग्न्याद्यगतिस्थले समनन्तरवैकल्यं स्यात्, एतदप्यनुपपत्तिकं=निर्युक्तिकम् । कुतः ? इत्याह-तुल्ययोरपि=समनन्तरयोः उत्तरं सद्भावे=धूमादिग्रहोत्पादे, हन्त ! ! क्वचित्=अगृहीताऽविनाभावे पुंसि, तददर्शनात्=अनलाद्यननुभवात् ॥९९॥

ननु न समनन्तरत्वमात्रेण समनन्तरतौल्यमपेक्षितम्, किन्तु गृह्यमाणकारणताश्रयकारणविषयत्वेन, इत्यभिप्रेत्य परः शङ्कते—

और अग्नि के सहचारदर्शन का अवसर नहीं होता वहां के मनुष्य को भी [जिसे धूम-अग्नि का सहचार कभी ज्ञात नहीं हुआ है-) द्वीपान्तर में जाने पर धूम के स्वरूप दर्शन मात्र से अग्निव्याप्ति का ज्ञान होकर अग्नि का अनुमान क्यों नहीं होता ! क्योंकि जब धर्मी का ग्राहक धर्म का भी ग्राहक होता है तब उस पुरुष को धूमरूप धर्मी के दर्शन होने पर उसके अग्निव्याप्तिरूप धर्म का भी ज्ञान अवश्य होना चाहिये ॥९८॥

९९ वीं कारिका में उक्त दोष के सम्बन्ध में बौद्ध के आक्षेप का और उसके समाधान का उपवर्णन किया गया है—

समनन्तर वैकल्य का उत्तर अयुक्त है]

उक्त दोष के सम्बन्ध में बौद्ध का यह कहना है कि-'नालिकेर द्वीप के निवासी पुरुष को धूम के ज्ञान से जो अग्नि का अनुमान नहीं होता उसमें समनन्तर वैकल्य कारण है।' उसके कथन का आशय यह है कि उक्त पुरुष का जो धूमज्ञान समनन्तरअग्निज्ञान रूप कारण से उत्पन्न होता है वही धूम में उसके अग्निव्याप्तिरूप धर्म का ग्राहक होने से अग्नि का अनुमापक होता है। उक्त पुरुष के धूम ज्ञान में अग्निज्ञानरूप समनन्तर कारण का वैकल्य है अर्थात् वह अग्निज्ञानरूप समनन्तर कारण से उद्भूत नहीं है अतः उससे धूम में अग्निव्याप्ति रूप धर्म का ज्ञान न होने से उस धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं होता'। इस पर ग्रन्थकार का कहना है कि बौद्ध का यह कहना भी उपपत्तिशून्य यानी निर्युक्तिक है। क्योंकि जहाँ अग्निज्ञान के उत्तरकाल में धूमज्ञान होता है वहाँ समनन्तर अग्निज्ञान का संनिधान रहने पर भी जिस पुरुष को धूम में अग्नि का अविनाभाव ज्ञात नहीं होता उसे धूमज्ञानमात्र से अग्नि का भान नहीं होता । जैसे किसी नालिकेरद्वीपवासी पुरुष को तपे हुए लोहगोलक-अङ्गार आदि में या समुद्र में धूम के बिना केवल अग्नि का दर्शन हुआ और उसके बाद धूम का दर्शन हुआ, उसका धूमदर्शन समनन्तर अग्निज्ञान पूर्वक है, फिर भी उसे धूम में वह्निव्याप्तिग्रह न होने के कारण धूम के स्वरूपदर्शन मात्र से अग्नि का अनुमान नहीं होता। अतः पूर्वोक्त दोष के सम्बन्ध में बौद्ध का उक्त आक्षेप अयुक्त है ॥९९॥

१०० वीं कारिका में उक्त समाधान के सम्बन्ध में बौद्ध का एक अन्य अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है। उसका कहना है कि दो समनन्तर प्रत्यय में मात्र समनन्तरत्व की तुल्यता का कोई

न तयोस्तुल्यतैकस्य यस्मात्कारणकारणम् ।
ओघात्तद्धेतुविषयं न त्वेवमितरस्य तु ॥१००॥

न तयोः=गृहिताविनाभावनालिकेरद्वीपवासिसमनन्तरयोः तुल्यता, यस्मादेकस्य गृहीताविनाभावस्य कारणकारणं=धूमज्ञानोपादानम् ❀ ओघात्=सामान्यतः, तथाविकल्पानुपरागेणेति यावत्, तद्धेतुविषयं=गृह्यमाणधूमहेत्वग्निविषयम्, न तु एवम्=उक्तवत्, इतरस्य तु=नालिकेरद्वीपवासिनस्तु, तेन सदा तदग्रहणात् ॥१००॥ अत्रोत्तरम्—

यः केवलानलग्राहिज्ञानकारणकारणः ।
सोऽप्येवं न च तद्धेतोस्तज्ज्ञानादपि तद्गतिः ॥१०१॥

यः=क्वचिद् नालिकेरद्वीपवासिप्रत्ययः, केवलानलग्राहिज्ञानकारणकारणः=दैवाद्योगोलकाङ्गारादिज्ञानसमुत्थः, सोऽपि एवं=गृह्यमाणधूमहेत्वग्निगोचरसमनन्तराऽविकलः। न च

महत्त्व नहीं है किन्तु ज्ञायमान धूम की कारणता के आश्रयभूत अग्निरूप कारण की विषयता से समनन्तर प्रत्यय की महत्ता है जो नालिकेर द्वीपवासी के धूमज्ञा' में नहीं है—शंका:-

(समनन्तर प्रत्यय होने पर भी एक कारण, दूसरा नहीं)

बौद्ध का कहना यह है कि जिस नालिकेर द्वीपवासी पुरुष को पूर्व में धूमज्ञान कभी नहीं है उस पुरुष को धूमज्ञान के पूर्व जो अग्निज्ञान होता है वह अग्निज्ञान, और जिस व्यक्ति को धूम एवं अग्नि का अविनाभाव पूर्व में गृहीत हो चुका है उस व्यक्ति को जो धूमज्ञान से पूर्व अग्निज्ञान होता है वह अग्निज्ञान, ये दोनों ही अग्निज्ञान यद्यपि धूम ज्ञान के समनन्तर पूर्व है फिर भी उनमें तुल्यता नहीं है, क्योंकि पूर्व व्यक्ति का अग्निज्ञान ज्ञायमान धूम की कारणता के आश्रयभूत अग्नि को विषय नहीं करता है और दूसरे व्यक्ति का अग्निज्ञान, अग्नि के अनुमान रूप कार्य के कारणभूत धूमज्ञानरूप कार्य का कारणभूत है, क्योंकि वह सामान्य रूप से अर्थात् धूमहेतुत्व को विषय न कर के भी दृश्यमान धूम के वस्तुगत्या हेतुभूत अग्नि को विषय करता है। किन्तु इतरव्यक्ति-नालिकेर द्वीपवासी का उक्त अग्निज्ञान दृश्यमान धूम के हेतुभूत अग्नि को विषय नहीं करता, क्योंकि उस व्यक्ति को धूम और अग्नि उससे पूर्व सदा अज्ञात रहे हैं। अतः इसके अग्निज्ञान को धूमहेतुभूत अग्निविषयक नहीं कहा जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि धूम के कारण अग्नि को विषय करने वाले समनन्तर ज्ञान के उत्तर काल में उत्पन्न होने वाला धूमज्ञान ही धर्म ग्राहक विधया धूम के अग्निव्याप्तिरूप धर्म का ग्रहण कर अग्नि का अनुमापक होता है। नारिकेल द्वीपवासी को धूमज्ञान के पूर्व में उत्पन्न भी अग्निज्ञान धूमजनक अग्नि को विषय न करने से उसका धूमज्ञान धूमजनक अग्निविषयक समनन्तर ज्ञानपूर्वक नहीं हुआ है। अतः उस धूम ज्ञान से अग्निव्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण उससे अग्नि के अनुमान की आपत्ति नहीं हो सकती ॥१००॥

१०१ वीं कारिका में बौद्ध के उक्त अभिप्राय का निराकरण किया गया है-

❀ 'नज्ञाने ओ' इति प्रत्यन्तरे।

तद्धेतोरप्येवं=निमित्तसमनन्तरहेतोरपि तज्ज्ञानात्=नालिकेरद्वीपवासिधूमज्ञानात् , तद्गतिः= अनलादिगतिः, तथा च व्यभिचार एवेति भावः ॥१०१॥ परः समाधानान्तरमाह-

तज्ज्ञानं यन्न वै धूमज्ञानस्य समनन्तरः ।
तथाभूदित्यतो नेह तज्ज्ञानादपि तद्गतिः ॥१०२॥

तज्ज्ञानम्=अग्निज्ञानम् , यद्=यस्मात् , वै=निश्चितम्, धूमज्ञानस्य समनन्तरः= उपादानहेतुः, न तथाऽभूत् , इत्यतो हेतोः इह=नालिकेरद्वीपवासिनि, तज्ज्ञानादपि=दैवा-दग्निविषयकज्ञानोत्थधूमज्ञानादपि, न तद्गतिः=नाऽनलादिगतिः, तथा चाग्निज्ञानत्वेनाग्नि-गमकत्वात् न दोष इतिभावः ॥१०२॥ अत्रोत्तरम्-

तथेति हन्त ? को न्वर्थस्तत्तथाभावतो यदि ।
इतरश्चैकमेवेत्थं ज्ञानं तद्ग्राहि भाव्यताम् ॥१०३॥

'न तथाऽभूत्' इत्यत्र 'तथा' इति हन्त ! को न्वर्थः ? वाक्यार्थमविचार्यैव वाक्यं प्रयुञ्जानस्य महदनौचित्यमिति 'हन्त' इत्यनेन सूच्यते। यदि तत्तथाभावतः=तस्यैवाऽ-ग्निज्ञानस्यैव तथाभावतो=धूमज्ञानभावेन परिणामो नाभूदिति नाग्न्यादिगतिरित्यभिमतम् ,

[नालिकेरद्वीपवासी का समनन्तर प्रत्यय भी अन्य के समान ही है]

नारिकेलद्विपवासी को धूमज्ञान के पूर्व जो केवल अग्निस्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है जैसे अयोगोलकीय अग्नि का या अंगार-अग्नि का अथवा सामुद्रिक-वडवानल का ज्ञान उत्पन्न होता है, तज्ज्ञानरूपकारणकारणक अर्थात् दैववश तज्ज्ञानरूप कारण से उत्पन्न होनेवाला धूमज्ञान भी दृश्यमान धूम के हेतुभूत अग्नि को विषय करनेवाले समनन्तर ज्ञान से विकल नहीं होता किन्तु उससे संनिहित ही होता है। आशय यह है कि नारिकेल द्वीपवासी का धूमज्ञान से पूर्व होने वाला अग्निज्ञान भी धूम के हेतुभूत अग्नि को ही विषय करता है भले उस व्यक्ति को अग्नि में धूमहेतुता का ज्ञान न हो-किन्तु इतने मात्र से उसे ज्ञायमान अग्नि धूम का कारण नहीं है-यह नहीं कहा जा सकता, अत एव उसका अग्निज्ञान भी धूमकारणअग्निविषयक ही है। तो इस प्रकार अग्नि-ज्ञानरूप समनन्तर निमित्त हेतुक भी जो नारिकेल द्वीपवासी पुरुष का धूमज्ञान है उससे भी अग्नि का अनुमान नहीं होता। इसलिये बौद्ध कथित धूमहेतुअग्निज्ञानरूप समनन्तर कारण पूर्वक जो धूमज्ञान होता है वह अग्नि के अनुमान का हेतु है-' इस कार्य कारणभाव में व्यभिचार अनिवार्य है ॥१०१॥

१०२ कारिका में उक्त व्यभिचार का बौद्धाभिमत समाधान प्रस्तुत किया गया है-

नारिकेल द्वीपवासी पुरुष का अग्निज्ञान धूमज्ञान का समनन्तर होते हुये भी तथा (=उपादान कारणात्मक) समनन्तर नहीं है इसलिये उस पुरुष का धूमज्ञान यद्यपि दैववश अग्नि विषयक ज्ञान से उत्पन्न है तो भी उससे अग्नि का अनुमान नहीं होता, क्योंकि अग्नि ज्ञानरूप समनन्तर उपादानपूर्वक धूमज्ञान ही अग्नि के अनुमान का जनक होता है। अतः व्यभिचार रूप दोष नहीं हो सकता ॥१०२॥

१०३ वीं कारिका में बौद्ध के उक्त समाधान का उत्तर दिया गया है-

तदा भवत्विदं समाधानम् । परमिन्नत्र=अविनाभावग्रहस्थले, इत्थम्=उक्तप्रकारेण एकमेव ज्ञानं एकाकारपरित्यागान्याकारोपादानेन तद्ग्राहि=धूमानलग्राहि, भाव्यतां=विमृश्यताम् ॥

पक्षान्तरनिरासेनाधिकृतमेव समर्थयन्नाह -

तदभावेऽन्यथा भावस्तस्य सोऽस्यापि विद्यते ।
अनन्तरचिरातीत तत्पुनर्वस्तुतः समम् ॥१०४॥

अन्यथा=तत्तथाभावेन विशेषानभ्युपगमे, तदभावे=अग्निज्ञानाभावे, तस्य=धूमज्ञानस्य भावः=उत्पादः अभ्युपगतो भवति, गत्यन्तराभावात् । न चैवं विशेष इत्याह सः

(बौद्ध मत में परिणामवाद की आपत्ति)

ग्रन्थकार का कहना है कि नारिकेल द्वीपवासी का धूमज्ञान से पूर्व होनेवाला अग्निज्ञान तथा समनन्तर नहीं है-बौद्ध के इस कथन के सम्बन्ध में यह कहते हुये खेद होता है कि बौद्ध को अपने कथन के तथा शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं है । और वाक्यार्थ को बिना समझे वाक्य का प्रयोग करना अत्यन्त अनुचित होता है । यदि बौद्ध की ओर से तथा न होने का अर्थ 'अग्नि ज्ञान का धूमज्ञानरूप में परिणत न होना' किया जाय, अर्थात् बौद्ध की ओर से यह आशय व्यक्त किया जाय कि नारिकेल द्वीपवासी का धूमज्ञान अग्निज्ञान के परिणामरूप में नहीं उत्पन्न होता और जो धूमज्ञान अग्निज्ञान के परिणाम रूप में उत्पन्न होता है वही अग्निज्ञान रूप समनन्तरोपादान पूर्वक होता है और वही अग्नि का अनुमापक होता है तो यह समाधान कथञ्चित् शक्य होने पर भी बौद्ध के लिये अनुकूल नहीं हो सकता क्योंकि नारिकेलद्वीपवासी के धूमज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रकार का प्रतिपादन करने पर जिस पुरुष को धूम-अग्नि का अविनाभाव ज्ञात है उस पुरुष के धूमज्ञान के सम्बन्ध में बौद्ध को यह कहना होगा कि वह धूमज्ञान अग्नि ज्ञान का परिणामरूप है और इस कथन पर विचार करने पर यही निष्कर्ष स्वीकार करना होगा कि एक ही ज्ञान पूर्व आकार का परित्याग कर अन्य आकार को ग्रहण करके धूम और अग्नि का ग्राहक होता है । यदि नारिकेल द्वीपवासी के धूमज्ञान और अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान का उक्त विभिन्नरूप से प्रतिपादन नहीं किया जायगा तो दोनों में वैलक्षण्य सिद्ध न होने से एक से अग्नि के अनुमान का उदय न होने का और दूसरे से अग्नि के अनुमान के उदय होने का समर्थन नहीं किया जा सकेगा ॥१०३॥

१०४ वीं कारिका में उक्त उत्तर के सम्बन्ध में बौद्ध के एक और समाधानात्मक पक्ष का निरास करते हुये उस के विरुद्ध विचार्यमाण पक्ष का समर्थन किया गया है-

[अग्निज्ञान के अभाव में धूमज्ञान-उद्भव तुल्य है]

बौद्ध की ओर से उक्त उत्तर के प्रतिवाद में यदि यह पक्ष प्रस्तुत किया जाय कि 'अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान अग्निज्ञान का परिणाम नहीं होते हुये भी अग्निज्ञानोपादानक है और नारिकेल द्वीपवासी का धूमज्ञान अग्निज्ञानोपादानक नहीं है'-तो यह पक्ष भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान को अग्नि ज्ञान उपादानक न कहने का अर्थ यह होगा कि वह धूमज्ञान अग्निज्ञान के अभाव में उत्पन्न होता है । क्योंकि उस कथन की इस निष्कर्ष से अतिरिक्त कोई गति नहीं है । अब ऐसा मानने पर नारिकेलद्वीपवासी के धूमज्ञान और अविनाभावग्रहस्थलीयधूमज्ञान

तदभावे भावः, अस्यापि=नालिकेरद्वीपवासिधूमज्ञानस्य विद्यते, तत्काले यथोक्ताग्निज्ञानाभावादानन्तर्याद् विशेषः स्यादित्यत आह–अनन्तरचिरातीतं तत्पुनरग्निज्ञानम्, वस्तुतः=परमार्थतः तदानीमसत्त्वात् समम् अनुपयोगाऽविशेषात्, हेतुसत्त्वस्यैव कार्ये उपयोगात्। वस्तुतो नाग्निज्ञानजधूमज्ञानत्वेनाग्निगमकत्वम्, अनग्निज्ञानादपि धूमं ज्ञात्वा मानसाध्यक्षेण ऊहाख्यप्रमाणेन वा व्याप्तिग्रहेऽग्निज्ञानोदयात्, अग्निज्ञानकुर्वद्रूपत्वं च न धूमज्ञानहेतुतायां पक्षपाति, पिशाचस्यापि तथाहेतुत्वसंभवादिति न किञ्चिदेतत् ॥१०४॥

में कोई वैलक्षण्य न हो सकेगा, क्योंकि अग्निज्ञान के अभाव में उत्पन्न होना दोनों धूमज्ञानों में समान है।

यदि यह कहा जाय कि-'अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान से नारिकेल द्वीपवासी पुरुष का धूमज्ञान विलक्षण इसलिए है, कि उसमें अग्निज्ञानाभाव का आनन्तर्य होने से वह अग्निज्ञान-हेतुक नहीं है और अविनाभावग्रह स्थलीय धूमज्ञान में अग्नि का आनन्तर्य होने से वह अग्निज्ञान हेतुक है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान के पूर्व भी अग्निज्ञानाभाव ही रहता है। अतः अग्निज्ञान की अनुपयुक्तता दोनों धूमज्ञान में समान है, क्योंकि हेतु की सत्ता ही कार्य में उपयोगी होती है अतः जब अग्निज्ञान अतीत हो चुका है तब वह भी धूमज्ञान के प्रति अनुपयुक्त ही है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अविनाभावग्रहस्थलीय धूमज्ञान अग्निज्ञान हेतुक है और नारिकेल द्वीपवासी का धूमज्ञान अग्निज्ञानहेतुक नहीं है।

सत्य तो यह कि अग्नि के अनुमान के प्रति अग्निज्ञानजन्य धूमज्ञान कारण ही नहीं होता, क्योंकि अग्निज्ञान न रहने पर भी धूमज्ञान होकर मानस प्रत्यक्ष से अथवा ऊह प्रमाण से धूम में वह्निव्याप्ति का ज्ञान होकर अग्नि के अनुमान का उदय होता है। इससे स्पष्ट है कि धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान जो धूमज्ञान जन्य वह्नि के अनुमान का बीज है वह धूमरूप धर्मी के ग्राहक से नहीं होता किन्तु धूमज्ञान हो जाने के बाद दूसरे ज्ञान अर्थात् मानसप्रत्यक्ष अथवा ऊह नामक प्रमाण से होता है। अत एव नारिकेलद्वीपवासी को मानसप्रत्यक्ष या ऊह प्रमाण से धूम में वह्नि का व्याप्तिग्रह न हो सकने के कारण धूमज्ञान से वह्नि का अनुमान नहीं होता है।

[अग्निज्ञानकुर्वद्रूपत्व पिशाच में भी हो सकता है]

बौद्ध पुनः नारिकेल द्विपवासी में धूमज्ञान और उस पुरुष के अग्निज्ञानको जिसे धूम वह्नि का सहचार-अविनाभाव का ज्ञान पूर्व में हो चुका है उसका धूमज्ञान में इस प्रकार वैलक्षण्य बतावे कि पूर्व पुरुष के धूमज्ञान में अग्निज्ञानकुर्वद्रूपत्व नहीं होता है और द्वितीयपुरुष के धूमज्ञान में अग्निज्ञान-कुर्वद्रूपत्व होता है इसलिये पूर्व पुरुष के धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं होता और द्वितीय पुरुष के धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है क्योंकि धूमज्ञान कुर्वद्रूपत्वेन अग्नि का अनुमान का जनक होता है-तो इस प्रकार भी धूमज्ञान का विशेषीकरण युक्तिसंगत नहीं हो सकता क्योंकि धूमज्ञान के प्रति अग्निज्ञान कुर्वद्रूपत्व के पक्षपात का कोई कारण नहीं है कि जिससे वह धूमज्ञान में ही रह कर उसी में अग्नि अनुमापकता का उपपादन करें। क्योंकि तब तो यह कहने में भी कोई बाधा नहीं दीखती कि अग्नि का अनुमान धूमज्ञान से नहीं अपितु अग्निज्ञानकुर्वद्रूपत्व विशिष्ट पिशाच से होता है।

एतेनैतद् निरस्तमित्याह--

अग्निज्ञानजमेतेन धूमज्ञानं स्वभावतः ।
तथाविकल्पकृन्नान्यदिति प्रत्युक्तमिष्यताम् ॥१०५॥

एतेन=परमते तत्स्वभावत्वापरिज्ञानप्रतिपादनेन, अग्निज्ञानजं धूमज्ञानं **तथाविकल्पकृत्**='अग्निजन्योऽयं धूमः' इति विकल्पहेतुः, **नान्यत्**, इति **प्रत्युक्तं**=निरस्तम्, **इष्यताम्**=अङ्गीक्रियताम् ॥१०५॥ प्रस्तुतं निगमयति–

अतः कथंचिदेकेन तयोरग्रहणे सति ।
तथा प्रतीतितो न्याय्यं न तथाभावकल्पनम् ॥१०६॥

अतः=उक्तयुक्तेः, **कथञ्चित्**=अन्वयाऽविच्छेदात्, **एकेन**=ग्राहकेण, **तयोः**=हेतु-फलयोः अग्रहणे सति, **तथाप्रतीतितः**=तदितरार्थविकल्पेनाऽप्रतीतेः, **तथाभावकल्पनं**=प्रक्रमाद् हेतु-फलयोस्तज्जननस्वभावत्वादिकल्पनं, न युक्तम् ॥१०६॥

पूर्व पुरुष को अग्निज्ञान कुर्वद्रूपत्व विशिष्ट पिशाच का सहयोग नहीं प्राप्त है अतएव उसे अग्नि का अनुमान नहीं होता और द्वितीय पुरुष को अग्निज्ञान कुर्वद्रूपत्वविशिष्टपिशाच का सहयोग प्राप्त है इसलिये उसको अग्नि का अनुमान होता है। फलतः धूमज्ञान में अग्नि की अनुमापकता का ही लोप हो जायगा। अतः बौद्ध का यह प्रयास भी अकिञ्चित्कर है ॥१०४॥

१०५ वीं कारिका में धर्मी के ग्राहक से ही धर्म का ज्ञान होता है इस बौद्ध मत का प्रतिकार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[धूमनिष्ठाग्निजन्यता के निश्चय में केवलधूमज्ञानहेतुता असंगत]

बौद्ध मत में एक ज्ञान से कार्य-कारण दोनों का ग्रहण न हो सकने के कारण, कारण में कार्य-जन्य स्वभाव का और कार्य में कारणजन्य स्वभाव का ज्ञान नहीं हो सकता–इस तथ्य का पर्याप्त प्रतिपादन किया गया। अतः 'अग्निज्ञानजन्य धूमज्ञान ही धूम में अग्निजन्यता के निश्चय का हेतु है' इस निश्चय के लिये 'धूमज्ञान से अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं है।' यह बौद्ध कथन निरस्त हो जाता है और इस पराजय को बौद्ध को भी अवश्य स्वीकार करना होगा क्योंकि अग्निज्ञान और धूमज्ञान एवं अग्नि और धूम इन दोनों का जब किसी एकज्ञान से ग्रहण नहीं हो सकता तो न धूमज्ञान में अग्निज्ञानजन्यत्व का निश्चय हो सकता और न धूम में अग्निजन्यत्व का ही निश्चय हो सकता। तथा इसीप्रकार अग्निज्ञानजन्य धूमज्ञान और 'अग्निजन्य धूम' यह ज्ञान ये दोनों भी एक ज्ञान से विदित नहीं हो सकते। अतः 'अग्निजन्य यह धूम'-यह निश्चय 'अग्निज्ञान जन्यधूमज्ञान' इस निश्चय से उत्पन्न होता है ऐसा निश्चय भी नहीं हो सकता ॥१०५॥

१०६ वीं कारिका में उक्त विषय का ही निगमन-उपसंहार किया गया है। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

एवं चाभ्युपगमक्षतिरित्याह--

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां हन्तैवं साध्यते कथम् ? ।
कार्यकारणता तस्मात्तद्भावादेरनिश्चयात् ॥१०७॥

'हन्त' इति खेदे, एवं=तत्तत्क्षणानवस्थितौ प्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्यां कार्यकारणता कथं साध्यते ? कुतः ? इत्याह-तस्मात् तद्भावादेः=तदन्वयानुकृतान्वयप्रतियोगित्वादेः, अनिश्चयात्=अनुपलम्भात् , आदिना तद्व्यतिरेकानुकृतव्यतिरेकप्रतियोगित्वग्रहः ॥१०७॥

उक्त युक्ति से अर्थात् कार्यकारण और उन का ग्राहक इन तीनों का [क्षणिक होने से बौद्ध मत में] एककाल में अवस्थान नहीं होता । अतः कार्य में कारण का और कार्य के ग्राहक में कारण के ग्राहक का अविच्छेद न स्वीकार करने पर एक ग्राहक से कार्य और कारण का ग्रहण नहीं हो सकता । अत: कारण को कार्यावधिकत्व रूपसे और कार्य की कारणावधिकत्व रूप से प्रतीति नहीं हो सकती । एवं 'कारण कार्य की पूर्वावधि है और कार्य कारण को उत्तरावधि है' यह ज्ञान हुए बिना हेतु में कार्य-जनन स्वभाव और कार्य में कारण-जन्यत्व स्वभाव का निश्चय मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥१०६॥

१०७ वीं कारिका में 'प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से कार्यकारणभाव का ग्रहण होता है' इस बौद्ध के अभ्युपगम में क्षति बताई गई है । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—

[कारणताग्राहक प्रत्यक्ष-अनुपलम्भ की अनुपपत्ति]

बौद्धमत में कार्य कारण का कोई एक ग्राहक से ग्रहण न हो सकने से खेद होता है कि उनकी इस मान्यता का भी समर्थन नहीं हो सकता कि कार्यकारणभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होता है । क्योंकि बौद्धमत में कार्यकारण भाव जानने के लिये अपेक्षित प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ उपपन्न ही नहीं हो सकता । क्योंकि, कारण की सत्ता होने पर कार्य की सत्ता के निश्चय को ही कार्य कारण-भाव ग्राहक प्रत्यक्ष कहा जाता है । तथा 'कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना' इस निश्चय को अनुपलम्भ कहा जाता है । ये दोनों ही निश्चय एक ग्राहकज्ञान से कार्य-कारण उभय का ग्रह संभवित न होने से दुर्घट है । व्याख्याकार ने कारिका में आये 'तस्माद् तद्भाव' की व्याख्या की है 'तदन्वयानुकृत अन्वय प्रतियोगित्व' इसका अर्थ है तदन्वय यानी कारण का अन्वय जिस के अन्वय से अनुकृत होता हो उस अन्वय का प्रतियोगित्व । जैसे मृत्तिका का अन्वय घट के अन्वय से अनुकृत होता है अत: घट का अन्वय मृत्तिका के अन्वय का अनुकर्ता हुआ और घट में उस अन्वय का प्रतियोगित्व है । कारिका में 'तद्भाव' शब्द के उत्तर में पठित 'आदि' शब्द से व्याख्याकार ने 'तद्व्यतिरेकानुकृत व्यतिरेक प्रतियोगित्व' का ग्रहण किया है । उस का अर्थ है–तद्व्यतिरेक यानी कारणाभाव जिस के व्यतिरेक यानी अभाव से अनुकृत हो उस अनुकर्ता व्यतिरेक का प्रतियोगित्व, जैसे मृत्तिका का व्यतिरेक घट के व्यतिरेक से अनुकृत होता है । घट में उस अनुकर्ता व्यतिरेक का प्रतियोगित्व है ॥१०७॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

न पूर्वमुत्तरं चेह तदन्याऽग्रहणाद् ध्रुवम् ।
गृह्यतेऽत इदं नातो नन्वतीन्द्रियदर्शनम् ॥१०८॥

इह=परदर्शने, पूर्वं=कारणताश्रयः, उत्तरं च=तत्प्रतियोगि न गृह्यते, ध्रुवं=निश्चितम्, तदन्याऽग्रहणात्=अधिकृतदर्शनवेलायामन्याऽदर्शनात् । ततः अत इदम्=अग्न्यादेर्धूमादि—इत्यन्वयज्ञानम्, नातः=जलादेः इदम्=अग्न्यादि-इति व्यतिरेकज्ञानम्, ननु अक्षमायाम्, अतीन्द्रियदर्शनम्=इन्द्रियातीतम् पूर्वं प्रत्यक्षम् ! न चान्वय-व्यतिरेकाऽग्रहादेव कारणताग्रहः, कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपकारणतायां तयोर्घटकत्वात्, घट्यग्रहस्य च घटकग्रहाधीनत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वरूपतद्ग्रहेऽपि सहचारग्रहत्वेन अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां वा तद्ग्रहहेतुत्वावश्यकत्वात् । न च शक्तिरूपकारणतापि धर्मिग्रहमात्रात् सुग्रहा, तस्या अनुमेयत्वादिति दिग् ॥१०८॥

[पूर्वोत्तर ग्रहण का असंभव]

१०८ वीं कारिका में उपर्युक्त विषय को ही स्पष्ट किया गया है—

कारिका-अर्थ इस प्रकार है-बौद्ध मत में पूर्व यानी कारण और उत्तर यानी कारणप्रतियोगी अर्थात् कार्य एक ग्राहक से गृहित नहीं होते यह निश्चित है, क्योंकि एक के ग्रहणकाल में अन्य का ग्राहक नहीं रहता, जैसे कार्य के दर्शन काल में कारण का और कारण के दर्शनकाल में कार्य का दर्शन नहीं रहता । इसलिये अग्नि के रहने पर धूम होता है यह अन्वयज्ञान, और अग्निभिन्न जलादि के रहने पर अर्थात् अग्नि न रहने पर धूम नहीं होता है यह व्यतिरेकज्ञान नहीं हो सकता । यदि एक ग्राहक से अग्नि और धूम का ज्ञान न होने पर भी ऐसा प्रत्यक्ष माना जायगा तो यह असम्भव होगा, क्योंकि यह प्रत्यक्ष एक इन्द्रियातीत अपूर्व प्रत्यक्ष होगा । अर्थात् बौद्धमत में प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियसापेक्ष ही होता है और यह प्रत्यक्ष इन्द्रिय निरपेक्ष होगा क्योंकि धूमप्रत्यक्षकाल में अग्नि के न होने से उस काल में अग्नि का प्रत्यक्ष इन्द्रियनिरपेक्ष ही होगा । क्योंकि उस समय अग्नि विद्यमान न होने से उस में इन्द्रिय व्यापार संभव नहीं हो सकता ।

इस संदर्भ में बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'कारणता का ज्ञान इस अन्वय-व्यतिरेक के ज्ञान के बिना ही होता है, अतः अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान सम्भव न होने पर कोई आपत्ति नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि कारणता कार्य द्वारा अनुकृत अन्वय व्यतिरेक का प्रतियोगित्व रूप है । अत एव इस के शरीर में कार्य और कारण दोनों ही घटक है । और कारणता उन दोनों से 'घट्यते यः स घट्यः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार घटित है, और घटित का ज्ञान घटक के ज्ञान के अधीन होता है । इस पर बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'कारणता उक्त प्रतियोगित्वरूप नहीं है किन्तु अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्तित्व रूप है । अर्थात् कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध न होना और कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में कार्याधिकरण में नियम से रहना ही कारणता है और इस में कार्यनिरूपित

एवं च विकल्पोऽपि न घटत इत्याह—

विकल्पोऽपि तथान्यायाद्युज्यते न ह्यनीदृशः ।
तत्संस्कारप्रसूतत्वात्क्षणिकत्वाच्च सर्वथा ॥१०९॥

विकल्पोऽपि=निश्चयोऽपि, **तथान्यायात्**=उक्तन्यायात् , **तत्संस्कारप्रसूतत्वात्**-पूर्वोत्तरसंवित्संस्कारजत्वात् , **सर्वथा क्षणिकत्वाच्च**=अन्वया(?य)विच्छेदेन क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च, **अनीदृशः**=असंसृष्टविप्रतिषेधः, **न हि**=नैव युज्यते । न हि पूर्वानुभूतसंस्कारं विना स्मरणात्मा निश्चयः । न च क्षणभंगे प्राच्यसंस्कारावस्थानमिति ॥१०९॥ उपसंहरन्नाह—

अन्यथासिद्धिशून्यत्व की प्रतियोगी कुक्षि में कार्य आता है । अभावज्ञान के लिये प्रतियोगी का प्रत्यक्ष ज्ञान अपेक्षित नहीं होता । अतः कार्य के न रहने पर भी कार्य का स्मरणात्मक ज्ञान होकर कारण में कार्यनिरूपित अन्यथासिद्धिशून्यत्व का ज्ञान हो सकता है । इसी प्रकार कार्यनियतपूर्ववर्तित्व कार्यव्यापकत्वरूप है और कार्यव्यापकत्व कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षण में कार्याधिकरणवृत्ति-अभाव-प्रतियोगित्वाभावरूप है । इसलिये इस को भी प्रतियोगिकुक्षी में कार्य का प्रवेश है । अतः इस के ज्ञान के लिये भी कार्यप्रत्यक्ष की आवश्यकता न होने से कार्य की विद्यमानता अपेक्षित नहीं है । अतः कारण-दर्शनकाल में कार्य एवं 'कार्य का प्रत्यक्ष' न होने पर भी इस कारणता के ज्ञान में भी कार्य-कारण के अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान कारण होता है और ये दोनों ही ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होने से कार्य-कारण दोनों की सहसत्ता की अपेक्षा रखते हैं । यदि इस पर भी बौद्ध यह कहें कि-'कारणता शक्तिरूप है अतः उस के स्वरूप में कार्य-कारण किसी का प्रवेश नहीं है । अत एव उस के ग्रहण में कार्य-कारण का प्रत्यक्ष अथवा कार्य-कारण की विद्यमानता अपेक्षित नहीं है, अतः कारण के स्वरूपमात्रग्राहक ज्ञान से उस का ग्रहण हो सकता है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि शक्तिरूप कारणता अनुमेय होती है । अतः इस पक्ष में 'कारणता का ग्रह प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होता है' इस बौद्धमान्यता की क्षति अनिवार्य है ॥१०८॥

१०९ वीं कारिका में विशिष्ट निश्चय की दुर्घटता बताई गई है—

[अन्वय के अभाव में विकल्प की अनुपपत्ति]

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-भावमात्र की क्षणिकता के पक्ष में बौद्ध संमत विकल्प=विशिष्टनिश्चय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि बौद्धमत में विशिष्टनिश्चय की प्रक्रिया इस प्रकार है कि सर्वप्रथम वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है । वह प्रत्यक्ष वस्तु के स्वरूपमात्र को ग्रहण करता है । उस में, वस्तु में गुण-जाति नाम आदि का भान नहीं होता है । उस के बाद उस निर्विकल्प से गृहीत वस्तु में गुण-जाति-नाम आदि के सम्बन्ध का कल्पनात्मक विशिष्ट ज्ञान होता है । यह ज्ञान तब ही होता है जब उस वस्तु के गुण-जाति-नाम आदि पूर्वानुभवजन्य संस्कार रहता है, क्योंकि जिस पुरुष को यह संस्कार नहीं होता उसे वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होकर ही रह जाता है किन्तु इसके बाद उसका सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता है । कारण यह कि यह विशिष्ट निश्चय पूर्व संवित्=पूर्वानुभव और उत्तरसंस्कार=उस अनुभव के उत्तर में उस अनुभव से उत्पन्न संस्कार, इन दो कारणों से उत्पन्न-

नेत्थं बोधान्वयाभावे घटते तद्विनिश्चयः ।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैतच्चिन्त्यतां स्वयमेव तु ॥११०॥

इत्थम्=उक्तप्रकारेण, बोधान्वयाभावे सति तद्विनिश्चयः=तत्तथास्वाभाव्यविनिश्चयः, न घटते । एतत्=उक्तम् माध्यस्थ्यमवलम्ब्य स्वयमेव तु चिन्त्यताम्, नानाकारानुविद्धस्यैकोपयोगस्यानुभूतेरन्यथानुपपत्तेः ॥११०॥ परः शंकते—

अग्न्यादिज्ञानमेवेह न धूमज्ञानतां यतः ।
व्रजत्याकारभेदेन कुतो बोधान्वयस्ततः ? ॥१११॥

इह=तत्तथाभावग्रहस्थले अग्न्यादिज्ञानमेवाकारभेदेन धूमज्ञानतां यतो न व्रजति, अन्यथा नीलपीतज्ञानयोरप्यैक्यप्रसङ्गात्, तत् कुतो बोधान्वयः ? इति ॥१११॥ अत्रोत्तरम्—

होता है और विषय-अनुभव-संस्कार यह सभी पदार्थ अन्वय-विच्छेद पूर्वक क्षणिक होते हैं । अर्थात् भाव के उत्पत्ति क्षण के बाद भाव का किसी भी रूप में अन्वय नहीं होता है । अतः बौद्ध मत में विकल्प का ऐसा समर्थन नहीं हो सकता कि जिसे विप्रतिषेध का संपर्क न हो अर्थात् जो प्रत्याख्यात न हो सके । क्योंकि स्पष्ट है कि पूर्वानुभवाधीन संस्कार के बिना स्मरणात्मक निश्चय नहीं हो सकता जो गुण-जाति-नाम आदि के स्मरण रूप में सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित है और क्षणभङ्गवाद में पूर्वानुभवजन्य संस्कार स्मरणात्मक निश्चय के उत्पत्तिपर्यन्त अवस्थित न होने से उस का जनक नहीं हो सकता ॥१०९॥

(बोधान्वय न होने पर जन्य–जनक भाव की अनुपपत्ति)

११० वीं कारिका में प्रस्तुत विचार का उपसंहार किया गया है । अर्थ इस प्रकार है-ग्रन्थकार का कहना है कि बौद्ध को तटस्थ होकर इस बात का स्वयं चिन्तन करना चाहिये कि भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष में जब उत्तरज्ञान में पूर्व ज्ञान का बोधरूप में अन्वय नहीं हो सकता तब उत्तर ज्ञान में पूर्वज्ञानजन्यस्वभावता का और पूर्वज्ञान में उत्तरज्ञान जनक स्वभावता का निश्चय कथमपि नहीं हो सकता क्योंकि उक्त स्वभाव पूर्वज्ञान और उत्तरज्ञान से घटित है, अतः उक्त स्वभावज्ञान उन दोनों के सह ज्ञान होने पर ही हो सकता है और वह उक्त ज्ञानों में किसी भी प्रकार का अन्वय न होने से संभव नहीं है । व्याख्याकार ने इस वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि अनेक आकारों से अनुविद्ध एक उपयोग का अनुभव होता है । जैसे 'अहमग्निं जानामि' इस प्रकार अग्निज्ञान के अनुभव के बाद 'धूममहं जानामि' इस प्रकार धूमज्ञान का अनुभव होता है । इन दोनों अनुभवों में ज्ञानांश में समानता प्रतीत होती है । यह समानता तभी हो सकती है जब दोनों ज्ञान किसी एक बोध की ही विभिन्न अवस्थाएँ हो । ऐसा माने बिना दोनों में अत्यन्त भेद होने के नाते दोनों में समानता की प्रतीति का कोई आधार न होने से उस प्रतीति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥११०॥

१११ वीं कारिका में 'क्रमिक ज्ञानों में एक बोध की अनुगति होती है' इस विषय में बौद्ध की शंका प्रस्तुत की गई है—

तदाकारपरित्यागात्तस्याकारान्तरस्थितिः ।
बोधान्वयः प्रदार्घैकाध्यवसायप्रवर्त्तकः ॥११२॥

तदाकारपरित्यागात्=अग्न्याद्याकारतिरोभावात् तस्य=बोधस्य आकारान्तरस्थितिः=धूमाद्याकारेणाविर्भावः बोधान्वयः सर्वथाऽसद्भावविरोधात् । स च प्रदार्घः=प्रवाहवान् य एकः=एकसंततिमान् अध्यवसायस्तत्प्रवर्तकः=तन्निमित्तम् ; नील-पीताकारयोर्भिन्नसंततिगतत्वेन विरोधेऽप्यग्नि-धूमाद्याकाराणामेकसंततिगतत्वेनाविरोधात् , एकत्र स्वसंविदि ग्राह्य-ग्राहकाकारवत् । न च समानकालीनाकारभेदेनाकारवतोऽभेदेऽपि क्रमिकाकारभेदात् तद्भेदः,

(नीलज्ञान-पीतज्ञान के ऐक्य की आशंका)

बौद्ध का यह कहना है कि- 'यहां कारणज्ञान से कार्यज्ञान के उत्पत्तिस्थल में अग्निज्ञान रूप कारणज्ञान आकारभेद से धूमज्ञान रूप कार्य बन जाता है-यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर नीलज्ञान और पीतज्ञान में भी ऐक्य हो जायगा। क्योंकि जहां नीलज्ञान के बाद पीतज्ञान की उत्पत्ति होती है वहां पीतज्ञान कार्यभूत ज्ञान है और नीलज्ञान उस का समनन्तर कारणभूत ज्ञान है अत एव पीतज्ञान भी उक्त रीति से आकारभेद से नीलज्ञान माना जा सकेगा। यह ऐक्य किसी को मान्य नहीं है अतः कार्यज्ञान में कारणज्ञान का बोधरूप से अन्वय कैसे सिद्ध हो सकता है ?- अर्थात् जब एक स्थान में कार्यज्ञान को कारणज्ञान परिणाम नहीं माना गया तो उसी रीति से अन्यत्र सभी स्थानों में कार्यज्ञान को कारणज्ञान का परिणाम न मानना सम्भव हो सकता है, अतः कार्यज्ञान में कारणज्ञान का बोधात्मना अन्वय असिद्ध है ॥१११॥

[नीलज्ञान–पीतज्ञान ऐक्यापत्ति का परिहार]

११२ वीं कारिका में बौद्ध की उक्त शंका का समाधान किया गया है—

बौद्ध को पूर्व आकार का परित्याग कर अन्य आकार से आविर्भाव मानना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा न मानने पर अग्निज्ञान के बाद जो धूमज्ञान की उत्पत्ति होती है वह असत् की ही उत्पत्ति मानी जायगी, क्योंकि धूमज्ञान का किसी भी रूप में उस से पूर्व अस्तित्व सिद्ध नहीं होता और सर्वथा असत् की उत्पत्ति विरोधग्रस्त है-यह कहा जा चुका है।

इस सम्बन्ध में जो बौद्ध की ओर से नीलज्ञान और पीतज्ञान के ऐक्य का आपादान किया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि बोध का अन्वय एक सन्तान में प्रवहमान अध्यवसाय का ही प्रवर्त्तक होता है। नीलाकार-पीताकार अध्यवसाय भिन्न सन्तति गत है अतः उन का प्रवर्त्तक किसी एक बोधान्वय के अधीन नहीं है। अत एव पीतज्ञान के पूर्व नीलाकार में परिणतबोध का पूर्व नीलाकार परित्यागपूर्वक पीताकाररूप में परिणाम नहीं माना जा सकता। किन्तु अग्निआकारज्ञान और धूमाकार-ज्ञान एक सन्तानगत है अत एव उन में एक बोध का अन्वय मानने में कोई विरोध नहीं होता। यह अविरोध स्वग्राही एक ज्ञान के ग्राह्य और ग्राहक के आकार के दृष्टान्त से अवगत किया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि जैसे ग्राह्य आकार और ग्राहकाकार में अन्यत्र सर्वत्र भेद होता है किन्तु ज्ञान के अपने स्वरूप में ग्राह्याकार और ग्राहकाकार में भेद नहीं होता क्योंकि एक ही ज्ञान स्वप्रकाश होने से ग्राह्याकार भी होता है, ग्राहकाकार भी होता है। उसी प्रकार भिन्न

तद्वदेव तस्याऽविरुद्धत्वेनाऽभेदकत्वात् 'मुहूर्तमात्रमहमेकविकल्पपरिणत एवासम्' इत्यबाधितानुभवात्। न च नैयायिकेनाप्येतदनुभवापह्नवः कर्तुं शक्यः, दीर्घाध्यवसायस्य धारावाहिकतया समर्थने स्थूलकालमादाय 'पश्यामि' इति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वे तदैक्यप्रत्यभिज्ञायाश्च तज्जातीयाऽभेदविषयकत्वे, घटादौ वर्त्तमानताप्रत्यय-प्रत्यभिज्ञयोरपि तथात्वे बौद्धसिद्धान्तप्रवे-

सन्तान में विद्यमान ज्ञान के आकारों में विरोध होने पर भी एक सन्तानगत ज्ञानाकारों में अविरोध हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अग्नि और धूम पर्यायों का मूलद्रव्य एक है एवं अग्निज्ञान और धूमज्ञान का मूलभूत बोध भी एक है। मूलभूत द्रव्य का अग्नि-धूमादि रूपमें पूर्वपर्याय परित्याग पूर्वक उत्तरपर्यायात्मना परिणमन होता है और मूलभूतबोध का भी पूर्वाकार परित्यागपूर्वक उत्तर आकार में परिणाम होता है किन्तु नील और पीतपर्यायों का एक मूलद्रव्य नहीं है और नीलाकार पीताकार ज्ञानों का एक मूलभूतबोध भी नहीं है अत एव जैसे नीलपीतपर्यायों में एक मूल द्रव्य का अन्वय नहीं होता उसी प्रकार नीलपीत ज्ञानों में एक मूलभूत बोध का अन्वय नहीं होता। अतः अग्नि और धूम के ज्ञान में एक बोध के अन्वय के समान नीलपीतज्ञान में एक बोधान्वय का आपादान करना निराधार है।

[भिन्नकालीन आकार वस्तु के भेदक नहीं है]

इस संदर्भ में बौद्ध की ओर से एक यह शंका हो सकती है कि-'एककालीन आकारों के भेद से आकारवान् में भेद न हो यह तो हो सकता है, किन्तु क्रमिक आकारों के भेद से भी आकारवान् का भेद न हो यह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जब क्रमिक आकारों में भेद है तो पूर्वकालिक आकार से अभिन्न आकारवान् उत्तरकाल में पूर्वाकार के न रहने से उस पूर्वाकार से अभिन्न आकारवान् भी नहीं रह सकता। एवं उत्तरकालिक आकार पूर्व काल में न रहने से उस से अभिन्न आकारवान् भी पूर्वकाल में नहीं रह सकता। फलतः क्रमिक आकारों को किसी एक का आकार नहीं माना जा सकता'- किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जैसे एककालीन आकार आकारवान् के भेदक नहीं होते उसी प्रकार भिन्नकालीन आकारों भी परस्पर विरुद्ध न होने के कारण आकारवान् के भेदक नहीं हो सकते, क्योंकि धर्मी की भिन्नता धर्मों की भिन्नता पर नहीं किन्तु धर्मों के विरोध पर आश्रित होती है। 'क्रमिक आकारों में भी विरोध नहीं होता' यह बात 'मैं मुहूर्त्तपर्यन्त एक विकल्प के रूप में परिणत था' इस अबाधित अनुभव से सिद्ध है। यह स्पष्ट है कि इस अनुभव में एक ही की मुहूर्त्त पर्यन्त एकाकार क्रमिक विकल्पों के रूप में अवस्थिति अवभासित होती है, अतः इस अनुभव से एक व्यक्ति में ही क्रमिक आकारों का भान होने से क्रमिक आकारों का अविरोध व्यक्त है

[दीर्घ अध्यवसाय को धारावाहिकज्ञान मानने में नैयायिक को आपत्ति]

व्याख्याकार का कहना है कि नैयायिक भी जो क्रमिक ज्ञानों में एकबोध का अन्वय स्वीकार नहीं करते इस अनुभव का अपलाप नहीं कर सकते। अतः इस अनुभव के अनुरोध से उन्हें भी क्रमिक ज्ञानों में एक बोध का अन्वय मानना पड़ेगा। क्योंकि उसे माने विना इस अनुभव की उपपत्ति करना शक्य नहीं है। यदि वे उक्त अनुभव के विषयभूत दीर्घ अध्यवसाय को धारावाही ज्ञान मान कर इस अनुभव का समर्थन करना चाहे तो यह भी शक्य नहीं है, क्योंकि इस मुहूर्त्तव्यापी दीर्घ अध्यवसाय को 'पश्यामि'

* युगपद् द्वौ नस्त उपयोगौ।

शात् । न चैवं गोदर्शनकाल एवाश्वविकल्पानुभवात् तयोरप्येकदाभ्युपगमः स्यात् , अनुभवस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् , एवं च तत्रापि * 'जुगवं दो णत्थि उवओगा' इति वचनव्याघात इति वाच्यम् , 'उक्तवचनस्य समान-सविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वात् इन्द्रियमनोज्ञानयोरेकदाप्युपपत्तेः' इति सम्मतिटीकाकारः । भिन्नेन्द्रियज्ञानयौगपद्यं तु बाधकात् त्यज्यते । प्रकृते च नैकोपयोगानुभवे किञ्चिद् बाधकं पश्यामः । न चोत्तरक्षणवर्तिविभुविशेषगुणानां स्वपूर्ववृत्तियोग्यविभुविशेषगुणनाशकतया प्रदीर्घाध्यवसायस्य बाधः, सुषुप्तिप्राक्कालीनज्ञानादेरिव सर्वस्यैवोत्तरक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्य स्वनाशकत्वेन क्षणिकत्वप्रसङ्गात् , स्वत्वस्य नानात्वेन विशिष्यैव नाशकत्वकल्पनाच्चेति । अन्यत्र विस्तरः ।

इस आकार से वर्त्तमानकालिक रूप में प्रतीति होती है । किन्तु वर्त्तमानकाल से क्षणों को लेने पर यह प्रतीति प्रत्यक्षात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि क्षण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और वर्त्तमानकाल के रूप में मुहूर्त्तात्मक स्थूलकाल को लेने पर यह प्रतीति भ्रमात्मक होगी । क्योंकि इस प्रतीति का विषयभूतज्ञान मुहूर्त्तपर्यन्त कोई स्थिर नहीं रह सकता, कारण यह कि उन के मत में ज्ञान क्षणद्वयस्थायि होता है । यदि 'पश्यामि' इस प्रतीति को भ्रमरूपता का स्वीकार कर लेंगे तो धारावाहिक ज्ञानस्थल में जो ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा होती है उसे सजातीय अभेदविषयक मानना पड़ेगा और यदि यह भी मान लेंगे तो घट आदि के क्षणिक होने पर भी उनकी वर्त्तमानता के भ्रमरूप प्रत्यय की एवं सजातीय अभेद विषयक मानकर उन की प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति भी की जा सकेगी । फलतः घटादि को भी स्थिरता सिद्ध न होने से नैयायिक का बौद्धसिद्धान्त में प्रवेश हो जायगा । अतः उक्त अनुभव [मुहूर्त्तमात्रमहमेकविकल्पपरिणत एवासम्] की उपपत्ति के लिये क्रमिक ज्ञानों में एक बोधान्वय मानना आवश्यक होगा ।

['एक साथ दो उपयोग नहीं होते' वचन के व्याघात की आशंका]

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-यदि उक्त अनुभव के अनुरोध से क्रमिक भिन्नाकार ज्ञानों को परिणामी बोधरूप में एक कालावस्थायी मानने पर जहाँ गोदर्शन यानी गो के निर्विकल्पक प्रत्यक्षकाल में ही पूर्वक्षणोत्पन्न अश्वविकल्प यानी अश्वविषयकविशिष्टप्रत्यक्ष का 'अश्वं पश्यामि' इस प्रकार अनुभव होता है वहाँ प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष विषय के समानकालिकत्व नियम के अनुरोध से गोदर्शन और अश्वविषयकविकल्प का एक ही काल में अस्तित्व मानना होगा क्योंकि गोदर्शनकाल में अश्वविकल्प के अनुभव का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता । तथा 'ऐसा मान लेने पर एक काल में दो उपयोग नहीं होते' इस जैन सिद्धान्तभूत वचन का व्याघात होगा । क्योंकि एक ही काल में दर्शनात्मक और विकल्पात्मक दो उपयोगों का एक काल में अस्तित्व उक्त अनुभव के अनुरोध से मान लेना पड़ता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सम्मति ग्रन्थ की टीका में अभयदेवसूरि का यह स्पष्ट कथन है कि–एक काल में दो उपयोग नहीं होते इस वचन का तात्पर्य समान सविकल्पक दो उपयोगों के एककालीनत्व के निषेध में है, क्योंकि इन्द्रियजन्य उपयोग और मनोजन्यउपयोग दोनों को एक काल में भी अवस्थिति होती है । भिन्न इन्द्रिय से दो ज्ञानों का एककालीनत्व नहीं माना जाता, क्योंकि भिन्न इन्द्रियों का ज्ञानार्जन में सह व्यापार बाधित होता है । अतः प्रकृत में अर्थात् अग्निज्ञान और धूमज्ञानमें एक उपयोग यानी एक बोधान्वयका अनुभव माननेमें कोई बाध नहीं है ।

(विभुपदार्थ के विशेष गुणों में क्षणिकता के नियम का विसंवाद)

यदि यह कहा जाय कि-"उत्तरक्षणवर्त्ति विभु का विशेषगुण अपने पूर्ववर्त्ति विभु के योग्य-विशेष गुण का नाशक होता है-यह नियम है इसलिये कोई अध्यवसाय दीर्घकाल तक नहीं रह सकता, क्योंकि, जो भी उस के उत्तरक्षण में विभुविशेषगुण उत्पन्न होगा उससे उसका नाश हो जायगा और जाग्रत अवस्था में प्रति क्षण कोई न कोई ज्ञान उत्पन्न होता ही रहता है"-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि, जैसे सुषुप्ति के अव्यवहित प्राक्काल में उत्पन्न होनेवाला ज्ञान आदि क्षणिक होता है, उस के अव्यवहित द्वितीयक्षण में ही उस का नाश हो जाता है, क्योंकि सुषुप्ति हो जाने पर त्वङ्मनःसंयोग न रहने से आत्मा में किसी विशेष गुण की उत्पत्ति का सम्भव न होने से उसका नाश उत्तरकालिक विशेषगुण से नहीं होता अपितु पूर्ववर्त्तीगुण से या स्वयं उसी से उस का नाश होता है-उसी प्रकार सभी योग्य विभु विशेषगुण क्षणिक हो जायेंगे। अर्थात् अपने द्वितीयक्षण में ही नष्ट हो जायेंगे क्योंकि सभी स्व शब्द से गृहीत हो सकता है। अत एव स्वशब्द से द्वितीयक्षण में होने वाले विशेषगुण को ग्रहण करने पर स्व का पूर्ववर्त्ति होने से उन में नाश्यता भी हो जायगी। इसी प्रकार प्रत्येक योग्य विभु विशेषगुण में स्वनाश्यता और स्वनाशकता उभय की प्रसक्ति होने से उसका द्वितीयक्षण में नाश हो जायगा। दूसरी बात यह है कि 'स्वत्व' एक अनुगत धर्म न होकर प्रतिव्यक्ति विश्रान्त ही माना जाता है क्योंकि उसे अनुगत मानने पर सामान्यरूप से स्वाव्यवहितोत्तरत्व अथवा स्वाव्यवहितपूर्वत्व की अप्रसिद्धि हो जाती है, क्योंकि स्वाव्यवहितोत्तरत्व का अर्थ होता है स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षण-ध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्व, अर्थात् स्व के अधिकरणभूत क्षण के ध्वंस का अधिकरणभूत जो क्षण, उस क्षण के ध्वंस का अनधिकरण होते हुए जो स्वाधिकरणक्षणध्वंस का अधिकरण होता है उसे स्वाव्यवहितोत्तर कहा जाता है। इसीप्रकार स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तित्व का अर्थ होता है स्वा-धिकरणक्षणप्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावनधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्व, अर्थात् स्वाधिकरणक्षण के प्रागभाव का अधिकरण जो क्षण, उस क्षण के प्रागभाव का अनधिकरण जो क्षण उस क्षण के प्रागभाव का अनधिकरण होते हुये जो स्वाधिकरणक्षणध्वंस का अनधिकरण हो। यदि स्वशब्दार्थ अनुगत माना जायगा तो स्वाव्यवहितोत्तरत्व के शरीर में स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधि-करणत्व की अप्रसिद्धि हो जायगी। क्योंकि प्रत्येकक्षण के पूर्व का तृतीयक्षण भी किसी न किसी स्व का अधिकरणक्षण होगा, उस के ध्वंस का अधिकरण पूर्ववर्त्ति द्वितीयक्षण होगा और उस के ध्वंस का वह क्षण अधिकरण ही हो जायगा जिस में स्वाव्यवहितोत्तरत्व स्थापित करना है। इसी प्रकार स्वाव्य-वहित पूर्वत्व के शरीर में दोनों ही दल अप्रसिद्ध हो जायेंगे क्योंकि जिस क्षण में स्वाव्यवहित पूर्वत्व स्थापित करना है उस के पूर्व में उत्पन्न होनेवाला पदार्थ भी स्वपद से पकड़ा जा सकता है इसलिये स्वाधिकरण क्षण शब्द से स्वाव्यवहित पूर्वत्वेनाभिमत क्षण के पूर्व का भी क्षण हो जायगा और वह उस के ध्वंस का अधिकरण ही होगा। इसी प्रकार स्वशब्द से स्वाऽव्यवहित पूर्वत्वेन अभिमत क्षण के उत्तर तृतीयक्षण में उत्पन्न होनेवाला पदार्थ स्वपद से पकड़ा जा सकता है, उस का अधिकरण उत्तर-वर्ती तृतीयक्षण होगा। और उस के प्रागभाव का वह क्षण अधिकरण ही होगा जिस में स्वाव्यवहित पूर्वत्व अभिमत है। इस प्रकार स्व पदार्थ को अनुगत मानने पर स्वाव्यवहित उत्तरत्व और स्वाव्य-वहित पूर्वत्व की अप्रसिद्धि हो जायगी। अतः स्वत्व को तत्तद्व्यक्तित्वरूप मानना पड़ेगा जिस से कि स्वाव्यवहित उत्तरत्व और स्वाव्यवहित पूर्वत्व तत्तद्व्यक्ति के स्वाव्यवहित उत्तरत्व और स्वाव्यवहित पूर्वत्व के रूप में प्रसिद्ध बन सके। इस प्रकार जब स्वत्व विविध हुआ तो पूर्ववर्त्ती योग्य विभु विशेषगुण

न च स्वतन्त्राग्नि-धूमाद्युपयोगभेदवदत्रापि तद्भेद इति कुचोद्यमाशंकनीयम्, एकसामग्रीप्रभवैकविचाराङ्गीभूताकारभेदेऽप्यङ्गिनो न भेद इत्युक्तत्वात् । न चाऽग्न्यादिविषय-कारणभेदात् सामग्रीभेदः, योग्यतातो विषयप्रतिनियमोपपत्तौ विषयस्यापेक्षाऽहेतुत्वात्, अन्यथा योगिज्ञानस्याऽवर्तमानार्थग्राहित्वानुपपत्तेः । अथैवमेकत्र प्रमातरि एक एवोपयोगः स्यात्, तदाकारभेदादखिलव्यवहारोपपत्तेरिति चेत् ? सत्यम्, घटादेर्मृदादिरूपतयेवात्म-द्रव्यतयैक्येऽप्यविच्युतिरूपभेदस्यानुभवसिद्धत्वेनाऽविरोधादिति दिग् ॥११२॥

और उत्तरक्षणवर्तियोग्यविभुविशेषगुण में इस प्रकार का नाश्य-नाशक भाव नहीं बन सकता कि विभु विशेष गुण स्वाव्यवहित पूर्ववृत्ति योग्य विभु विशेषगुण का नाशक है अथवा योग्य विभु विशेष-गुण स्वाव्यवहितउत्तरक्षणवृत्ति विभु विशेषगुण से नाश्य है । फलतः योग्यविभु विशेषगुण और विभु विशेषगुण में नाश्यनाशकभाव की कल्पना विशेष रूप से ही करनी होगी, अर्थात् इस प्रकार नाश्य-नाशक भाव बनाना होगा कि तत्तद्योग्यविभुविशेषगुण के नाश के प्रति तत्तद्विभुविशेषगुण और विशेषगुणों में सामान्य नाश्य–नाशक भाव न बन सकने से किसी योग्य विभु-विशेषगुण का नाश उस के उत्तरवर्त्ति विशेषगुण से नाश नहीं प्रसक्त हो सकता, किन्तु जिस योग्यविभुविशेषगुण का स्थैर्य जिस काल तक युक्ति या अनुभव से प्राप्त होता है उस के उत्तरक्षण में होनेवाले विभुविशेष गुण से ही उसका नाश माना जायगा । अत एव 'मुहूर्त्तमात्रमहमेकविकल्पपरिणत आसम् ।' इस अनुभव से आत्मा में मुहूर्त्त पर्यन्त एकविकल्पात्मक परिणाम की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती । इस विषय का विशेष विचार अन्यत्र द्रष्टव्य है ।

[अंगभेद होने पर भी अंगी का भेद नहीं]

यदि यह कुशंका की जाय कि-'जैसे अन्यत्र स्वतन्त्र अग्नि का और धूम का उपयोग भिन्न भिन्न होता है उसी प्रकार अनुमाता के अग्नि के और धूम के उपयोग में भी भेद आवश्यक है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक सामग्री से उत्पन्न और एक विचार के अंगभूत आकारों में भेद होने पर भी अंगी में भेद नहीं होता है-यह कहा जा चुका है । प्रकृत में भी अग्निज्ञान-धूमज्ञान एक सामग्रीप्रभव एवं एकविचार का अंग है । इसलिए अग्निआकार-धूमाकार में भेद होने पर भी उन ज्ञानों के रूप में परिणत होनेवाले उपयोगात्मक अंगी में अभेद ही उचित है । यदि यह कहा जाय कि–'एक व्यक्ति को जो अग्नि का और धूम का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उस में भी सामग्रीभेद होता है क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण होने से अग्निप्रत्यक्ष की सामग्री में अग्नि का प्रवेश और धूम प्रत्यक्ष की सामग्री में धूम का प्रवेश होता है'-तो यह ठीक नहीं क्योंकि तत्तत्प्रत्यक्षीयविषयता का प्रतिनियम तत् तत् प्रत्यक्ष के विषयीभवन की योग्यता से ही उपपन्न हो जाता है अतः प्रत्यक्ष के प्रति विषय को कारण मानने में कोई युक्ति नहीं रह जाती । अतः प्रत्यक्ष की सामग्री में विषय का प्रवेश असिद्ध होने से अग्निप्रत्यक्ष और धूमप्रत्यक्ष का सामग्रीभेद असिद्ध है । यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्यक्ष के प्रति विषय को कारण मानने में मात्र युक्ति का अभाव ही नहीं है, अपितु बाधा भी है, क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति विषय को कारण मान लेने पर योगी को भूत और भविष्य, यानी वर्त्तमान में अविद्यमान विषयों का वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि जिस काल में योगी को भूत-भविष्य विषयों का

न चायं भ्रान्त इत्याह—

स्वसंवेदनसिद्धत्वान्न चायं भ्रान्त इत्यपि ।
कल्पना युज्यते युक्त्या सर्वभ्रान्तिप्रसङ्गतः ॥११३॥

न चायं=बोधान्वयः,-भ्रान्तः=भ्रान्तिविषयः, इत्यपि कल्पना (युक्त्या) युज्यते । कुतः ? इत्याह:=स्वसंवेदनसिद्धत्वात्=स्वसंविदितज्ञानपरिच्छिन्नत्वात् , अध्यक्षप्रमितस्यापि भ्रान्तत्वे, सर्वभ्रान्तिप्रसङ्गतः=घटादीनामप्यसत्त्वापत्त्या प्रमाण-प्रमेयादिविभागोच्छेदप्रसंगात् ॥११३॥

प्रत्यक्ष होता है उस काल में उन विषय विद्यमान न होने से उन विषय रूप कारणों के अभाव में योगी का प्रत्यक्ष दुघट होगा ।

(एक प्रमाता को सदैव एक ही उपयोग स्वीकार्य)

यदि यह कहा जाय कि-'तब तो ऐसा मानने पर एक प्रमाता में एक ही उपयोग सिद्ध होगा क्योंकि उसी का विभिन्नाकार ज्ञानों में परिणाम होता रहेगा और उन्हीं ज्ञानों से सपूर्ण व्यवहार की उपपत्ति हो जायगी'-तो यह कथन अपेक्षया स्वीकार्य है । एक आत्मा का उपयोग-आत्मद्रव्य रूप में एक ही है किन्तु उस में रूपभेद की अविच्युति यानी 'बना रहना' अनुभवसिद्ध है, अत एव उस के रूपभेद का अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उस अनुभव के कारण ही विभिन्न रूपों से उपेत अेक उपयोग का अेक आत्मा में अस्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं है । यह विषय घट और घटादि-पर्याय एवं द्रव्य के दृष्टान्त से सुखबोध्य है । आशय यह है कि-जैसे घट, कपाल, पिण्ड, आदि रूपों में एक ही मिट्टी द्रव्य का अन्वय होता है उसी प्रकार एक प्रमाता में होनेवाले विभिन्नाकार ज्ञानों में उस आत्मद्रव्य के अभिन्न रूप में वतमान एक उपयोग का ही अन्वय होता है ॥११२॥

११३ वीं कारिका में विभिन्नाकार ज्ञानों में एक बोध के अन्वयप्रतीति की भ्रमरूपता का निराकरण किया गया है—

कारिका का अर्थ इस प्रकार है—"मुहूर्त्तमात्रमहं एकविकल्पाकारपरिणत एवासम्' इस अनुभव में जो मुहूत पर्यन्त होनेवाले ज्ञानों में एक बोधान्वय का भान होता है वह अनुभव उस अंश में भ्रम है । अतएव भ्रम का विषय होने से विभिन्न ज्ञानों में एक बोध का अन्वय अमान्य है ।" बौद्ध की यह कोरी कल्पना है, क्योंकि विभिन्न ज्ञानों में एक बोध का अन्वय स्वसवेदी उक्त प्रत्यक्षात्मक अनुभव से निश्चित है । कहने का आशय यह है कि ज्ञान विषय के सवेदन के साथ स्वस्वरूप का भी संवेदन करता है । अत: उक्तअनुभव स्वसंवेदी होने से विभिन्न ज्ञानों में एक बोध के अन्वय की अपनी ग्राहकता का भी ग्राहक है । उक्त अनुभव का उत्तरकाल में बाध न होने से वह प्रमात्मक है इसलिए उस ज्ञान से जो विषय गृहीत होता है वह अमान्य नहीं हो सकता । भ्रमात्मक ज्ञान भी स्वसवेदि होता है किन्तु उत्तरकाल में उस का बाध होने से उस का बाधितअर्थग्राहिस्वरूप सिद्ध होता है और वह ज्ञान के स्वसंवेदित स्वभाव के कारण अपने उसी स्वरूप को ग्रहण करता है अत: उस का विषय असत्य होने से अमान्य होता है, किन्तु अबाधित प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ को भ्रम का विषय नहीं माना जा सकता, फिर भी ऐसा मानने पर सपूणज्ञान से गृहीत विषयों में भ्रमविषयता की प्रसक्ति

नन्वन्वयग्राहिणो विकल्पस्य भ्रान्तत्वेऽपि स्वलक्षणनिर्विकल्पस्याध्यक्षत्वेनाऽभ्रान्तत्वाद् नोक्तदोषः । न च नामाद्युल्लेखपरिष्वक्तमूर्तिविकल्पोऽध्यक्षः, असंनिहितनामादियोजनाकरम्बितत्वात्, प्रत्यक्षस्य च संनिहितमात्रविषयत्वात् । एतेन–

'वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥१॥

इति वाक्संस्पृष्टस्यैव सकलार्थस्य संवेदनम्', इति शाब्दिकमतं निरस्तम्, अर्थदर्शने तद्वाक्स्मृतेस्तत्संस्पर्शः, तत्संस्पर्शे च तत्संस्पृष्टार्थग्रहणमित्यन्योन्याश्रयात्, अगृहीतसंकेतस्य च बालस्य वाग्संस्पर्शेनार्थाग्रहणप्रसङ्गात्, 'किम् ?' इति वाक्संस्पर्शे च सामान्यग्रहेऽपि विशेषाऽग्रहात् । किञ्च, वैखरीं वाचं न नायनं ज्ञानमुपस्पृशति, तस्याः श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । नापि स्मृतिविषयां मध्यमाम्, तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो भावात् । संहताशेषवर्णादिविभागा 'पश्यन्ती' च वागेव न भवति, बोधरूपत्वात्, वाचश्च वर्णरूपत्वात् । अतो न तद्युक्ता प्रतिपत्तिः अपि त्वविकल्पिकैवेति ।

होगी और भ्रम का विषय होने से संपूर्ण ज्ञान के विषय असत् हो जायेंगे ? फलतः घट आदि के असिद्ध हो जाने से प्रमाण-प्रमेय-ग्राह्य-ग्राहकभाव आदि व्यवस्था जो बाह्यार्थवादी बौद्धों को भी मान्य है उन सभी का उच्छेद हो जायगा ॥११३॥

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-विकल्पात्मक ज्ञान अन्वयग्राही होने से भ्रमरूप होता है, क्योंकि अन्वय यानी एकदूसरे के साथ सम्बन्ध, काल्पनिक वस्तु है । किन्तु अध्यक्ष निर्विकल्पक होता है । वह स्वलक्षण शुद्ध वस्तु का ही ग्रहण करता है । उस में किसी भी कल्पित वस्तु का भान नहीं होता है, अत एव वह भ्रमरूप नहीं होता है । इसलिए उस निर्विकल्प प्रत्यक्ष से स्वलक्षण वस्तु प्रमाण सिद्ध होने से प्रमाण-प्रमेय के विभागादि के उच्छेद का आपादान नहीं हो सकता । विकल्पात्मक ज्ञान के शरीर में नाम आदि के उल्लेख का संबंध होता है, अत एव वह अध्यक्ष=निर्विकल्प प्रत्यक्ष के समान प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह नाम आदि असन्निहित पदार्थों से मिश्रित होता है और प्रत्यक्षप्रमाण वही होता है जो सन्निहित मात्र को ग्रहण करे ।

इस संदर्भ में शाब्दिकों का यह कथन है कि-"संपूर्ण पदार्थों का शब्द-संबद्धरूप में ही भान होता है । अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जो शब्दार्थ के संबंध को विषय न करें, अतः बौद्ध को शब्द से असंस्पृष्ट अर्थ के निर्विकल्प प्रत्यक्ष की कल्पना- युक्तिसंगत नहीं हो सकती । शाब्दिकों का अपने उक्त अर्थ के समर्थन में यह भी कहना है कि-ज्ञान में वाग्रूपता=वाक् का संस्पर्श शाश्वत है -सनातन है । यदि ज्ञान वाग्रूपता का अतिक्रमण करे तो कोई भी ज्ञान नहीं सिद्ध हो सकेगा क्यों कि वाक् ही ज्ञान की प्रत्यवमर्शिनी अर्थात् ज्ञान के अस्तित्व में साक्षी है ।

कहने का आशय यह है कि ज्ञान का अस्तित्व अभिलाप से ही प्रमाणित होता है, जब तक अभिलाप नहीं होता, तब तक यह नहीं समझा जा सकता कि किसी को कुछ ज्ञान है । और संपूर्ण ज्ञानों का सब शब्दों से अभिलाप नहीं होता है किन्तु ज्ञानविशेष का शब्द विशेष से अभिलाप होता

है इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ज्ञान में शब्द का अनुवेध होता है और उस अनुवेधक शब्द से ही ज्ञान का अभिलाप होता है।"-इस पर बौद्ध कहते हैं कि—

शाब्दिकों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ ज्ञान में वाक् का संस्पर्श मानने में अन्योन्याश्रय है, और उस का कारण यह है कि-मनुष्य को किसी अर्थ का चक्षु आदि से जब ज्ञान होता है तब सर्वदा उस अर्थ का बोधक शब्द श्रुत नहीं रहता। ऐसे स्थलों में यह मानना होगा कि चक्षु से पहले अर्थज्ञान होता है, इसके बाद अर्थबोधक शब्द का स्मरण होकर अर्थ के साथ शब्द का सबंध-ज्ञान होता है। यदि सभी ज्ञान को शब्दानुविद्ध माना जायगा तो अन्योन्याश्रय होगा क्योंकि शब्द का स्मरण द्वारा संस्पर्श संभव होने पर ही अर्थज्ञान हो सकता है और अर्थज्ञान होने पर ही शब्द का स्मरण हो कर शब्दसंस्पर्श हो सकता है। अतः यह मानना सर्वथा निर्युक्तिक है कि संपूर्ण ज्ञान शब्दानुविद्ध ही होता है। उस के अतिरिक्त, इस पक्ष में यह भी दोष है कि-अल्पवयस्क बालक को शब्दार्थ का संकेतज्ञान होता नहीं है। अतः उस के ज्ञान में वाक्संस्पर्श की संभावना न होने से उसे किसी वस्तु का ज्ञान ही न हो सकेगा, जब कि उस की चेष्टाओं से उसे अर्थ का ज्ञान होना प्रमाणसिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि-'बालक के अर्थज्ञान में शब्दविशेष का अनुवेध न भी हो किन्तु 'किम्' इस शब्द का अनुवेध होता है क्योंकि बालक जिस अर्थ को देखता है उस के विषय में 'किम्=यह क्या है?' इस प्रकार प्रश्न करता है, उस के अनुरोध से उस के ज्ञान में 'किम्' इस शब्द का अनुवेध सिद्ध है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर बालक को प्रत्येक अर्थ का सामान्य रूप से ही ज्ञान सिद्ध होगा क्योंकि उस के ज्ञान में 'किम्' इस सामान्य शब्द का ही अनुवेध होता है, विशेष रूप से भी उसे अर्थ का ज्ञान होता है यह नहीं सिद्ध हो सकेगा और विशेषरूप से उसे ज्ञान नहीं होता यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि, बालक भी एक वस्तु को देखने के बाद दूसरी वस्तु और दूसरी वस्तु को देखने के बाद तीसरी वस्तु ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है। यदि उसे सभी वस्तुओं का सामान्यरूप से ग्रहण हो एवं विशेषरूप से ग्रहण न हो तो उस की उस चेष्टा की उपपत्ति नहीं हो सकेगी।

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि-वैयाकरण वाणी के चार भेद मानते हैं- परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी। उन में परा और पश्यंती में अतिशय सादृश्य होने से यदि उन्हें एक ही गिन लिया जाय तो वाणी के तीन भेद रह जाते हैं। परा या पश्यंती, तथा मध्यमा और वैखरी। उन में पश्यन्ती में वर्ण-पद आदि का विभाग न होने से वह तो शुद्धबोधरूपा है अतः अर्थज्ञान में उसका संस्पर्श मानने से ज्ञान में शब्दानुवेध की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा मध्यमा वाक् स्मरण का ही विषय होती है, शुद्धसंवित् का अनुभव उस के बिना भी होता है अतः प्रत्यक्षादि ज्ञान में मध्यमा वाक् का अनुवेध भी युक्तिसिद्ध नहीं है। वैखरी वाक् का संस्पर्श मानकर भी संपूर्ण ज्ञानों में शब्दानुवेध की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि नेत्र से जब घटादि का ज्ञान होता है तब उस में वैखरी वाक् का भान मान्य नहीं हो सकता क्योंकि वैखरीवाक् का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है अतः श्रोत्र-निरपेक्ष चक्षु से होनेवाले घटादि के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में वैखरीवाक् का अनुवेध हो नहीं सकता। इन भेदों से अतिरिक्त वाक् का कोई स्वरूप शाब्दिकों को मान्य नहीं है जिस के द्वारा संपूर्ण ज्ञानों में शब्दानुवेध की उपपत्ति की जा सके। इसलिए यह सर्वथा युक्तिसंगत है कि चक्षु आदि इन्द्रियों से अर्थ का जो प्रथम बोध होता है उस में शब्दानुवेध नहीं होता है, वह पूर्णरूप से निर्विकल्पक होता है और वही वस्तुसत्ता में प्रमाण होता है। उस से घट आदि वस्तुओं की सत्ता सिद्ध होने के कारण इस

अथाद्यमध्यक्षं वाचकस्मृत्यभावादविकल्पकमेवास्तु, न स्मृतिसहकृतेन्द्रियजम्. उत्तरं तु तत् सविकल्पकमित्यत्र को दोषः ! इति चेत् ? न, स्मृत्युपनीतेऽपि शब्दे परिमल इवाऽविषयत्वाद् नयनस्याऽप्रवृत्तेः । न चैवं नामविशिष्टस्याऽग्रहणेऽपि द्रव्यादिविशिष्टग्राहि प्रत्यक्षं सविकल्पकमस्तु, बाधकाभावादिति वाच्यम् , विशेषण-विशेष्यभावस्य वास्तवत्वे दण्ड-पुरुषयोरिव प्रतिनियतस्यैव संभवात् 'कदाचिद् दण्डस्यैव विशेषणत्वम् , कदाचिच्च पुरुषस्यैव' इति विशेषानुपपत्तेः, अर्थक्रियाजनकत्वतत्प्रयोजकत्वापेक्षया प्रधानोपसर्जनभावरूपस्य तस्य कल्पना-

---

दोष का उद्भावन कथमपि उचित नहीं है कि विकल्पात्मक ज्ञान को भ्रम मानने पर संपूर्ण ज्ञान भ्रम हो जायेगा अतः किसी भी ग्राह्य वस्तु की सिद्धि न होने से प्रमाण-प्रमेय आदि विभाग का उच्छेद हो जायगा ।

(सविकल्प को शब्दानुविद्ध अर्थग्राहकता आपत्ति)

यदि बौद्ध के उक्त मत के विरुद्ध यह कहा जाय कि-'अर्थ का प्रथम प्रत्यक्ष निर्विकल्पक हो सकता है क्योंकि उस के पूर्व वाचक शब्द की स्मृति न रहने से वह स्मृतिसहकृतेन्द्रिय से जन्य नहीं होता । अतः उस में शब्दानुवेध=अर्थतादात्म्येन शब्दभान की सम्भावना नहीं रहती । किन्तु उस के बाद होनेवाले प्रत्यक्ष को सविकल्पक=शब्दानुविद्ध अर्थग्राही मानने में कोई दोष नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उस के प्रथम प्रत्यक्ष के उत्तरक्षरण में होने वाला ज्ञान यदि चक्षुजन्य प्रत्यक्षरूप होगा तो शब्द स्मृति से उपनीत होने पर भी उस का उस में भान नहीं हो सकता । क्योंकि, शब्द की स्मृति शब्द को ज्ञानलक्षणसंनिकर्ष के रूप में शब्द को चक्षु से संनिकृष्ट बनाती है । किन्तु संनिकृष्टमात्र होने से ही कोई अर्थ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो जाता किन्तु अर्थ जब संनिकृष्ट होता है और इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष के योग्य होता है तभी उस का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में भान होता है । जैसे पुष्प आदि गत गन्ध, पुष्प के साथ चक्षु का संयोग होने पर संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से चक्षु संनिकृष्ट तो हो जाता है किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्ष के योग्य न होने से चक्षु से गृहीत नहीं होता । उसी प्रकार शब्द भी स्मृति द्वारा चक्षु से संनिकृष्ट हो जाने पर भी चक्षु का अविषय होने के कारण चक्षु द्वारा गृहीत नहीं हो सकता । अतएव घटादि के चाक्षुष प्रत्यक्ष में उस के भान की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

इस पर यदि यह कहा जाय कि-'चाक्षुषादिप्रत्यक्ष द्वारा नामविशिष्ट का ग्रहण भले न हो, किन्तु द्रव्य-गुण-क्रिया-जाति आदि से विशिष्ट का ग्रहण तो हो सकता है अत एव सविकल्पक प्रत्यक्ष से अर्थ में द्रव्यवैशिष्ट्यआदि की सिद्धि मानी जा सकती है, क्योंकि द्रव्यादि विशिष्टग्राही सविकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता में कोई बाधक नहीं है ।'-तो यह भी ठीक नहीं है. क्योंकि अर्थ के साथ द्रव्यादि का विशेषणविशेष्यभाव यदि काल्पनिक हो तो उस से अर्थ की द्रव्यादिविशिष्टता नहीं सिद्ध हो सकती और यदि वास्तव हो तो जैसे दण्ड-पुरुष रूप वास्तव अर्थ स्थल में दण्ड का दण्डरूप में ही एवं पुरुष का पुरुष रूप में ही नियत ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव का भी नियत ही ग्रहण होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो "कभी दण्ड ही विशेषरण होता है-जैसे 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि बुद्धिकाल में, और कभी पुरुष ही विशेषण होता है जैसे 'पुरुषे दण्डः' अथवा 'पुरुषवान् दण्डः' इस बुद्धिकाल में'-इस बात की उपपत्ति न हो सकेगी । विशेषण विशेष्य भाव वास्तविक होने पर दण्ड का सदा विशेषण ही होना और पुरुष का सदा विशेष्य ही होना

ऽविषयत्वात् । तस्मादध्यक्षसंविद् निरस्तविशेषणमर्थमवगच्छति, विशेषणयोजना तु 'स्मरणादुपजायमानाऽपास्ताक्षार्थसंनिधिर्मानसी' इति प्रतिपत्तव्यम्, बहिरर्थावभासिकाभ्यो विशदसंविद्भ्यः स्वग्रहणमात्रपर्यवसितानां सुखादिसंविदामिवार्थसाक्षात्करणा-ऽस्वभावायास्तस्या भिन्नत्वेन बाधकाभावात् । न च जात्यादिविशिष्टार्थप्रतिपत्तेः सविकल्पिका मतिः, जात्यादेः स्वरूपानवभासनात् । न हि व्यक्तिद्वयाद् व्यतिरिक्तवपुर्ग्राह्याकारतां बहिर्बिभ्राणा विशददर्शने जातिराभाति । न चाम्रबकुलादिषु 'तरुस्तरुः' इत्युल्लिखन्ती बुद्धिराभातीति नासती जातिरिति वाच्यम् विकल्पोल्लिख्यमानतयापि बहिर्ग्राह्याकारतया जातेरनुद्भासनात् प्रतीतिरेव तत्र तुल्याकारतां बिभर्तीति । न च शब्दः प्रतीतिर्वा जातिमन्तरेण तुल्याकारतां नानुभवति, 'जातिर्जातिः' इत्यपरजातिव्यतिरेकेणापि गोत्वादिसामान्येषु तयोस्तुल्याकारतादर्शनात् । न च तेष्वप्यपरा जातिः, अनवस्थाप्रसक्तेः, घटत्वादिसमान्येषु जातित्ववज्जातित्वसहितेष्वपि तेषु तत्कल्पनानुपरमात् ।

आवश्यक होगा। दूसरी बात यह है कि, दो वस्तुओं में होनेवाला विशेषण-विशेष्यभाव वास्तविक तभी हो सकता है जब प्रधान-उपसर्जन (गौण) भाव रूप हो। अर्थक्रियाजनकत्व की अपेक्षा विशेष्य में प्रधानता और अर्थक्रिया प्रयोजकत्व की अपेक्षा विशेषण में गौणता होगी, जैसे 'दण्डविशिष्ट पुरुष धान्यक्षेत्र से अश्व का अपसारण करता है,' यहाँ दंड अश्वापसारण रूप अर्थक्रिया का उपकरण होने से अर्थक्रिया का प्रयोजक होने के कारण गौण होता है। किन्तु यह वास्तविक विशेषण-विशेष्य भाव कल्पनात्मक बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। अर्थात् निर्विकल्प के उत्तरक्षण में जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह कल्पनात्मक होती है, क्योंकि इस में काल्पनिक जात्यादि के सम्बन्ध का भान होता है। अतः वास्तव विशेषण विशेष्य भाव उसका विषय नहीं बन सकता। इसलिये युक्ति से यही सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षात्मक संवित् विशेषणनिर्मुक्त ही अर्थ को ग्रहण करती है। उस प्रत्यक्ष-गृहीत अर्थ में विशेषणों की योजना उन विशेषणों के स्मरण से होती है और वह मानस बुद्धि होती है, उसमें अर्थ के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों के संनिकर्ष की अपेक्षा नहीं होती। उस बुद्धि का स्वभाव अर्थ के साक्षात्कार करने का नहीं होता। अतः उसको बाह्यार्थ को ग्रहण करने वाली प्रत्यक्षात्मक विशद बुद्धि से भिन्न मानने में उसी प्रकार कोई बाधक नहीं है जैसे बाह्य अर्थ का ग्रहण न करनेवाली और स्वग्रहण-आन्तरवस्तुमात्र के ग्रहण में ही पर्यवसन्न होने वाली सुखादि विषयक बुद्धियों में बाह्य अर्थ को ग्रहण करनेवाली स्पष्ट बुद्धियों से भेद मानने में कोई बाधक नहीं है।

[निर्विकल्प प्रत्यक्ष से जातिसिद्धि की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-'निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूपा बुद्धि भी वस्तुगत्या जात्यादिविशिष्ट घटादिरूप अर्थ को ही ग्रहण करती है। उसी से दूसरे क्षण सविकल्पक बुद्धि उत्पन्न होती है जो जात्यादि वैशिष्ट्य को विषय करती है। तो इस प्रकार जब निर्विकल्पक बुद्धि वस्तुगत्या जात्यादिविशिष्ट अर्थ को विषय करती है तो उससे जात्यादि की सिद्धि अवश्य होगी क्योंकि उसकी प्रमाणता में कोई विवाद नहीं है'-तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जात्यादि के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता और जाति पदार्थ सत् भी नहीं है वह तो काल्पनिक है।

अथ तुल्याकारापि प्रतिपत्तिर्यदि निर्निमित्ता तदा सर्वदा भवेत् , न वा कदाचित् , व्यक्तिनिमित्तत्वे आम्रादिष्विव घटादिष्वपि तत्प्रसङ्गात् , व्यक्तिरूपताया अन्यत्रापि समानत्वादिति चेत् ? न, प्रतिनियतव्यक्तिनिमित्तत्वेनानतिप्रसङ्गात् । यथा हि ताः प्रतिनियता एव कुतश्चिद् निमित्तात् प्रतिनियतजातिव्यञ्जकत्वं प्रपद्यन्ते, तथा प्रतिनियतां तुल्याकारां प्रतिपत्तिमपि तत एव जनयिष्यन्ति, इति किमपरजातिकल्पनया ! यथा वा गडूच्यादयो भिन्ना एकजातिमन्तरेणापि ज्वरादिशमनात्मकं कार्यं निर्वर्तयन्ति, तथाऽऽम्रादयस्तरुत्वमन्तरेणापि 'तरुस्तरु:' इति प्रतीतिं जनयिष्यन्तीति किं तरुत्वादिकल्पनया ? ततो जात्यादेरभावाद् न तद्विशिष्टाध्यवसायिनी मतिरिति चेत् ?

यह स्पष्ट है कि अर्थ और ज्ञान इन दो व्यक्तिओं से अतिरिक्त शरीर के रूप में ग्राह्याकारता को स्पष्ट रूप से धारण करती हुई जाति बाह्यदर्शन में अवभासित नहीं होती है । यदि यह कहा जाय कि 'आम्रबकुलादि वृक्षों में 'अयं तरु:' इस रूप से तरु शब्द का उल्लेख करती हुई बुद्धि का अवभास आनुभविक है, अतः इस बुद्धि से तरुत्व जाति की सिद्धि सम्भव होने से जाति को असत् कहना असंगत है'-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि 'तरु: तरु:' इस विकल्प में तरुत्व का उल्लेख होने पर भी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्याकार में जाति का अवभास नहीं होता । अत. उक्त अनुभव से आम्रबकुलादि में होनेवाली प्रतीति की ही तुल्याकारता सिद्ध होती है । उस प्रतीति के विषयभूत आम्र बकुलादि वृक्षों में तुल्याकारता की सिद्धि नहीं होती ।

[जाति के विना तुल्याकार प्रतीति न होने की आशंका]

यदि इस पर यह कहा जाय कि-'शब्द और प्रतीति के विषयभूत अर्थ में जाति को माने विना शब्द और प्रतीति में भी तुल्याकारता नहीं हो सकती-' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि गोत्वादि जातियों की प्रतीतियों में 'जाति:' इस प्रकार की तुल्याकारता गोत्वादि जातियों में अन्य जाति को माने विना भी सिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि-'जाति:' इस प्रतीति के अनुरोध से गोत्वादि जातियों में भी जातित्व नाम की अन्य जाति मान ली जायगी और उसी से उन प्रतीतियों की तुल्याकारता सिद्ध होगी'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एसा मानने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी । क्योंकि जैसे घटत्वादि सामान्यों में 'जाति:' यह प्रतीति उपपन्न करने के लिये जातित्व नाम की जाति मानी जायगी, उसी प्रकार जातित्व में भी जातित्व नाम की जाति माननी होगी क्योंकि जातित्व को जाति मानने पर 'घटत्वादिकं जाति:' यह बुद्धि जिस प्रकार होती है उसी प्रकार 'जातित्वं जाति:' यह बुद्धि भी होगी । इस बुद्धि की उपपत्ति यदि उसी जातित्व से करेंगे तो आत्माश्रय होगा और यदि घटत्वादि में एक जातित्व और घटत्वादि एवं जातित्व में दूसरे जातित्व की कल्पना करके यदि प्रथम जातित्व से घटत्वादि में जाति प्रतीति की और दूसरे जातित्व से जातित्व में जाति की प्रतीति की उपपत्ति करेंगे तो फिर उस दूसरे जातित्व में 'जाति:' इस प्रकार की प्रतीति की उपपत्ति करने के लिये तीसरे जातित्व की कल्पना करनी होगी । इस प्रकार जातित्व की कल्पना का विश्राम ही नहीं होगा ।

[जाति के बिना बीजादि अवस्थामें 'तरुः' प्रतीति होने की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि "प्रतीति के विषयों में एक जाति का स्वीकार न करने पर भी यदि उन विषयों की प्रतीति में तुल्याकारता मानी जायगी तो इस का अर्थ होगा तुल्याकार बुद्धि किसी निमित्त बिना ही होती है। यदि उसका कोई निमित्त न होगा तब 'तरुः' इत्याकारक प्रतीति वृक्ष को अपनी अवस्था में ही न होकर उसकी बीजाङ्कुरावस्था में भी उस प्रतीति की आपत्ति होगी क्यों कि उसे किसी निमित्त की अपेक्षा है नहीं जिसके सद्भाव से वृक्ष की अवस्था में उस प्रतीति की उत्पत्ति का और बीजादि की अवस्था में उस निमित्त के अभाव से उस प्रतीति की अनुपपत्ति का उपपादन किया जाय। अथवा जब वह निमित्त के बिना होगी तो निमित्तहीन की उत्पत्ति अप्रमाणिक होने से वृक्षावस्था में भी उसकी प्रतीति नहीं होगी, अतः उक्त प्रतीति को तरुत्वजातिनिमित्तक मान कर बीजादि अवस्था में तरुत्व का असम्बन्ध और वृक्षावस्था में तरुत्व का सम्बन्ध मान कर उन विभिन्न अवस्थाओं में 'तरुः' इस प्रकार की प्रतीति की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का समर्थन करना आवश्यक है। 'तरु' इस प्रतीति को व्यक्तिनिमित्तक मान कर आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि वह प्रतीति व्यक्तिनिमित्तक होगी तो व्यक्ति-रूपता आम्रादि वृक्ष और घटादि द्रव्य में समान है अतः घटादि द्रव्य में भी 'तरुः' इस प्रकार की प्रतीति की आपत्ति होगी।"–किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'तरुः' इस प्रतीति के प्रति आम्र बकुलादि वृक्षों के प्रतिनियत व्यक्तिओं को ही निमित्त मानने से उक्त अतिप्रसंग का परिहार हो सकता है।

(व्यक्तिओं का प्रतिनियम जाति पर अवलम्बित नहीं है)

'आम्रबकुलादि व्यक्ति अनेक होने से उनका प्रतिनियमन दुर्घट होने के कारण उन्हें 'तरुः' इस प्रतीति का निमित्त मानना शक्य नहीं है'–यह शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि जातिवादी को भी प्रतिनियतजातियों की व्यञ्जक व्यक्तिओं को मानना ही पड़ता है। इसलिये व्यक्तिओं का प्रतिनियमन किसी न किसी निमित्त से करना ही होगा। अतः जिस निमित्त से अनेक व्यक्तियां प्रतिनियत होकर प्रतिनियतजाति की अभिव्यक्ति करेगी उसी निमित्त से प्रतिनियतव्यक्तियां ही तुल्याकार प्रतिनियत प्रतीति को भी उपपन्न कर सकती है, अतः प्रतीतियों की तुल्याकारता की उपपत्ति के लिये जाति की कल्पना अनावश्यक है। कहने का आशय यह है कि आम्र-बकुलादि विभिन्न वृक्षों में तरुत्व जाति की अभिव्यक्ति होती है किन्तु घटादि में नहीं होती है, वृक्ष की बीजादि अवस्था में भी नहीं होती है। अतः समस्त वृक्षों में जाति की अभिव्यक्ति और वृक्षभिन्न द्रव्यों में तरुत्व जाति की अनभिव्यक्ति को उपपन्न करने के लिए बीजजन्य द्रव्यत्व रूप से सम्पूर्ण वृक्षों का अनुगम कर उस निमित्त को ही सम्पूर्ण वृक्षों में तरुत्वजाति की अभिव्यक्ति का निमित्त मानना आवश्यक होता है और फिर उस तरुत्व से 'आम्र बकुलादि में 'तरुः' इस प्रतीति की तुल्याकारता का उपपादन होता है। विचार करने पर जातिवादियों की यह प्रक्रिया युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जो बीजजन्यद्रव्यत्व आम्रवृक्षादि में तरुत्व की अभिव्यक्ति का निमित्त होता है, उसी को उन वृक्षों में 'तरुः तरुः' इस तुल्याकार प्रतीति का सीधा कारण मान लेने पर भी प्रतीतियों की तुल्याकारता का उपपादन हो जाता है, अतः बीच में तरुत्व जाति की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

अत्रोच्यते-स्पष्टधूमाध्यवसायानन्तरमस्पष्टावभासाग्न्यनुमानाकारस्येव विशददर्शन-वपुषोऽर्थाकारादनन्तरमस्पष्टाकारविकल्पधियोऽननुभवादेकहेलयैव स्वलक्षणसंनिधौ जायमाना-ऽन्तर्बहिश्च स्थूलमेकं स्वगुणावयवात्मकं ज्ञानं घटादिकं चावगाहमाना मतिर्न निर्विकल्पिका न चानध्यक्षा, विशदस्वभावतयानुभूतेः । न च (म) विकल्पा-ऽविकल्पयोर्मनसोर्युगपदवृत्तेः क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेरेकत्वमध्यवस्यति जनः, इत्यविकल्पाध्यक्षगतं वैशद्यं विकल्पे स्वांशस्वार्था-ध्यवसायिन्याध्यारोपयतीति वैशद्यावगतिरक्तेति वाच्यम्. एवं ह्यनुभूयमानमेकाध्यवसायमपल-प्यानुभूयमानस्यापरनिर्विकल्पस्य परिकल्पने, बुद्धेश्चैतन्यस्याप्यपरस्य परिकल्पनया सांख्य-मतमप्यनिषेध्यं स्यात् ।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि एक कार्य के प्रति उसके कारणों को एकजातिरूप से ही कारण मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि गुडूचि (निम्ब के वृक्ष पर फैलने वाली अमीम लता) आदि विभिन्न द्रव्य एक जाति के बिना भी ज्वरादि के शमनरूप एक कार्य को सम्पन्न करते हैं। जिस प्रकार वे द्रव्य एक जाति के बिना ही एक कार्य को सम्पन्न करते हैं उसी प्रकार आम्र-बकुल आदि वृक्ष भी तरुत्व जाति के बिना ही 'तरुः तरुः' इस तुल्याकार प्रतीति को उत्पन्न कर सकते हैं। अतः इस प्रतीति की उपपत्ति के लिये तरुत्वादि की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार जब प्रमाण भाव से जात्यादि का अभाव सिद्ध है तो यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षु से होने वाला घटादि अर्थ का प्रत्यक्ष-ज्ञान वस्तुगत्या जात्यादि विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करता है [पूर्वपक्ष समाप्त।]

[निर्विकल्प से सविकल्प ज्ञान का उदय संभव नहीं-उत्तरपक्ष]

बौद्ध के इस सम्पूर्ण तर्क के विरुद्ध यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि विशद दर्शनात्मक स्वल-क्षणवस्तुग्राही निर्विकल्पक से सविकल्प बुद्धि का उदय नहीं माना जा सकता। क्योंकि विशददर्शन के बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान अविशदाकार होता है जैसे धूम के स्पष्ट अध्यवसाय के बाद होने वाला अग्नि का अनुमान अविशदाकार होता है। किन्तु प्रत्यक्ष स्थल में निर्विकल्पक के बाद किसी अस्प-ष्टाकार विकल्पात्मक ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है, अपितु अर्थ के साथ इन्द्रियसंनिकर्ष होने पर जो बुद्धि होती है वह स्थूल एक और स्वगुणात्मक अवयवों से युक्त घटादिबाह्य अर्थ को और अपने आन्तर ज्ञान स्वरूप को ग्रहण करती हुई ही अनुभूत होती है। इसीलिये न वह स्वयं निर्विकल्पक होती है और न वह निर्विकल्पकपूर्वक होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह बुद्धि प्रत्यक्ष से भिन्न होती है क्योंकि उस बुद्धि का विशदस्वभाव रूप में अनुभव होता है। यदि यह बुद्धि प्रत्यक्षात्मक न होती तो उसमें विशदस्वभावता का अनुभव न होता।

[सविकल्प बुद्धि विशदाकार न होने की आशंका]

इस पर बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"दो ज्ञानों के उत्पादन में मन की युगपत् प्रवृत्ति न होने से दो ज्ञानों का जन्म एक साथ नहीं हो सकता। अतः निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों क्रम से होते हैं कालव्यवधान के बिना शीघ्रता से ही दोनों के उत्पन्न होने से मनुष्य दोनों में एकत्व समझ लेता है इसीलिये वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के वैशद्य का स्वस्वरूप और स्वविषयीभूत

किञ्च, कोऽयं सविकल्पा-ऽविकल्पयोरैक्याध्यवसायः ? किं तयोर्वस्तुसदभेदपरिच्छेदः ? उत मिथस्तादात्म्याध्यासः ? आद्ये विरोधः । अन्त्ये च निर्विकल्पकं 'सविकल्पकम्' इति, सविकल्पकं च 'निर्विकल्पकम्' इति प्रतीयेत, 'शुक्ताविदं रजतम्' इतिवत्, न तु विशदाध्यक्षस्वरूपम् । अथ प्रमुष्टनिर्विकल्पकत्वस्य विशदत्वावच्छिन्नस्य निर्विकल्पकस्यैव सविकल्पकेऽध्यारोपाद् न दोषः । एतेन-'अविकल्पकाऽज्ञानाद् न तदध्यारोपः, न ह्यप्रतिपन्नरजतः शुक्ताविदं रजतम्' इत्यध्यवस्यति न वैशद्याध्यवसाय ईश्वराद्यध्यासवदुपपत्तिः, भ्रमविशेषाऽव्यवस्थिते:'-इत्युक्तावपि न क्षतिः, प्रागनुभूतस्यैव विशदस्यात्राभेदाध्यासात् , इति चेत् ? न, वैशद्यावलीढस्यैव तस्य प्रमीयमाणत्वेन तत्र तदारोपायोगात् । नहि तदपरं किंचिदनुभूयते यस्य वैशद्यं धर्मः कल्प्येत । एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमनुभूयमानं विशदत्वादि धर्माधारं परिकल्पयतः कस्तव मुखं पाणिना पिधत्ते ?

अर्थ को ग्रहण करने वाले सविकल्पक ज्ञान में उसका आरोप करता है। सविकल्पक बुद्धि वस्तुतः अविशदाकार ही होती है, उसमें वशद्य का भान आरोपात्मक है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो अध्यवसाय अनुभवसिद्ध है उसका अपलाप करके अनुभवबाह्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की कल्पना करने पर जैसे सविकल्पक के पूर्व अनुभवबाह्य निर्विकल्पक की कल्पना की जाती है उसी प्रकार उसके पूर्व बुद्धि की और चैतन्य की भी कल्पना की जा सकती है। जैसा कि सांख्यों का मत है कि चैतन्य के प्रतिबिम्ब को धारण करने वाली बुद्धि से ही निर्विकल्पक-सविकल्प आदि परिणामात्मक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। फलतः इस सांख्यमत का प्रतिषेध करना बौद्ध के लिए असम्भव हो जायगा।

बौद्ध की ओर से जो यह कहा गया है कि 'सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों की अव्यवहितोत्पत्ति होने से दोनों में मनुष्य को ऐक्य का निश्चय होता है' इस विषय में यह स्पष्ट करना होगा कि उन दोनों में जो ऐक्य का अध्यवसाय होता है वह दोनों के वास्तविक अभेद का परिच्छेदरूप होता है या वह दोनों में परस्पर तादात्म्य का अध्यास-भ्रमरूप होता है ? इन में से प्रथम पक्ष को मानने में विरोध है क्योंकि सविकल्पक और निर्विकल्पक में वस्तुतः भेद होता है। एवं दूसरे पक्ष में 'निर्विकल्पक सविकल्पक है' और 'सविकल्पक निर्विकल्पक है' इसप्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, जैसे इदन्त्व रूप से दृश्यमानशुक्ति और रजत का परस्पर तादात्म्य अध्यास 'इदं रजतम्' एवं 'रजतमिदम्' में होता है। किन्तु सविकल्पक का ऐसा ज्ञान नहीं होता है । वह तो विशद अध्यक्ष के रूप में अनुभूत होता है । यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-' निर्विकल्पक के दो रूप हैं-एक निर्विकल्पकत्व और एक विशदत्व । इन में निर्विकल्पकत्व का प्रमोष यानी त्याग होकर विशदत्वरूप से निर्विकल्पक का सविकल्पक में ऐक्यारोप होता है अतः 'निर्विकल्पकं सविकल्पकम्' इस प्रकार दोनों का ऐक्यारोप न होकर 'विशदं सविकल्पकम्' इस प्रकार होता है । इसलिये दोनों ज्ञानों में परस्पर तादात्म्य का अध्यासरूप ऐक्य का अध्यवसाय मानने में कोई दोष नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि-"सविकल्पक काल में निर्विकल्पक अज्ञात रहता है अतः सविकल्प में उसका अध्यारोप=तादात्म्यअध्यास नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वज्ञात वस्तु का ही कालान्तर में अध्यास होता है । यह सुस्पष्ट ही है कि जिसको रजत का ज्ञान पहले से नहीं होता

'अर्थसामर्थ्यप्रभवं वैशद्यं नालीकग्राहिणि सविकल्पके, किन्तु निर्विकल्पक एवे' ति चेत् ? न, अर्थसामर्थ्यप्रभवेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावात् , अनीदृशेऽपि च बुद्धादिज्ञाने तद्भावाद् वैशद्यादेरर्थप्रभवत्वाऽनियमात् ।

अथ दूरत्वादिदोषाभावोऽपि वैशद्ये नियामकः, बुद्धज्ञाने च चिरातीतभाविनामपि विषयाणां हेतुत्वाभ्युपगमाद् न दोष' इति चेत् ? न, चिरातीतादिविषयाणां येन स्वभावेन

उसको शुक्ति में रजत का अध्यारोप नहीं होता । इस संदर्भ में यह कहना उचित नहीं हो सकता कि-'जैसे ईश्वर का अध्यवसाय न होने पर भी ईश्वर का अध्यास होता है उसी प्रकार निर्विकल्पक का ज्ञान न होने पर भी उसका अध्यारोप हो सकता है'-क्योंकि ईश्वर के अध्यासरूप भ्रम में ईश्वर का विशेष रूप से अवभास नहीं होता किन्तु सामान्य रूप से तो अवभास होता है और वह सामान्य रूप भ्रम के पूर्व भी ज्ञात ही रहता है। जैसे नैयायिक के मत में अभ्युपगत "जगत् सकर्तृकम्" "जगत् कर्ता से जन्य है" यह ज्ञान अनीश्वरवादियों की दृष्टि से अवभास रूप है । इस में ईश्वर का अवभास कर्तृत्व रूप से होता है और कर्तृत्व भ्रम के पूर्व अज्ञात नहीं है किन्तु घटादि कर्ता कुम्हार में विदित है"-तो इस कथन से सविकल्पक में निर्विकल्पक के तादात्म्याध्यास में कोई क्षति हो नहीं सकती, क्योंकि निर्विकल्पक का निर्विकल्पकत्व अंश अज्ञात है इसलिये उस रूप से सविकल्पक में निर्विकल्पक का तादात्म्य अध्यास भले न हो किन्तु विशदत्वरूप से उसके तादात्म्याध्यास में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि विशद अंश पूर्व में अनुभूत है और बौद्ध को सविकल्पक में निर्विकल्पक से विशद अंश का ही तादात्म्याध्यास मान्य है।"-तो यह बौद्ध कथन ठीक नहीं है क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष विशद रूप में ही प्रमाणतः निर्णीत होता है । अतः प्रमाण से निर्णीत होने के कारण वैशद्य सविकल्पक का अनारोपित रूप है । अतः उसमें उसका आरोप नहीं हो सकता । सविकल्पक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ऐसी किसी वस्तु का अनुभव नहीं है जिससे वैशद्य को उसका वास्तविक धर्म मान कर सविकल्पक में उसकी कल्पना (आरोप) की जा सके और यदि वैशद्य सविकल्पक का वास्तविक धर्म होते हुए भी सविकल्पक में उसकी कल्पना मानी जायेगी तो विशदत्व को ही आधार मान कर इसके अनुसार सविकल्पक में अनुभूयमान अपर धर्म को भी यदि बौद्ध की ओर से काल्पनिक कहा जायेगा तो यह कहते हुए बौद्ध के मुख को हाथ से कौन बंध करे ? कहने का आशय यह है कि जो जिसका वास्तविक धर्म है उसमें उसका आरोप नहीं होता किन्तु उसकी प्रमा होती है । अन्यथा, यदि किसी एक वास्तविक धर्म को आरोपित माना जायेगा तो अन्य धर्म को भी उसी दृष्टांत से आरोपित मान लिये जाने से धर्मों का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जायेगा ।

यदि यह कहा जाय कि-'अर्थसामर्थ्य-यानी इन्द्रियार्थ संनिकर्ष अथवा अर्थक्रियाकारि प्रामाणिक अर्थ से वैशद्य निष्पन्न होता है, किन्तु सविकल्पक अलीक=काल्पनिक अर्थ का ग्राहक होता है इसलिये उसमें वैशद्य नहीं होता केवल निर्विकल्पक में ही वैशद्य होता है चूंकि वह अर्थसामर्थ्य से प्रादुर्भूत होता है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दूरस्थ वृक्षादि का ज्ञान भी अर्थसामर्थ्यजन्य होने पर भी उस में वैशद्य नहीं होता है और बुद्धादि योगियों का ज्ञान अर्थसामर्थ्यजन्य नहीं होने पर भी उसमें वैशद्य होता है । अतः वैशद्य का नियामक अर्थसामर्थ्यजन्यत्व नहीं हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि-'अर्थजन्यत्व यह दूरत्वादि दोषाभाव से सहकृत होकर वैशद्य का नियामक होता है-ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि पादपज्ञानस्थल में दूरत्व दोष है,

तत्तदनन्तरभाविकार्योत्पादकत्वम्, ते नैवेदानींतनसुगतज्ञानोत्पादकत्वे प्राक् पश्चाद् वैतदुत्पाद-प्रसङ्गात्, समनन्तरप्रत्ययस्येदानीमेव हेतुत्वे चोभयहेतुस्वभावविप्रतिषेधात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

अथान्येन स्वभावेन, तर्हि सांशं तत् प्रसज्यते, इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशिकवस्तु-ग्राहकत्वेन सविकल्पताप्रसक्तेः। दृष्टविपरीता च चिरातीतादीनां जनकत्वकल्पना, अन्यथाऽव्या-पारेऽपि धनप्राप्तेर्विश्वमदरिद्रं स्यात्। तस्माद् बुद्धज्ञानस्य निर्विकल्पस्यार्थप्रभवस्यापि वैशद्यमविरुद्धम्।

उसका अभाव नहीं है-और बुद्धज्ञान में चिरपूर्व विनष्ट और भावि विषय भी हेतु है, अत एव उसमें अर्थप्रभवत्व प्रयुक्त ही वैशद्य है। अतः वैशद्य में अर्थप्रभवत्व की व्याप्ति मानने में कोई बाधा नहीं है-किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि चिरातीत और भावि विषयों को यदि उसी स्वभाव से बुद्धज्ञान का कारण माना जायगा जिस स्वभाव से वह अपने उत्तर काल भावि ज्ञान का उत्पादक होता है तो एक निश्चितकाल में होने वाले सुगत ज्ञान की उस काल से पूर्व और पश्चात् भी उत्पत्ति का प्रसंग होगा। क्योंकि चिरातीत और भावि विषय अविद्यमान होते हुए भी यदि कालविशेष में बुद्धज्ञान को उत्पन्न कर सकते हैं-उस काल के पूर्व और पश्चात् भी बुद्धज्ञान को उत्पन्न करने में कोई बाधा नहीं हो सकती। इस प्रसंग में परिहार रूप में यह भी नहीं कहा जा सकता कि-'बुद्धज्ञान का समनन्तर प्रत्यय यानी अव्यवहितपूर्ववर्त्तिज्ञानरूप कारण कालविशेष में ही बुद्धज्ञान का हेतु है और वह उस कालविशेष के पूर्व अथवा पश्चात् हेतु नहीं है, अत एव चिरातीत और भावि विषयों के बुद्धज्ञानोत्पादक स्वभाव अनुवर्त्तमान होने पर भी निश्चितकाल के पूर्व और पश्चात् बुद्धज्ञान का प्रसंग नहीं हो सकता'-क्योंकि ऐसा मानने पर समनन्तर प्रत्यय और उक्त विषय इन दोनों हेतुओं के स्वभाव में विरोध होने से सुगत ज्ञान की अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा। अभिप्राय यह है कि यदि समनन्तर प्रत्यय को सामान्यतः वर्त्तमानकालीन सुगतज्ञान का ही हेतु माना जायगा तो अन्यकालीन सुगत ज्ञान के प्रति वह जनक न होगा। फलतः समनंतरप्रत्ययरूप कारण के अभाव में चिरातीत--भावि विषयों से अन्य कालीन सुगतज्ञान की अनुत्पत्ति होगी और यदि वर्त्तमान कालीन सुगतज्ञान के उत्पादक समनन्तर प्रत्ययविशेष को ही वर्त्तमानकालीन सुगतज्ञान का कारण माना जायगा तो तन्मात्र से ही वर्त्तमानकालीन सुगतज्ञान का सम्भव होने से वर्त्तमानकालीन सुगतज्ञान की चिरातीत भावि विषयों से अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा। अर्थात् वर्त्तमानकालीन ज्ञान चिरातीत-भावि विषय आधीनोत्पत्तिक न होगा। फलतः वर्त्तमान कालीन सुगत ज्ञान में वैशद्य अर्थप्रभवत्व का व्यभिचारी हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि-'चिरातीत-भावि विषय अन्य स्वभाव से वर्त्तमान कालीन सुगत ज्ञान का उत्पादक है, और जिस स्वभाव से वह वर्त्तमानकालीन ज्ञान का उत्पादक है उस स्वभाव से वह कार्यान्तर का उत्पादक नहीं है किन्तु भिन्न भिन्न स्वभाव से कार्यान्तर का उत्पादक है। अतः न तो चिरातीत भावि विषयों से अन्य कालीन सुगत ज्ञान की अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा और न वर्त्तमान कालीन सुगत ज्ञान की ही उन विषयों से अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा। अत सम्पूर्ण सुगत ज्ञान में चिरातीत-भाविविषयहेतुकत्व होने से सुगत ज्ञान में वैशद्य अर्थप्रभवत्व का व्यभिचारी नहीं हो सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है चूंकि ऐसा मानने पर तो चिरातीत और भावि विषयवृन्द सांश

अथ विकल्पस्य स्वभावत एव वैशद्यविरोधः, तदुक्तम्—

"न विकल्पानुबन्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता । स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं न च तत्तादृगर्थदृग् ॥१॥

इति चेत् ? न, स्वप्नदशायामपि स्मरणविलक्षणस्य पुरोवृत्तिहस्त्याद्यवभासिनो बोधस्य निर्विकल्पकत्वे, अनुमानस्यापि सांशवस्तुग्राहिणस्तथात्वप्रसङ्गे विकल्पवार्ताया एव व्युपरमप्रसङ्गात् ।

अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तिवस्तुनिर्भासिकल्पनाव्युपरमतो विशदमक्षप्रभवम-विकल्पकमेवानुभूयते, तदुक्तम्-"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति" इत्यादि । तथा–

"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥१॥" इति ।

अतो विकल्पे कदाचित् समनन्तरगृहप्रापिणि तद्वैशद्यमेवाध्यारोप्यत इति चेत् ? मैवम्, तस्यामप्यवस्थायां स्थिरस्थूरस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोऽवस्थितगवादिप्रतिभासस्यानुभूतेः सविक-

---

हो जायगा । इसलिये उस विषय को ग्रहण करने वाला ज्ञान सांश वस्तु का ग्राहक होने से सविकल्पक हो जायगा फलतः चिरातीत-भावि विषयों को ग्रहण करने वाला सुगत ज्ञान सविकल्पक हो जाने से सविकल्पक के ही धर्म रूप में वैशद्य की सिद्धि होगी । जब इस प्रकार वैशद्य सविकल्पक का ही धर्म सिद्ध हो गया, तब सविकल्पक में वैशद्य का आरोप मानना संगत नहीं हो सकता ।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि - चिरातीत-भावि विषयों में कारणत्व की कल्पना भी दृष्टविरुद्ध है क्योंकि चिरातीत-विषयों में कार्योत्पत्ति के अनुगुण कोई व्यापार नहीं हो सकता । व्यापार के बिना भी यदि लक्ष्य की प्राप्ति मानी जायगी तो विश्व में कोई दरिद्र न रह जायगा, क्योंकि धनप्राप्ति के लिये निरुद्यमी आलसी मनुष्य भी धनवान हो जायगा । अतः पूरे विचार का निष्कर्ष यही होता है कि बुद्धज्ञान अर्थप्रभव न होने पर भी जैसे विशद है उसी प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष भी अर्थप्रभव न होने पर भी विशद हो सकता है । अत एव सविकल्पक में निर्विकल्पक के वैशद्य का आरोप बताना कथमपि संगत नहीं हो सकता ।

यदि यह कहा जाय कि—"सविकल्पक में वैशद्य का स्वाभाविक विरोध है, जैसा कि विद्वानों ने इस एक कारिका में कहा है कि-सविकल्पक ज्ञान अर्थ का विशदावभासी नहीं होता है— क्योंकि स्वप्न में भी जो अर्थ का सविकल्पक ज्ञान होता है वह ज्ञान स्मरणात्मक एवं स्मृतिमूलक ही होता है । अत एव वह भी अर्थ का विशदग्राही नहीं होता ।"—तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्नदशा में भी हस्ती में पुरोवृत्तित्व का ग्राहक स्मरण से विलक्षण बोध होता है, वह अर्थ का विशदग्राही होता है इसलिये सविकल्पक में वैशद्य का स्वभावतो विरोध होने की उपपत्ति के लिये उस बोध को निर्विकल्पक मानना होगा । फलतः सांश वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान को जब निर्विकल्पक माना जायगा तो अनुमान में भी निर्विकल्पकत्व की प्रसक्ति होगी और इसका दुष्परिणाम यह होगा कि सविकल्पकज्ञान का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा । अतः सविकल्पक में निर्विकल्पक के वैशद्य का अध्यास होता है-बौद्ध का यह अभ्युपगम बाधित हो जायगा ।

ल्पकज्ञानानुभवस्यापह्नोतुमशक्यत्वात् । न हि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वम्, सद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाभ्युपगमात्, अन्यथाऽव्युत्पन्नसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावद् न स्यात् । अवश्यं च शब्दयोजनामन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमुपगन्तव्यम्, अन्यथा निकल्पाध्यक्षेण लिङ्गस्याऽप्यनिर्णयात् अनुमानात् तन्निर्णयेऽनवस्थानात् अनुमानस्याऽप्युच्छेदप्रसङ्गात् ।

[बौद्ध-विकल्पप्रवस्थानिवृत्ति में निर्विकल्प का उदय होता है]

यदि यह कहा जाय कि—सम्पूर्ण विकल्पावस्था से निवृत्त अर्थात् किसी भी प्रकार की काल्पनिक अवस्था को ग्रहण न करने वाला और पुरोवर्त्ति वस्तु मात्र को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय जन्य विशदज्ञान ही कल्पना से उपरत यानी कल्पना से रहित होने के नाते निर्विकल्प होता है और वह प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है। जैसा कि विद्वानों ने कहा है कि– कल्पना से मुक्त यानी काल्पनिक पदार्थ को ग्रहण न करने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। यही बात 'संहृत्य सर्वतः०' इस कारिका में इस प्रकार कही गई है कि–मनुष्य सारी चिन्ताओं का संहरण करके अर्थात् सम्पूर्ण विषयों से चित्त को हटाकर निश्चल चित्त से स्थिरभाव से जब चक्षु से किसी रूपको देखता है तब रूप की वह इन्द्रियजन्य बुद्धि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कही जाती है।'-इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वही होता है जिसमें किसी काल्पनिक अर्थ का भान नहीं होता। सुगत का ज्ञान यतः किसी काल्पनिक अर्थ को विषय नहीं करता अतः वह सविकल्पक नहीं है। एवं स्वप्नदशा में जो स्मृतिमूलक ज्ञान होता है जैसे पुरोवर्तित्वरूप से हस्तीआदि का ज्ञान-वह सम्पूर्ण विकल्प अवस्था से मुक्त नहीं होता, अत एव वह न निर्विकल्पक होता है न विशदावभासी होता है। अतः यह निर्विवाद है कि वैशद्य निर्विकल्पक का ही स्वभाव है। अतः जो सविकल्पक निर्विकल्पक के बाद में उत्पन्न होता है उसमें ही निर्विकल्प के वैशद्य का आरोप होता है।—

[विकल्प अवस्था निवृत्ति में सविकल्प का भी उदय सिद्ध है]

किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण विकल्पावस्था की अभाव दशा में भी सविकल्पक ज्ञान की अनुभूति होती है, जैसे गौ के साथ चक्षु का संनिकर्ष होने के बाद "स्थूल: गौः पुरःस्थितः" इस प्रकार के ज्ञान का होना सर्वानुभवसिद्ध है। इस ज्ञान में विषयभूत कोई भी वस्तु काल्पनिक नहीं है, क्योंकि क्षणिक बाह्यार्थवादी बौद्ध के मत में भी वस्तु उत्पत्तिक्षण में पुरःस्थित होती है और किसी रूपादि की समष्टि की अपेक्षा अधिक रूपादि की समष्टि रूप होने से स्थूल भी होती है। इस ज्ञान में शब्दसंसर्ग का प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि इस ज्ञान के समय उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ का बोधक शब्द ज्ञात नहीं होता। किन्तु उस ज्ञान का विषयभूत अर्थ शब्दसंसर्गयोग्य होता है क्योंकि वह अर्थ स्थूलता आदि धर्मों से भासित होता है। वस्तु निर्विकल्पकाल में ही शब्द संसर्ग के अयोग्य होती है, क्योंकि उस समय वस्तु में कोई भी धर्म गृहीत नहीं रहता और अर्थ में शब्द का संसर्ग धर्म द्वारा ही होता है। यह ज्ञान विशदार्थग्राही है एवं अनुभवसिद्ध है अतः इसका अपलाप शक्य नहीं है इसलिये यह कथन कि वैशद्य निर्विकल्पक ज्ञान का ही धर्म है, सविकल्प में उसका अध्यारोप होता है— युक्तिसंगत नहीं हो सकता।

किञ्च, एवं तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं स्यात् , यत्रैव हि पाश्चात्यं विधि-निषेधविकल्पद्वयं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यम् , विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणम् , तत्संयोजना च शब्दस्मरणाधीना, तच्च संबन्धतावच्छेदकप्रकारकसंबन्धिग्रहरूपार्थधीजन्यमिति । न चेदेवम् , गवानुभवाद् गोशब्दसंयोजनवत् क्षणिकत्वानुभवात् क्षणिकत्वशब्दसंयोजनापि स्यात् । एतेन

[सविकल्प ज्ञान में शब्दसंसर्ग भान न होने का कथन मिथ्या है]

यदि यह कहा जाय कि 'उक्तज्ञान सविकल्पक नहीं है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान वही होता है जिसमें शब्द संसर्ग का भान होता है ।' तो यह भी ठीक नहीं है-क्योंकि शब्दसंसर्ग को ग्रहण न करने वाला किन्तु शब्द संसर्ग योग्य अर्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान सविकल्पक माना जाता है । यदि शब्द संसर्ग को ग्रहण न करने वाले ऐसे शब्द संसर्ग योग्य अर्थ के ग्राहक ज्ञानको सविकल्पक नहीं माना जायगा तो जिस पुरुष को शब्दार्थ का संकेत ज्ञात नहीं होता है उस पुरुष का ज्ञान शब्दसंसर्ग का अवभासक न होने से सविकल्पक के समान प्रवर्त्तक-निवर्त्तक न हो सकेगा क्योंकि सविकल्पक ज्ञान ही प्रवर्त्तक निवर्त्तक होता है । यदि शब्दसंसर्गप्रतिभासी ज्ञान को ही सविकल्पक माना जायगा तो जिस ज्ञान में शब्दसंसर्ग का प्रतिभास नहीं होता है वह सविकल्प आत्मक न होने से उसके समान प्रवर्त्तक-निवर्त्तक भी न हो सकेगा ।

[अर्थनिर्णायक न होने पर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की असिद्धि]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि शब्दयोजना के बिना भी प्रत्यक्ष को अर्थनिर्णयात्मक मानना आवश्यक है, अन्यथा शब्द योजना युक्त ही अध्यक्ष को अर्थनिर्णयात्मक मानने पर सविकल्पकग्राही निर्विकल्पक से, निर्विकल्पक होने से शब्दयोजनाहीनहोने के कारण, निर्विकल्पक के अनुमापक सविकल्पकरूप लिंग का निर्णय न हो सकेगा । आशय यह है कि कल्पित नाम जाति आदि का ग्राहक होने से सविकल्प कल्पनात्मक-भ्रमरूप है । भ्रमरूप ज्ञान अधिष्ठानज्ञान से जन्य होता है, सविकल्प द्वारा गृह्यमाण नाम जाति का अधिष्ठानभूत गो आदि अर्थ निर्विकल्प से गृहीत होता है, अत: सविकल्पक प्रत्यक्षरूप कार्यात्मक लिंग से अधिष्ठानात्मक निर्विकल्पप्रत्यक्षरूप कारण अनुमित होता है, शब्दयोजना युक्त ज्ञान को ही अर्थ निर्णयात्मक मानने पर शब्दयोजनाहीन निर्विकल्पक से सविकल्पकज्ञान रूप लिंग का निर्णय न हो सकेगा, फलत: निर्विकल्पक की सिद्धि न हो सकेगी । यदि यह कहा जाय कि-'उक्तबाधावशप्रत्यक्ष से सविकल्पक का निर्णय न हो सकने पर भी अनुमान से उसका निर्णय होगा, जैसे गो आदि का व्यवहार गो आदि के सविकल्पक का कार्य है, अत: गो आदि के व्यवहार रूप कार्यात्मक लिंग से उसके कारण सविकल्पक रूप व्यवहर्त्तव्यज्ञान का अनुमान सुकर है'- तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से व्यवहारात्मक लिंग का भी निर्णय सम्भव न होने के कारण उसके लिये अन्य अनुमान की अपेक्षा होगी । परिणामत: अनवस्था की आपत्ति होगी । इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से सविकल्प रूप लिंग का निर्णय अशक्य होने से निर्विकल्पक के अनुमान का भी लोप हो जाने की आपत्ति होगी इसलिये शब्दयोजना के अभाव में भी अध्यक्ष को अर्थ-निर्णयात्मक मानना आवश्यक है ।

[प्रत्यक्ष से क्षणिकत्वनिर्णय की आपत्ति]

यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि शब्दयोजना के बिना अध्यक्ष को अर्थनिर्णयात्मक न माना जायगा तो अध्यक्ष का प्रामाण्य ही अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि यह नियम है कि अध्यक्ष अपने

अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनेऽपि तदा गोशब्दसंयोजनाभावाद् युगपद्विकल्पद्वयानुपपत्तेश्च निर्विकल्पमेव गोदर्शनम् इति **निरस्तम्** , गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात् , अन्यथा तत्स्मरणानुपपत्तेश्च तत्प्रकारकनिश्चयस्यैव तत्प्रकारकसंशयविरोधित्वात् अन्यथा क्षणिकत्वादावपि स्मरणाऽसंशयप्रसङ्गात् ।

उत्तरकाल में जिस विषय में विधिविकल्प अथवा निषेधविकल्प इन दो विकल्पों का उत्पादन करता है उसी विषय में वह प्रमाण होता है-जैसे गोविषयक अध्यक्ष के बाद उस अध्यक्ष द्वारा गृहीत गो रूप अर्थ में 'अयं गौः' इस विधिविकल्प का और गो भिन्न में 'अयं न गौः' इस निषेधविकल्प का जन्म होने से गोग्राहि अध्यक्ष गोरूप अर्थ में प्रमाण होता है, गो से भिन्न का ग्राही प्रत्यक्ष गौ से इतर रूप अर्थ में प्रमाण होता है और विकल्प वही ज्ञान होता है जो शब्दसंसृष्टार्थ को ग्रहण करता है । शब्द की योजना शब्दस्मरण से सम्पन्न होती है और शब्द स्मरण उस अर्थज्ञान से होता है जो सम्बन्धिता-वच्छेदकप्रकारकसम्बन्धिविशेष्यकज्ञानरूप होता है । क्योंकि, एकसम्बन्धि ज्ञान अपरसम्बन्धि का स्मारक होता है -इस न्याय से ही अर्थज्ञान शब्दस्मरण का जनक होता है । यदि इस क्रम से अर्थ में शब्द की संयोजना न मानकर अध्यक्ष के बाद ही सीधे अर्थ के साथ शब्द की योजना मानी जायगी तो जैसे गोविषयक अनुभव से गोरूप अर्थ में गो शब्द की संयोजना होती है उसी प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्ष-रूप क्षणिकत्व के अनुभव से भी निर्विकल्पक द्वारा गृहीत अर्थ में क्षणिकत्व शब्द की योजना हो जायगी । फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही क्षणिकत्व का निर्णय हो जाने से क्षणिकत्व के अनुमान का उत्थान न हो सकेगा ।

[शब्द योजना हीन भी अध्यक्ष अर्थनिर्णायक है]

उक्तक्रम से अध्यक्षगृहीत अर्थ में शब्दसंयोजना मानने के विरुद्ध किसी का यह कथन कि 'अश्व के विकल्पकाल में जब गो दर्शन होता है तब एक काल में विकल्पद्वय की उत्पत्ति मान्य न होने से उस समय गोविकल्प का अभाव होने के कारण गो रूप अर्थ में गोशब्द का संयोजन न हो सकेगा । फलतः गो दर्शन निर्विकल्प अर्थात् अनिर्णयात्मक ही रह जायगा ।' ठीक नहीं है क्योंकि गो शब्द की संयोजना के बिना भी गोदर्शन निर्णयात्मक होता है । यदि ऐसा न माना जायगा तो गो शब्द की संयोजना से हीन गो दर्शन के बाद गौ का स्मरण न होगा, क्योंकि समान प्रकारक अनुभव ही समान प्रकारक स्मरण का हेतु होता है । शब्दसंयोजनाहीन दर्शन को निर्णयात्मक न मानने पर उस दर्शन काल में समानप्रकारक अनुभव का अभाव होगा । शब्दयोजनाहीन दर्शन को निर्णयात्मक न मानने पर शब्दयोजनाहीन गोदर्शन के बाद गोत्वप्रकारक संशय की भी आपत्ति होगी, क्योंकि शब्दसंयोजनाहीन गो का दर्शन गोत्वप्रकारक निश्चय नहीं है और तत्प्रकारक निश्चय ही तत्प्रकारक संशय का विरोधी होता है । यदि इस दोष का परिहार करने के लिये स्मरण और अनुभव में समान प्रकारकत्वरूप से कार्य कारणभाव न मानकर समानविषयकत्वरूप से ही कार्यकरण भाव माना जाय और संशय तथा निश्चय में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव भी समानप्रकारत्व रूप से न मानकर समान-विषयकत्व रूप से ही माना जाय तो क्षणिक अर्थग्राही निर्विकल्पक से भी क्षणिकत्वरूप से निर्विकल्प-गृहीत अर्थ के स्मरण की तथा निर्विकल्पकगृहीत अर्थ में क्षणिकत्व के संशयाभाव की आपत्ति होगी ।

अथ ''क्षणिकत्वादेर्निर्विकल्पकैकवेद्यत्वात् तदगृहीतकल्पत्वाद् न दोषः, तदाह धर्मकीर्तिः-पश्यन्नपि न 'पश्यतीत्युच्यते' इति न दोष'' इति चेत् ? न, तच्चित्तनाशेऽपि तथात्वप्रसङ्गात्। 'तत्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोष' इति चेत् ? न, स्मरणरूपतदनुत्पत्तेरनुत्तरत्वात्। 'तत्र विस्तीर्णप्रघट्टकानुभवे सकलवर्णपदाद्यस्मरणवदुपपत्तिरिति' चेत् ? न, मम विस्तीर्णप्रघट्टकस्थले वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदाद् दृढसंस्कारस्यैव निश्चयस्य स्मृतिजनक-

(क्षणिकत्व के स्मरणादि की आपत्ति का प्रतिकार-बौद्ध)

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'क्षणिकत्व केवल निर्विकल्पक से ही वेद्य होता है अत एव वह अनिर्णीतसदृश होता है। अतः क्षणिकत्व के स्मरण और संशयाभाव की आपत्ति नहीं हो सकती चूं कि स्मरण निर्णीत का ही होता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है 'पश्यन्नपि न पश्यति' अर्थात् ''मनुष्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से वस्तु को देखते हुये भी वस्तु का निर्णय नहीं कर पाता। अतः उक्त दोष नहीं हो सकता।''-तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक मात्र से वेद्य होने के कारण यदि क्षणिकत्व अनिर्णीत माना जायगा तो उसी कारण चित्तनाश यानी दर्शनाश भी अनिर्णीत होगा। फलतः जैसे निर्विकल्पक के बाद निर्विकल्प से गृहीत अर्थ में क्षणिकत्व का संशय होता है उसी प्रकार निर्विकल्पक से गृहीत घटादि के दर्शनाश का भी 'घटादिर्दृष्टो न वा' इस प्रकार संशय की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि 'क्षणिकत्व का विकल्प नहीं होता किन्तु दर्शनाश का विकल्प होता है अत एव दर्शनाश निर्णीत हो जाने से उक्त दोष नहीं हो सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर काल में दर्शनाश का स्मरणरूप विकल्प न होने से 'पूर्वकाल में दर्शनाश के विकल्प की उत्पत्ति होती है' यह उत्तर नहीं माना जा सकता, क्योंकि उत्तरकाल में जिसका स्मरण नहीं होता-पूर्वकाल में उसका निर्णयात्मक विकल्प नहीं सिद्ध हो सकता।

(पद-वर्ण की अस्मृति से दर्शनाश के अनुभव का समर्थन अशक्य)

यदि बौद्ध की ओर से इस पर यह कहा जाय कि-'जैसे प्रतिवादी के मत में ग्रन्थ के किसी विस्तीर्ण प्रकरण का जब विकल्पात्मक अनुभव होता है तो उस प्रकरण के अन्तर्गत सम्पूर्ण वर्ण-पद आदि का भी विकल्पात्मक अनुभव होता ही है किन्तु उत्तरकाल में सम्पूर्ण पदार्थ का स्मरण नहीं होता है तो जैसे विस्तीर्ण प्रकरणघटक अनेक वर्ण और पदों का विकल्पानुभव होने पर भी उत्तरकाल में उसका स्मरण नहीं होता है किन्तु स्मरण न होने से उनके पूर्व विकल्पानुभव का अस्वीकार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कालान्तर में स्मरण न होने पर भी दर्शनकाल में दर्शनाश के विकल्पानुभव की उत्पत्ति का अस्वीकार नहीं किया जा सकता'-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी के मत में किसी ग्रन्थ के विस्तृत प्रकरण के अन्तर्गत जो कतिपय वर्ण-पदादि का पूर्व में विकल्पानुभव होने पर भी कालान्तर में सभी का स्मरण नहीं होता है किन्तु कतिपय वर्ण और पदों का ही स्मरण होता है इस स्मरण की उपपत्ति यह मान कर की जा सकती है कि दृढसंस्कार का उत्पादक निश्चय ही स्मृतिजनक होता है। विस्तृत प्रकरण के घटक वर्णपदादि और उनके ज्ञान भिन्न भिन्न होते हैं अतः जो ज्ञान अपने विषयभूत पदादि का दृढसंस्कार उत्पन्न नहीं करते उनसे उनके विषयभूत पदादि का स्मरण नहीं होता। जो ज्ञान अपने विषयभूत पदादि का दृढसंस्कार

त्वेन नियमसंभवात् । तत्र तु निरंशानुभवस्यांशे विकल्पजनना-ऽजननस्वभावभेदस्य शक्तिभेदस्य, पाटवा-ऽपाटवादेर्वा न संभव इत्युक्तत्वात् । 'एकस्यापि सहकारिसाचिव्येन तद्विकल्पस्यैव जनकत्वं, नान्यविकल्पस्य' इत्यभ्युपगमे स्थिरस्यापि सहकारिसाचिव्या-ऽसाचिव्याभ्यां कार्यजनकत्वा ऽजनकत्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्, कुम्भकारादिसहकृतस्य मृदादेर्घटाद्यन्वय-व्यतिरेकदर्शनवदभ्यासादिसहकृतस्य निर्विकल्पस्य कदापि विकल्पान्वय-व्यतिरेकाऽग्रहणेनाभ्यासादिसहकृतस्य निर्विकल्पस्य कदापि विकल्पान्वय-व्यतिरेकाऽग्रहणेनाभ्यासादिसहकृतस्याऽविकल्पस्य विकल्पजनकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च ।

अथ ❀ तत्फलसाधर्म्याद् अक्षणिकत्वादिसमारोपाद् वा क्षणिकत्वाद्यनुभवेऽपि न निश्चयः, अनिश्चयस्वरूपस्याऽऽरोपस्य समारोपाऽप्रतिपन्थित्वात् । तदुक्तम्—

उत्पन्न करते हैं वे ज्ञानविषयभूत पदार्थ के स्मरण के हेतु होते हैं । बौद्ध की ओर से इस प्रकार का समाधान नहीं किया जा सकता चूंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक अनुभव निरंश होता है इसलिये यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह अमुक अंश से विकल्प का जनक है और अमुक अंश से विकल्प का अजनक है । तथा अंशभेद के बिना विकल्पजनकत्व और विकल्पाऽजनकत्व ये दो परस्पर विरोधी स्वभाव नहीं उपपन्न हो सकते । अथवा अमुक अंश में विकल्प के जनन की शक्ति है और अमुक अंश में विकल्प के जनन की शक्ति नहीं है, अथवा अमुक अंश में विकल्प उत्पादन में पटुता है और अमुक अंश में विकल्प उत्पादन में नहीं है-ऐसा नहीं कह सकते इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त अनुभव अपने विषयभूत अमुकअंश के विकल्प का जनक है और अमुक अंश के विकल्प का अजनक है ।

(सहकारी के सांनिध्य और असांनिध्य का कथन व्यर्थ है)

यदि यह कहा जाय कि '-उक्त अनुभव निरंश एक व्यक्ति रूप होने पर भी सहकारी के सान्निध्य से विषय के विकल्प की जनकता और सहकारी सान्निध्य के अभाव में अन्य विषय के विकल्प की अजनकता होती है''-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर स्थिर भाव में भी सहकारी के सान्निध्य और असान्निध्य से कार्यजनकत्व और कार्याऽजनकत्व का अभ्युपगम प्रसक्त

❀ तत्फलसाधर्म्यात् :—

विषयबोधक पद से विषयी का बोध अनेकत्र अभियुक्तों को सम्मत है-उसके अनुसार उक्त पद में 'साधर्म्य' शब्द का अर्थ है साधर्म्य ज्ञान और तत्फल शब्द का अर्थ है क्षणिकत्व का फलज्ञान और ज्ञान की विषयता विषयाधीन होने से उसे विषय का फल कहा जाता है और विशेषण में विद्यमान धर्म का विशिष्ट में व्यवहृत होना भी अभियुक्तसम्मत है इसलिये तत्फल शब्द का अर्थ है क्षणिकत्व का फलभूताऽक्षणिकत्वप्रकारक निर्णय विषयीभूत अर्थ=निर्णीतक्षणिक । तत्फल शब्द के अर्थ से अन्वित साधर्म्य शब्दार्थ का तत्पद के पूर्व में श्रुत नञ् पदार्थ-अभाव के साथ अन्वय होने से उक्त पद का अर्थ है क्षणिकत्वरूप से निर्णीत अर्थ के साधर्म्यज्ञान का अभाव।

"एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥१॥
नो चेद् ? भ्रान्तिनिमित्ते न संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौ वा रजताकारो रूप्यसाधर्म्यदर्शनात् ॥२॥" इति चेत् ?

न, क्षणिकत्वादाविव सच्चेतनत्वादावप्यनिश्चयप्रसङ्गात्, वस्तुनो निरंशत्वात्, अनि-

होगा। जिस के फलस्वरूप भावमात्र की क्षणिकता का सिद्धान्त ही धराशायी हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि-निर्विकल्प के सम्बन्ध में सहकारी के सान्निध्य और असान्निध्य से कार्यजनकत्व और कार्याजनकत्व की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि यह कल्पना वहां होती है जहां सहकारीसम्पन्न हेतु में कार्य का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञात रहता है जैसे कुम्भकार आदि से सहकृत मृदादि द्रव्य में घटादि कार्य के अन्वय-व्यतिरेक का दर्शन होने से कुम्भकारादि सहकृत मृदादि में घटादि की जनकता का निश्चय होता है। किन्तु अभ्यास आदि से सहकृत निर्विकल्पक के अन्वय-व्यतिरेक में विकल्प के अन्वयव्यतिरेक का दर्शन सिद्ध नहीं है। अतः अभ्यासादि सहकृत निर्विकल्पक में विकल्पविशिष्टज्ञान के जनकत्व की कल्पना न्यायसंगत नहीं है।

[क्षणिकत्व का विकल्पानुभव न होने का कारण-बौद्ध]

इस सम्बन्ध में बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"घटादि के निर्विकल्पकाल में यद्यपि घटादि के क्षणिकत्व का भी अनुभव होता है, तो भी उसका विकल्प नहीं होता-इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि क्षणिकत्व के विकल्प का कारण संनिहित नहीं रहता और दूसरा यह कि क्षणिकत्व के विकल्प का विरोधी सन्निहित रहता है, जैसे-क्षणिकत्व के विकल्प का कारण है क्षणिकत्व का फल=निर्णीतक्षणिक के साधर्म्य का ज्ञान। वह निर्विकल्पककाल में नहीं रहता-इसलिये कारण के अभाव में क्षणिकत्व के विकल्प का न होना उचित ही है। और उसका न होना इसलिये भी उचित है कि उनका विरोधी सन्निहित रहता है-जैसे क्षणिकत्व के विकल्प का विरोधी है अक्षणिकत्व का आरोप, उस आरोप के उपस्थित होने से क्षणिकत्व का विकल्प नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि-'क्षणिकत्वग्राही अध्यक्ष ही अक्षणिकत्व के आरोप का प्रतिबन्धक हो जायगा अतः अक्षणिकत्व का आरोप नहीं हो सकता' क्योंकि अक्षणिकत्व के आरोप का प्रतिबन्धक क्षणिकत्व क निश्चय होता है और बौद्धमत में निर्विकल्प प्रत्यक्ष निश्चयरूप नहीं होता।

इसी विषय को 'एकस्यार्थ०' इस कारिका से भी स्पष्ट किया गया है। "प्रत्येक अर्थ अपने निर्विकल्प काल में अभिन्न स्वभाव से प्रत्यक्षगृहीत होता है-उस का कोई भी भाग ऐसा नहीं होता जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष से दृष्ट न होता हो और जिस की परीक्षा अन्य प्रमाणों से अपेक्षित हो।"

"निर्विकल्पक के बाद उस के विषयभूत अर्थ में जो गुणान्तर का संयोजन होता है वह भ्रम के निमित्त से सम्पादित होता है, क्योंकि गुणान्तर संयोजना (गुणान्तरसंबन्ध का ज्ञान) भ्रमरूप होती है। यदि अर्थ का निर्विकल्पकप्रत्यक्ष से अदृष्ट भी कोई भाग माना जायगा तो वह सविकल्पक काल में उस अर्थ में गृहीत होनेवाला गुणान्तर ही हो सकता है जिसका संयोजन निर्विकल्पक गृहीत अर्थ में सम्बन्धज्ञान=भ्रान्त सविकल्प प्रत्यक्ष के निमित्त से उत्पन्न होता है। एवं यह भी कहा जा सकता है कि

श्चितस्यानुभवे मानाभावाच्च । 'नान्तरीयकत्वादेकानुभवोऽन्यानुभवे मानमि'ति चेत् ? न, चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाऽग्रहणतस्तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात्, द्वित्वे तस्य भ्रान्तत्वेऽपि चन्द्रेऽभ्रान्तत्वात्, प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहारिजनापेक्षत्वात्. "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्" इति त्वयैवाभिहितत्वात् अन्यथैकचन्द्रदर्शनस्यापि चन्द्ररूपे प्रमाणता, क्षणिकत्वे चाप्रमाणता, इति रूपद्वयस्याभ्युपगमविरोधात् ।

रजताकार शुक्ति का ही एक भाग है जो शुक्तिस्वरूप से शुक्तिग्रहणकाल में अदृष्ट रहता है और जब शुक्ति का केवल इदन्त्वरूप से ग्रह होता है तब रजतसादृश्यदर्शन से शुक्तिस्वग्रहणकाल में अदृष्ट रजताकार का ग्रहण होता है ।" किन्तु यह वास्तविक स्थिति नहीं है, इसलिये तथ्य यह है कि निर्विकल्प काल में गृहीत होने वाले क्षणिक अर्थ का कोई भी भाग अदृष्ट नहीं रहता । किन्तु दृष्ट होने पर भी अनिर्णीत रहता है ।"—

[क्षणिकत्ववत् सद् अंश के अनिश्चय की बौद्ध को आपत्ति]

यह बौद्ध वचन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष से दृष्ट होने पर भी जैसे क्षणिकत्वादि का निर्णय नहीं होता उसी प्रकार निर्विकल्प से गृहीत होने पर भी सदंश का और दर्शनांश का भी निश्चय नहीं होगा क्योंकि निर्विकल्पगृहीतत्व रूप से उन सभी अंशो में कोई अन्तर नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'क्षणिकत्व, सदंश और दर्शनांश में निर्विकल्पकगृहीतत्व समान होने पर भी क्षणिकत्व का निश्चय न होने और सदंश दर्शनांश का निश्चय होने में कुछ बीज है और वह बीज यह है कि अक्षणिकत्व के आरोप से क्षणिकत्वनिश्चय का प्रतिबन्ध । तथा सदंश एवं दर्शनांश के निश्चय के बीज है उनके विरोधी अंशों के आरोप का अभाव । इस अन्तर की कल्पना का साधक है उत्तरकाल में क्षणिकत्व के संशय का होना और सदंश तथा दर्शनांश के संशय का न होना"-किन्तु इस कथन से भी बौद्ध मत का समर्थन नहीं हो सकता । क्योंकि निर्विकल्पक अनुभव वस्तुगत्या निरंश अर्थात् अंशविशेष का अग्राहक होता है या तो वह अपने विषयभूत अर्थ के सभी अंशों को उस अर्थ के रूप में ही ग्रहण करता है । अतः निर्विकल्पक द्वारा उस के विषयभूत अर्थ के अंशों का विश्लेषण न हो सकने से इस प्रकार की कल्पना कि 'उस का विषयभूत अमुक अंश निश्चित होता है और अमुक अंश अनिश्चित होता है'-नहीं हो सकती । यदि इस के समाधान में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-'यह कल्पना निर्विकल्पक के अव्यवहितोत्तरक्षण में नहीं हो सकती यह तो ठीक है किन्तु सविकल्पक के बाद इस कल्पना में कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि सविकल्पक से पूर्वगृहीत अर्थ के अंशों का विश्लेषण हो जाता है'- तो बौद्ध का यह कथन भी उस के मत को निर्दोष करने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि बौद्ध मत में क्षणिकत्व का निश्चय न मानने पर भी निर्विकल्पक काल में उस का अनुभव माना जाता है जिस में कोई प्रमाण नहीं है ।

यदि इस के उत्तर में बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-'सत्त्व का अनुभव तो उसके निश्चय द्वारा प्रामाणिक है और सत्त्व यह 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इस व्याप्ति से क्षणिकत्व का नान्तरीयक है अतः सत्त्व के अनुभव से क्षणिकत्व के अनुभव का अनुमान हो सकता है जिस का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है-क्षणिकत्वं सत्त्वानुभवकालीनानुभवविषयीभूतं -सत्त्वनान्तरीयकत्वात् । यत्

यस्य तु मतम्—दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वेऽविसंवादाभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाणम्, तस्य चन्द्रप्राप्त्यभिमानिनः किमिति चन्द्रमात्रे तद् न प्रमाणम्? अथ दोषजन्ये द्विचन्द्रादिज्ञाने चन्द्रस्यापि न परमार्थसतो भानम्, किन्तु प्रातिभासिकसत्त्वावलीढस्यारोपितस्यैव, इति न तद्ग्रहात्तदेकत्वग्रहः। अभ्रान्तस्यांशे प्रामाण्याऽप्रामाण्यद्वैरूप्यमपि व्यावहारिकमेव, पारमार्थिकस्तु तत्र सद्विषयत्वरूपं प्रामाण्यमेव। अभ्यासदशायां दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वाध्यवसायात् 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्' इत्यपि व्यवहारादेव

यन्नान्तरीयकं तत् तदनुभवकालीनानुभवविषयत्वावत् यथा रूप-रूपाश्रयौ=क्षणिकत्व सत्त्व के अनुभव काल में अनुभूयमान होता है क्योंकि वह सत्त्व का नान्तरीयक है। जो जिस का नान्तरीयक होता है वह उस के अनुभवकाल में अनुभूयमान होता है जैसे रूप अपने आश्रय द्रव्य के अनुभवकाल में अनुभूयमान रहता है'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि तैमिरिक तिमिररोगग्रस्त नेत्रवाले मनुष्य को चन्द्र द्वय का दर्शन होता है किन्तु उस काल में चन्द्रनान्तरीयक चन्द्र के एकत्व का अनुभव नहीं होता इसलिये उक्त नियम में व्यभिचार है। यदि इस के विरुद्ध, जो जिस का नान्तरीयक होता है वह उस के अभ्रान्त अनुभवकाल में अनुभूयमान होता है-यह नियम मानकर इस दोष का समाधान किया जाय—तो यह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि चन्द्रद्वय का दर्शन द्वित्वअंश में भ्रान्त होने पर भी चन्द्रांश में अभ्रान्त होता है। एक ही ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणेतर अर्थात् एकज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य की व्यवस्था को दुर्घट भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस व्यवहर्त्ता पुरुष को चन्द्रद्वय दर्शन का ज्ञान और चन्द्र में द्वित्व का बाध ज्ञान है वह चन्द्रद्वयदर्शन में द्वित्वांश में अप्रामाण्य और चन्द्रांश में प्रामाण्य की व्यवस्था कर सकता है, क्योंकि बौद्ध का ही यह कथन है कि 'प्रामाण्य व्यवहार आधीन होता है (जैसे भावस्थैर्यवादी भाव स्थैर्य बुद्धि में प्रामाण्य का व्यवहार करता है) और शास्त्र से मोह की व्यवहारमात्र मूलक निवृत्ति होती है'। यदि एक ज्ञान में अंशभेद से प्रामाण्य-अप्रामाण्य न माना जायगा तो एक चन्द्र का दर्शन चन्द्रांश में प्रमाण होता है और क्षणिकत्व अंश में प्रमाण नहीं होता है चूंकि क्षणिकत्व प्रत्यक्ष से अनिर्णीत रहता है इस प्रकार एक ही ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य इन दो रूपों के बौद्ध अभ्युपगम का विरोध होगा।

[अविसंवादाभिमानी को चन्द्रद्वय दर्शन चन्द्रांश में प्रमाण ही है]

इस सम्बन्ध में किसी का यह मत है कि-'दृश्य और प्राप्य के एकत्व में जिसे अविसंवाद= अविरोध का अभिमान होता है उसी की दृष्टि से दर्शन प्राप्त अर्थ में प्रमाण होता है और जिसको इस प्रकार अविसंवाद का अभिमान नहीं होता उसे दृश्य और प्राप्य में विवेक=भेदज्ञान होने से उस की दृष्टि से अनुभूत अर्थ में भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता क्योंकि उसे दर्शन में गृहीतार्थ के प्रापकत्वरूप प्रामाण्य का ग्रह नहीं होता अतः चन्द्रद्वय का दर्शन चन्द्रांश में भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि चन्द्रद्वय रूप दृश्य और एकचन्द्ररूप प्राप्य इन दोनों के ऐक्य में द्रष्टा को अविसंवाद अभिमान नहीं है इसलिये वह ज्ञान चन्द्रांश में भी अप्रमाण ही है'—किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि चन्द्रद्वय के दर्शन के बाद जिसे चन्द्रप्राप्ति का अभिमान होता है उसे दृश्यचन्द्र और प्राप्यचन्द्र के एकत्व में अविसंवाद का अभिमान होने से उस की दृष्टि में चन्द्रद्वय का दर्शन चन्द्रमात्र में प्रमाण क्यों नहीं होगा?

प्रज्ञाकरस्याभिमतम्, मण्यादिप्राप्यसंसर्गिदृश्यमणिप्रभाद्यवच्छेदेनोपप्लवमहिम्ना मण्याद्यारोपाददूरदेशप्रवृत्तिदर्शनात् तथाव्यवहारप्रवृत्तिरिति चेत् ? न,

चन्द्रे द्वित्वस्येव चन्द्रस्य मिथ्यात्वेनाऽननुभवात्, तस्य परमार्थतोऽसत्त्वे मानाभावात्, अध्यक्षेऽपारमार्थिकद्वैरूप्यस्य संबन्धाभावात्, तद्व्यवहाराऽयोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, आरोपिताध्यक्षे आरोपितद्वैरूप्यस्य विकल्पेन विषयीकरणे च पारमार्थिकस्य तस्याऽप्रवर्त्तकत्वात् विकल्पस्यैव प्रवर्त्तकस्य परमार्थतः प्रामाण्यौचित्यात्।

[चन्द्रद्वय द्रष्टा को कल्पित चन्द्र का भान-बौद्ध]

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि 'चन्द्रद्वय का ज्ञान दोषजन्य होने से उस में पारमार्थिक चन्द्र का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु प्रातिभासिक सत्ता युक्त-कल्पित चन्द्र का ही भान होता है। इसलिये आरोपित चन्द्रग्राही चन्द्रद्वयदर्शनकाल में चन्द्र के एकत्व का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि चन्द्र का एकत्व वास्तविकचन्द्र का नान्तरीयक है न कि आरोपित चन्द्र का, तथा अध्यक्ष में अंश भेद से जो प्रामाण्य अप्रामाण्य ये दो रूप माने जाते हैं वे भी व्यवहारिक नहीं है। बौद्ध के इस कथन पर यह शंका नहीं की जा सकती कि 'जब वह चन्द्रद्वयदर्शन को सर्वांश में अप्रमाण बताकर एक ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य को अस्वीकार करना चाहता है तो अध्यक्ष=निर्विकल्पप्रत्यक्ष को उस ने क्षणिकत्वांश में अप्रमाण और सदंश में प्रमाण, इसप्रकार दो रूप में कैसे स्वीकार किया'?–क्योंकि अध्यक्ष में प्रामाण्य- अप्रामाण्य यह द्वैरूप्य बौद्ध मत में केवल व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं है-पारमार्थिक तो केवल प्रामाण्य ही है। व्यावहारिक जो द्वैरूप्य कहा गया है वह तो अभ्यास दशा में 'भाव स्थिर होता है' इस अनादि प्रवृत्त संस्कार के कारण दृश्य-प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होने से प्रामाण्य का व्यवहार और उस अध्यवसाय के अभाव में अप्रामाण्य का व्यवहार होने के कारण। प्रामाण्य-अप्रामाण्य द्वैरूप्य व्यवहारमूलक होने से ही प्रज्ञाकर को भी यही अभिमत है कि प्रत्यक्ष परमार्थतः प्रमाण ही होता है।

[मणिप्रापक मणिप्रभामणिदर्शन में प्रामाण्य क्यों नहीं ?]

इस पर प्रश्न हो सकता है कि-यदि दृश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय व्यावहारिक प्रामाण्य का मूल हो तो मणिप्रभा में मणि दर्शन होने के बाद मणिअर्थी को मणिकी प्राप्ति होने पर दृश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होता है अतः मणिप्रभा में होनेवाले मणिदर्शन में भी व्यावहारिक प्रामाण्य क्यों नहीं मानना चाहिये ?—इस का उत्तर यह है कि जब मणिप्रभा में मणिदर्शन के बाद किसी उपप्लव=बाधक वश मणिप्रभा में मणिद्रष्टा की प्रवृत्ति मणिदेश तक न होकर थोड़े ही दूर तक रह जाती है, वहाँ मणि की प्राप्ति न होने पर दृश्य-प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय नहीं होता है। अत एव मणि-प्रभागत मणिदर्शन में अप्रामाण्यव्यवहार की प्रवृत्ति होती है और इस निश्चिताऽप्रामाण्यक मणिप्रभामणिदर्शन में भी अप्रामाण्य का ही व्यवहार होता है क्योंकि अप्रामाण्यव्यवहार का मूल दृश्य और प्राप्य में एकत्व के अध्यवसाय का अभावमात्र ही नहीं है अपितु निश्चिताऽप्रामाण्यकज्ञान का साधर्म्य भी है। अतः मणिप्रापक-मणिप्रभा-मणिदर्शन में इस दूसरे निमित्त से अप्रामाण्य का व्यवहार होता है।"

'अर्थाऽप्रभवत्वेनार्थाऽग्राहित्वाद् न विकल्पस्य प्रामाण्यम्' इत्यपि परिभाषामात्रम्, अर्थप्रभवत्वाज्ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वे इन्द्रियादिप्रभवत्वादिन्द्रियादेरपि ग्राहकतापत्तेः, योग्यतातः

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि चन्द्र में जिसप्रकार द्वित्वके मिथ्यात्व का अनुभव होता है उस प्रकार चन्द्र के मिथ्यात्व का अनुभव नहीं होता। अत एव चन्द्रद्वयदर्शन में भासित होनेवाला चन्द्र परमार्थतः असत् होता है- इस में कोई प्रमाण नहीं है। तथा अध्यक्ष में जो प्रामाण्य और अप्रामाण्यरूप अपारमार्थिक द्वैरूप्य का होना बताया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अध्यक्ष में द्वैरूप्य का सम्बन्ध नहीं है। कारण यह कि किसी वस्तु में उसी रूप का सम्बन्ध मान्य होता है जिस रूप का उस में व्यवहार हो। अध्यक्ष में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों का व्यवहार असिद्ध है क्योंकि बौद्ध विद्वानों ने सर्वत्र 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है' यही उद्घोष किया है। यदि किसी रूप का किसी वस्तु में व्यवहार न होने पर भी उस वस्तु में उस रूप का सम्बन्ध माना जायगा तो अतिप्रसंग होगा। अर्थात् नीलादि में पीतत्व आदि का और पीतादि में नीलत्वादि का भी सम्बन्ध सम्भव होने से नीलत्वादि को पीतादि के अपारमार्थिक रूप में स्वीकार की प्रसक्ति होगी।

[आरोपित प्रामाण्य-अप्रामाण्य रूपद्वय का कथन अनुचित]

कदाचित् यह कहा जाय कि 'अध्यक्ष में लोकसम्मतव्यवहार के अभाव में भी उसमें आरोपित प्रामाण्य-अप्रामाण्य रूप द्वैरूप्य मानने पर नीलादि में पीतादिरूपता का अतिप्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकि नीलादि में पीतादिरूपता का न तो कोई लोकसम्मत व्यवहार है और न कोई ग्राहक है, किन्तु अध्यक्ष में आरोपितद्वैरूप्य का ग्राहक विकल्प विद्यमान है अतः अध्यक्ष में आरोपित द्वैरूप्य माना जा सकता है।' तो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। चूँकि अध्यक्ष को आरोपित प्रामाण्य-अप्रामाण्य रूपद्वय का आश्रय मानने पर और उसके इस आरोपित द्वैरूप्य का विकल्प द्वारा ग्रहण मानने पर पारमार्थिक होते हुए भी अध्यक्ष अपने द्वारा गृहीत अर्थ में प्रवर्त्तक न हो सकेगा। चूँकि जिस ज्ञान में अप्रामाण्य गृहीत नहीं होता वही ज्ञान अपने गृहित अर्थ में प्रवर्तक होता है किन्तु अध्यक्ष में विकल्प द्वारा प्रामाण्य-अप्रामाण्य द्वैरूप्य का ग्रहण होने पर उसका अप्रामाण्य गृहीत हो जाता है। अतः अध्यक्ष को परमार्थतः प्रमाण मानना भी युक्तिसंगत नहीं है चूँकि प्रामाण्य का अभ्युपगम गृहीतार्थ की प्रापकता के अधीन होता है और गृहीतार्थ प्रापकता गृहीतार्थ की प्रवर्त्तकता के अधीन होती है। अतः जब अध्यक्ष प्रवर्त्तक ही नहीं होगा तो उस में प्रामाण्य का अभ्युपगम निराधार हो जायगा। अतः उचित यही है कि प्रवर्त्तक विकल्प को ही परमार्थतः प्रमाण माना जाय।

(तद्ग्राहकत्व में तत्प्रभवत्व प्रयोजक नहीं है)

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"विकल्प प्रमाण नहीं हो सकता चूँकि अर्थजन्य न होने के नाते वह अर्थग्राहक नहीं होता। जो ज्ञान अर्थग्राही होता है वही प्रमाण होता है।'-बौद्ध का यह कथन भी परिभाषामात्र यानी निर्युक्तिक है। क्योंकि अगर अर्थजन्य होने से ज्ञान को अर्थग्राहक माना जायगा तो प्रत्यक्ष इन्द्रियादि से जन्य होता है अत एव उसमें इन्द्रियादि के ग्राहकत्व की प्रसक्ति होगी। यदि तत्तद् अर्थ में तत्तद्ज्ञानविषयता का उपपादन तत्तद्ज्ञानग्रहणयोग्यता मानकर किया जायगा और इन्द्रिय में वह योग्यता होने से प्रत्यक्षज्ञान के अविषयत्व का उपपादन किया

प्रतिनियमे च किमनिमित्तमर्थस्य ज्ञानहेतुत्वकल्पना ? । 'ज्ञाने स्वाकाराधायकत्वादर्थो हेतुरिति' चेत् ? न अर्थेन सर्वात्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसक्तेः, उत्तरार्थक्षणवत् एकदेशेन तदाधायकत्वे सांशताप्रसक्तेः । 'समनन्तरप्रत्ययस्य तत्र स्वाकाराधायकत्वाद् न जडत्वम्' इत्युक्तावपि समनन्तरप्रत्यया-ऽर्थक्षणयोर्द्वयोरपि तत्र स्वाकारार्पकत्वे तज्ज्ञानस्य चेतना-ऽचेतनरूपद्वयापत्तेः । किञ्च, तदाकारं तदुत्पन्नं तदुत्पत्तिसारूप्ययोर्व्यभिचारित्वादर्थेऽपि न प्रमाणं स्यात् ।

अथ यदाकारं यदुत्पन्नं यदध्यवस्यति तत्र तत्प्रमाणम् । नन्वत्र यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवाऽर्थाध्यवसायं जनयतीत्यर्थः, उत तमेवेति, आहोस्विज्जनयन्नेवेति ? आद्ये, विकल्प-

जायगा तो अर्थ में ज्ञानकारणत्व की कल्पना निष्प्रयोजन हो जायगी । यदि यह कहा जाय कि-'अर्थ ज्ञान में स्वाकार का आधायक होता है अत एव उसे ज्ञान का हेतु मानना आवश्यक है चूंकि यदि तत्तज्ज्ञान के अहेतु से भी तत्तज्ज्ञान में आकार का आधान माना जायगा तो घटाविज्ञान में पटादि आकार के आधान की आपत्ति होगी ।'-किन्तु यह ठीक नहीं है चूंकि अर्थ से ज्ञान में अपने आकार का सर्वात्मना आधान माना जायगा तो ज्ञान उसी प्रकार जड हो जायगा जैसे पूर्व अर्थक्षण से उत्पन्न होनेवाला द्वितीय अर्थक्षण । यदि किसी अंश से अर्थ को ज्ञान में स्वाकार का आधायक माना जायगा तो ज्ञान सांश हो जायगा ।

(ज्ञान में जडचेतन उभयरूपता की आपत्ति)

यदि यह कहा जाय कि-'केवल अर्थ ही ज्ञान में अपने आकार का आधान नहीं करता किन्तु ज्ञान का समनन्तर प्रत्यय अव्यवहितपूर्ववर्त्तिज्ञान भी आकार का आधान करता है अतः उस आकार के आधान से ज्ञान की चेतनता सुरक्षित रहने से उस में जडत्व की आपत्ति नहीं होगी' यह ठीक नहीं है । चूंकि ऐसा मानने पर समनन्तर प्रत्यय और अर्थक्षण दोनों के चेतन और अचेतन दोनों आकार प्राप्त होने से ज्ञान में जड-चेतन उभयरूपता की आपत्ति होगी ।

दूसरी बात यह है कि 'जो तदाकार और तदुत्पन्न ज्ञान होता है वह तदर्थ में प्रमाण होता है' यह व्याप्ति भी नहीं है क्योंकि तदुत्पत्ति और तत्सारूप्य दोनों शुक्ति-रजत ज्ञान में व्यभिचारी है, चूंकि शुक्ति में रजतज्ञान रजताकार होता है एवं रजतविषयक संस्कार अथवा रजतस्मरण द्वारा रजतोत्पन्न भी उसी प्रकार होता है जैसे योगी का ज्ञान योगजधर्म द्वारा असन्निहित अतीत अनागत विषयों से उत्पन्न होता है किन्तु रजत रूप अर्थ में वह शुक्तिरजतज्ञान प्रमाण नहीं होता ।

(यदाकार, यदुत्पन्न, यदर्थनिश्चयजनक ज्ञान प्रमाण-यह असंगत है)

यदि यह कहा जाय कि-'जो ज्ञान यदाकार यदुत्पन्न होते हुये जिस अर्थ के अध्यवसाय=निश्चय का जनक होता है वह उस अर्थ में प्रमाण होता है यह नियम है । शुक्ति में रजतज्ञान रजताकार रजतोत्पन्न होने पर भी रजत के अध्यवसाय का जनक न होने से रजतार्थ में प्रमाण नहीं होता । अतः इस नियम में व्यभिचार नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है चूंकि इस नियम की कल्पना तीन स्थितियों में की जा सकती है, किन्तु तीनों ही स्थितियां सम्भव नहीं हो सकती । जैसे, पहली स्थिति

वासनापि तत्कारणं न भवेत् । एवं च निर्विकल्पकबोधाद् यथा सामान्यावभासी विकल्पः, तथाऽर्थादेव तथाभूताद् भविष्यति, इति किमन्तरालवर्तिनिर्विकल्पककल्पनया ? न चाविकल्पताऽविशेषेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिः, नार्थात्, वस्तुस्वाभाव्यादित्युत्तरम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धेः, 'स्तम्भः स्तम्भोऽयम्' इतिवत् स्थिरैकस्तम्भावगाहिज्ञानस्य सामान्यविषयत्वात्, ऊर्ध्वतासामान्यापलापे तिर्यक्सामान्यस्याप्यपलापाज्जगतः प्रतिभासवैकल्यप्रसङ्गात्, निरंशक्षणिकानेकपरमाण्वाकारस्य तस्य साक्षांत्वेनाभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, प्रतिविविक्तपरमाणुनद्भेदस्य दुःश्रद्धानत्वात् । किञ्च, यथाऽविकल्पादर्थादविकल्पदर्शनप्रभवः, तथा दर्शनादपि तथाभूतादविकल्पस्यैव प्रभव इति विकल्पकथाऽप्युच्छिद्यते । द्वितीये, धारावाहिकनिर्विकल्पकसंततिर्न स्यात् । तृतीयेऽपि, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः स्वभावभेदं विना दुर्घट इति न किञ्चिदेतत् । तस्मात् तदुत्पत्ति-सारूप्यार्थग्रहणमन्तरेणाऽध्यवसायस्य प्रामाण्यं युक्तम्, अनाद्यसत्यविकल्पवासनात एव तदुत्पत्त्यभ्युपगमे दर्शनस्याप्यहेतुत्वात् "तत्रैव जनयेदेनां" ❀ इत्याद्यभ्युपगमव्याघातात् ।

यह है कि तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान ही तदर्थ के अध्यवसाय का जनक होता है दूसरी स्थिति यह है कि तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान तदर्थ के अध्यवसाय का ही जनक होता है । तीसरी स्थिति यह है कि तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान तदर्थ के अध्यवसाय का जनक होता ही है । इसमें पहली स्थिति स्वीकार्य नहीं हो सकती, क्योंकि उस स्थिति में पूर्वविकल्पजन्य वासना भी अर्थाध्यवसाय का कारण न हो सकेगी । दूसरी बात यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान से जैसे सामान्यग्राही विकल्प की उत्पत्ति होगी उसी प्रकार निर्विकल्पक के समान काल्पनिक रूपों से मुक्त शुद्ध अर्थ क्षण से ही उसकी उत्पत्ति हो सकती है अतः अर्थ और सविकल्प के मध्य निर्विकल्पक की कल्पना निष्प्रयोजन है । इसका यदि यह उत्तर दिया जाय कि-'यद्यपि दर्शन और अर्थ की विकल्पहीनता में कोई अन्तर नहीं है तो भी विकल्प अपने स्वभाववश दर्शन से ही उत्पन्न होता है । अर्थक्षण से उत्पन्न नहीं होता है-' तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यग्राही विकल्प स्वरूप से ही असिद्ध है । क्योंकि बौद्ध के मत में सामान्य का अस्तित्व संभव नहीं है, सामान्य उस वस्तु को कहा जाता है जो क्रमिक अनेक व्यक्तियों में अनुगत होकर सदृश प्रतीति का उत्पादक होता हो और इस प्रकार की कोई अनुगत-स्थिर वस्तु क्षणिकत्ववादी बौद्ध को मान्य नहीं है ।

(ऊर्ध्वतासामान्य न मानने पर तिर्यक्सामान्य के अपलाप की आपत्ति)

यदि यह कहा जाय कि-'अयं स्तम्भः अयं स्तम्भः' इस प्रकार विभिन्न स्तम्भव्यक्तियों में स्तम्भाकार अनुगत प्रतीति होने से अतद्व्यावृत्तिरूप में सामान्य बौद्ध को भी मान्य है'-तो यह कहना भी उसके हित में नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर उस ज्ञान के समान 'एक स्थिर स्तम्भ' का अवगाहन करने वाले ज्ञान में भी सामान्यविषयकत्व की सिद्धि होगी, अर्थात् यह मानना होगा जैसे एककालिक विभिन्न व्यक्तियों में अनुगत प्रतीति के अनुरोध से अतद्व्यावृत्ति रूप में

❀ यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवाऽस्य प्रमाणता, इत्यभ्युपगमः बौद्धस्य ।

सामान्य को मानना आवश्यक है-उसी प्रकार एक स्तम्भ का जो अनेक काल तक एकाकार अनुगत ज्ञान होता है उस ज्ञान को भी विभिन्न क्षणों में परिवर्तित होने वाली स्तम्भ की विभिन्न अवस्थाओं में एक अनुगत सामान्य का ग्राहक मानना होगा जिसे ऊर्ध्वतासामान्य कहा जा सकता है, जो क्रम से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न पर्यायों में द्रव्यरूप से अनुगत होता है। यदि इस ऊर्ध्वता सामान्य का अपलाप किया जायगा तो एककालिक विभिन्न गो आदि व्यक्तियों में समान प्रतीति के उत्पादक गोत्वादि तिर्यक् सामान्य का भी अपलाप हो सकता है जिसके फलस्वरूप जगत् के प्रतिभास का अभाव अर्थात् जगत् में होने वाली प्रतीतियों के वैधर्म्य के अभाव की प्रसक्ति होगी। इसके समाधान में यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'तिर्यक् सामान्य न होने पर भी जगत् सांश होने से अंशों के वैधर्म्य के कारण प्रतीतिवैधर्म्य की उपपत्ति हो सकती है'-चूँकि बौद्धमत में जगत् निरंश क्षणिक अनेक परमाणुस्वरूप है। बौद्ध मत में परमाणु समूह से अतिरिक्त अवयवीरूप जगत् का अस्तित्व नहीं है।

(प्रतीति के बल पर लोकसिद्ध पदार्थों के स्वीकार की आपत्ति)

यदि यह कहा जाय कि-'जगत् परमाणु समूह से अतिरिक्त भले न हो किन्तु प्रत्येक परमाणु स्वयं-स्वभावत: एकदूसरे से विविक्त=भिन्न है। अत: परमाणुओं के वैधर्म्य से प्रतीतिवैधर्म्य की उपपत्ति हो सकती है' तो यह कथन भी युक्तिहीन होने से अश्रद्धेय है। चूँकि यदि स्वत: परस्पर विलक्षण अनंत परमाणुओं की सत्ता स्वीकार की जा सकती है तो जिन विभिन्न रूपों में जगत् के विभिन्न पदार्थों की प्रतीति लोकसिद्ध है उन रूपों में उन पदार्थों के अस्तित्व का भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जैसे विकल्पमुक्त अर्थ से विकल्पमुक्त दर्शन का जन्म होता है उसी प्रकार कार्यकारण में सारूप्य का नियम होने से विकल्पमुक्त दर्शन से विकल्पमुक्त ही विशिष्ट ज्ञान की भी उत्पत्ति होनी उचित है। ऐसा होने पर, विश्व में विकल्पात्मक ज्ञान की कथा ही समाप्त हो जायगी।

उक्त नियम के अभ्युपगम की दूसरी स्थिति यह है कि तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान तदर्थ का अध्यवसाय ही उत्पन्न करता है। किन्तु यह स्थिति भी स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि उसे स्वीकार करने पर धाराप्रवाहिक निर्विकल्पक के सन्तान की उपपत्ति न हो सकेगी। चूँकि इस स्थिति को मानने पर निर्विकल्पक अर्थाध्यवसाय-सविकल्पज्ञानमात्र को ही उत्पन्न करेगा, अत: द्वितीय-तृतीय आदि निर्विकल्पकज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी।

(स्वभावभेद के बिना अत्यन्तायोग की अनुपपत्ति)

उक्त नियम के अभ्युपगम की तीसरी स्थिति यह है कि तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान अर्थविषयक अध्यवसाय का जनक होता है। यह स्थिति तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान में तदर्थविषयकअध्यवसाय की जनकता के अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद पर निर्भर है किंतु यह व्यवच्छेद तदाकार-तदुत्पन्न ज्ञानों में स्वभाव भेद मानने पर ही सम्भव हो सकता है क्योंकि स्वभाव भेद के ही आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमुक स्वभावोपेत तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान तदर्थाध्यवसाय का जनक है और अमुक स्वभावोपेत उक्तज्ञान तदर्थाध्यवसाय का अजनक है इसलिये तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान में अर्थाध्यवसायजनकता का अयोग तो हो सकता है किन्तु अत्यन्तायोग नहीं हो सकता है। स्वभावभेद से तदाकार तदुत्पन्न ज्ञान को तदर्थ के अध्यवसाय का अजनक मानने पर 'तदाकार, तदुत्पन्न, तदर्थ के

न च वासनाप्रबोधविधायकत्वेन तस्यापि हेतुत्वम्, इन्द्रियार्थसंनिधानस्यैव तत्प्रबोधहेतुत्वात्, 'तद्धेतोः'० इति न्यायात्। न च वासनाप्रभवत्वेनाऽक्षजस्यैवं भ्रान्तता स्यात्, अर्थप्रभवत्वेनानुमानवत् प्रमाणत्वात् सामान्यादिविषयत्वस्य तुल्यत्वात्। न च स्वग्राह्यस्याऽवस्तुत्वेऽप्यध्यवसायस्य स्वलक्षणत्वाद् दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवृत्तेरनुमानस्य-

अध्यवसाय का जनक हो ज्ञान तदर्थ में प्रमाण होता है' इस नियम का भङ्ग हो जायगा। इसलिये तदुत्पत्ति-तत्सारूप्य और तदर्थाध्यवसाय इनके बिना भी अध्यवसाय को प्रमाण मानना युक्तिसंगत है। यदि तिर्यक् सामान्य तथा जगत् की सांशता इन दोनों को न स्वीकार करके भी अनादि-असत्य विकल्पवासना से ही जगत् के विविधप्रतिभास की उत्पत्ति की जायेगी तो विकल्पबुद्धि में दर्शन भी कारण न हो सकेगा। क्यूँकि उक्त वासना से ही सभी सविकल्पक प्रतीतियों का उदय हो जायगा। फलतः 'दर्शन जिस अर्थ में सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करता है उसी अर्थ में प्रमाण होता है' बौद्ध का यह अभ्युपगम बाधित हो जायगा।

[वासनाप्रबोधक कौन ? दर्शन या इन्द्रियसंनिकर्ष]

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'पूर्वविकल्पजन्य वासना से नूतन विकल्प की उत्पत्ति मानने पर भी उस वासना का प्रबोधक होने से दर्शन को भी विकल्प का हेतु मानना आवश्यक है।' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दर्शन के हेतु इन्द्रियार्थसंनिकर्ष को ही वासनाप्रबोध का हेतु मानना उचित है क्योंकि यह न्याय है-'तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेन ?' जिसका तात्पर्य यह है कि जो कार्य जिस कारण के कार्यरूप से अभिमत है उस कार्य को उस कारण के हेतु से ही उत्पन्न मानना चाहिये न कि उससे। क्योंकि उसके सन्निधान के लिये उसके हेतु का सन्निधान अनिवार्य होगा ही। तो यदि उस कारण का हेतु उस कारण के अभिमत कार्य का हेतु हो सकता है तो उसी को उसके कार्य का सीधा हेतु माना लेना चाहिए। बीच में उसकी उत्पत्ति की कल्पना गौरवग्रस्त है। जैसे-मंगल से विघ्नध्वंस पूर्वक मङ्गल जन्य अपूर्व को समाप्ति का कारण मानने वाले के मत में अपूर्व के कारणीभूत विघ्नध्वंस से अपूर्व के कार्य रूप में अभिमत समाप्ति की सीधी उत्पत्ति हो सकने से बीच में में अपूर्व में की कल्पना अनावश्यक यानी गौरवापादक होती है।

[वासनाजन्यत्व मात्र से विकल्प अप्रमाण नहीं हो सकता]

यदि यह कहा जाय कि "इन्द्रियजन्य विकल्प को वासनाजन्य मानने पर वह प्रमाण न होकर भ्रमात्मक हो जायगा"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वासनाजन्य होने पर भी वह अर्थजन्य भी है। इसलिये अनुमान के समान वह भी प्रमाण हो सकता है। वासना से उपस्थापित सामान्यादि विषयक होने से उस में प्रामाण्य की अनुपपत्ति की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि सामान्यादिविषयकत्व अनुमान में भी समान है। इस पर यदि यह कहा जाय कि-"यद्यपि अनुमानात्मक अध्यवसाय से ग्राह्य सामान्यादि अवस्तुभूत है तो भी स्वलक्षण होने के कारण दृश्य पद से व्यपदेश्य-वास्तव विशेष रूप अर्थ और विकल्पविषयीभूत सामान्य को एकीकृत रूप में ग्रहण करके प्रवृत्त होता है अत एव अनुमान प्रमाण होता है। आशय यह है कि अनुमानात्मक अध्यवसाय का मूलभूत व्याप्तिज्ञान सामान्याश्रयी होता है अर्थात् सामान्यमात्र का अवलम्बन करके प्रवृत्त होता है क्योंकि सम्पूर्ण धूम और सम्पूर्णवह्नि का ज्ञान होने से धूमत्व और वह्नित्व के रूप मे ही धूम और वह्निव्याप्ति का

प्रामाण्यम्, प्रकृतविकल्पेऽपि समानत्वात्। न च गृहीतग्राहित्वाद् विकल्पो न प्रमाणम्, क्षणक्षयानुमानस्याप्यप्रामाण्यप्रसक्तेः। अनिर्णीतमनुमेयं निश्चिन्वत् प्रमाणं यद्यनुमानम्, तर्ह्यनिश्चितं नीलं निश्चिन्वन् विकल्पोऽपि किं न तादृशः? । अथ समारोपव्यवच्छेदकरणादनुमानं प्रमाणम्, तर्हि विकल्पोऽपि तत एव किं न तथा? शुक्तिका-रज्ज्वादिषु रजत-सर्पादिसमारोपाणां तथाभूतविकल्पाद् निवृत्तिदर्शनात्। अथ विकल्पस्य प्रामाण्येऽपि नानुमानबहिर्भावः, अनभ्यासदशायां ह्यनुमानं प्रमाणम्; अभ्यासदशायां तु दर्शनमेव, न च तृतीया दशास्ति यस्यां विकल्पः स्वातन्त्र्येण प्रमाणभावमनुभवेदिति चेत्? न, विकल्पं विना

ज्ञान होता है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाला अनुमानात्मक अध्यवसाय सामान्यरूप से विशेष को ग्रहण करता है। इनमें विशेष वास्तव होता है और सामान्य कल्पित होता है। अतः कल्पित मात्र का ग्राहक न होकर कल्पित और वास्तव के संमिलित स्वरूप का ग्राहक होने से वह प्रमाण होता है। यह ज्ञातव्य है कि व्याख्याकार ने इस सन्दर्भ में अनुमान से गृहीत होने वाले वास्तव विशेष को ही बौद्ध के दृष्टिकोण से दृश्य शब्द से व्यवहृत किया है और उसकी वास्तविकता स्वलक्षण शब्द से सूचित की है"-किन्तु बौद्ध द्वारा अनुमानप्रामाण्य का उक्त रीति से समर्थन ठीक नहीं है। क्योंकि वास्तव और विकल्प्य अर्थों का एकीकरण जैसे अनुमान में होता है वैसे प्रकृतविकल्प-सविकल्प प्रत्यक्ष में भी समान है। तात्पर्य यह है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष, वासना जन्य होने से वासना के विषयभूत सामान्यादि कल्पितार्थ और विद्यमान अर्थक्षण से जन्य होने से वास्तव अर्थ क्षण, इन दोनों को एकीकृत रूप में ग्रहण करता है। अतः जिस निमित्त से अनुमान को प्रमाण कहा गया है वह निमित्त सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है अतः अनुमान को प्रमाण और सविकल्पक को अप्रमाण कहना उचित नहीं हो सकता।

(गृहीतग्राही होने से विकल्प अप्रमाण यह नहीं कहा जा सकता)

बौद्ध की ओर से पुनः यह कहा जाय कि-'अनुमान और सविकल्पक प्रत्यक्ष दोनों में साम्य होने पर भी दोनों में भेद यह है कि अनुमान वासनाजन्य न होकर व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान जन्य होने से गृहीतग्राही नहीं होता, किन्तु सविकल्पक-प्रत्यक्ष वासनाजन्य होने से गृहीतग्राही होता है क्योंकि वासना पूर्वगृहीत अर्थ को ही प्रस्तुत करती है अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि गृहीतग्राही होने से यदि सविकल्पक प्रत्यक्ष को अप्रमाण माना जायगा तो क्षणिकत्वानुमान भी अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि वह भी अध्यक्ष से गृहीत क्षणिकत्व का ग्राहक होता है। यदि उस के उत्तर में यह कहा जाय कि- क्षणिकत्व अध्यक्ष से गृहीत होने पर भी अनिश्चित रहता है। अतः अनिश्चित अनुमेय का निश्चायक होने से अनुमान तो प्रमाण हो सकता है किन्तु सविकल्पक-प्रत्यक्ष वासना से उपस्थापित पूर्वनिश्चित अर्थ का निश्चायक होने से अनिश्चित का निश्चायक न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विकल्प भी वासना से अनुपस्थापित, पूर्व में अनिश्चित, नवीन नीलक्षण का निश्चायक होता है अतः उस में भी अनिश्चितनिश्चायकत्व होने से इस के भी प्रामाण्य का अपहरण नहीं किया जा सकता।

इस पर बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'अनुमान समारोप यानी भ्रम का निवर्तक होने से प्रमाण होता है' तो यह कह कर भी सविकल्पकप्रत्यक्ष के प्रामाण्य का अपहरण नहीं हो सकता

त्रैरूप्यानिश्चयेनानुमानस्यैव न प्रवृत्तिरित्युक्तत्वात् । न च तदपेक्षं दर्शनमेव प्रमाणम्, स्वत एव तस्याऽप्रमाणत्वात्, विकल्पस्यापि विकल्पान्तरापेक्षया प्रमाणत्वेऽनवस्थाया दुष्परिहरत्वादिति वाच्यम्, सम्यग्विकल्पस्य स्वत एव प्रमाणत्वात्, दर्शनस्याऽगृहीतभाव्यर्थ-प्रवर्तकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, अन्यथा शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यति, इति मीमांसकमतमनिषेध्यं स्यात् ।

क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष भी भ्रम का निवर्त्तक होता है। जैसे, यह देखा जाता है कि शुक्ति-रज्जु आदि में होनेवाले रजत-सर्प आदि भ्रम की निवृत्ति शुक्ति और रज्जु के सविकल्पक प्रत्यक्ष से होती है। यदि इस पर बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-'विकल्प ज्ञान प्रमाण होने पर भी अनुमान से वह पृथक् नहीं है, क्योंकि अनभ्यास दशा में अर्थात्-भावमात्र क्षणिक होता है-इस संस्कार की अभाव-दशा में अनुमान भाव के क्षणिकत्व में प्रमाण होता है और अभ्यास दशा में यानी 'भावमात्र क्षणिक होता है'-इस संस्कार दशा में अर्थ का दर्शन ही उसके क्षणिकत्व में प्रमाण होता है और उक्त दो दशा से अधिक कोई तीसरी दशा नहीं है जिस में विकल्प स्वतन्त्र रूप से प्रमाण हो सके।" तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि विकल्प को प्रमाण न मानने पर अनुमान के अंगभूत पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व और विपक्षाऽसत्त्व का निश्चय न हो सकने से अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है-यह कहा जा चुका है।

[ज्ञानान्तर के संवाद की अपेक्षा नियत नहीं होती]

यदि पुनः बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि-'विकल्प-सापेक्ष दर्शन ही प्रमाण है, दर्शन स्वतः प्रमाण नहीं है। किन्तु विकल्प प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी ज्ञान के प्रमाण होने के लिये ज्ञानान्तर का संवाद अपेक्षित होता है। दर्शन में विकल्प का संवाद होने से वह प्रमाण हो सकता है, किन्तु विकल्प में ज्ञानान्तर का संवाद न होने से वह प्रमाण नहीं हो सकता। यदि उसे भी अन्य विकल्प की अपेक्षा प्रमाण माना जायगा तो अनवस्था का परिहार दुष्कर होगा।" किन्तु बौद्ध का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक् विकल्प को अर्थात् जिस विकल्प में अप्रामाण्य की शंका का उदय सम्भवित नहीं होता वह स्वतः ही प्रमाण होता है-उस के प्रामाण्य के लिये संवादी ज्ञाना-न्तर की अपेक्षा नहीं होती। इस कथन में यहां ध्यान देना जरूरी है कि गृहीतार्थ की प्रापकता का प्रयोजक 'गृहीतार्थ में प्रवर्त्तकता' ही प्रामाण्य के अभ्युपगम का बीज है यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु बौद्ध मत में दर्शन अगृहीत यानी अपने अविषयभूत उत्तरकाल भावी अर्थ में ही प्रवर्त्तक होगा, क्योंकि प्रवृत्तिकाल में दर्शन का विषयभूत अर्थ नहीं रहता और ऐसा मानने पर दर्शन द्वारा अगृहीत उत्तरकाल भावी किसी अर्थविशेष में ही प्रवृत्ति न होकर अर्थसामान्य में प्रवृत्ति का अतिप्रसंग होगा, क्योंकि दर्शन द्वारा अगृहीतत्व उत्तरकाल भावि सभी अर्थों में समान है।

दूसरी बात यह है कि यदि दर्शन को अपने अविषय भूत उत्तरकालभावी अर्थ में प्रवर्तक माना जायगा तो मीमांसक का जो यह मत है कि-'शब्द की शक्ति व्यक्तिविशेष में न होकर लाघव से सामान्य मात्र में ही होती है। अतः शब्दजन्य ज्ञान सामान्यमात्रविषयक होता है किन्तु वह अपने अविषयभूत विशेष में भी प्रवर्त्तक होता है' जैसे 'गामानय' इस वाक्य से उत्पन्न बोध मीमांसक मत में लाये जाने वाले गो को विषय नहीं करता क्योंकि 'गो' पद की गो-व्यक्ति में शक्ति न होने

यत्तु-'स्मृत्युपनीतेऽपि नामादाविन्द्रियाऽप्रवृत्तेर्न नामादिविशिष्टार्थग्राहिण्यक्षजा मतिः' इत्युक्तम्-तत्प्रलापमात्रम्; अर्थात्मकस्य नामवाच्यतादिधर्मस्य विशिष्टक्षयोपशमसव्यपेक्षयाऽक्षधिया प्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । तद्वाच्यताप्रतिपत्तिर्मतिः श्रुतं वा, इत्यन्यदेतत् ।

न च 'विशेषणविशेष्यभावस्यानवस्थानाद् न वस्तुनो विशिष्टप्रतीतिः' इत्यप्युक्तं युक्तम्, अनेकधर्मकलापाक्रान्तस्य वस्तुनो विशिष्टसामग्रीप्रभवप्रतिपत्त्या प्रतिनियतधर्मविशिष्टतया ग्रहणात् । न चार्वाग्दृग्दर्शनेऽशेषधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपप्रतिभासः, कस्यचित् कथंचित् कयाचित्प्रतिपत्त्या यथाक्षयोपशमं ग्रहणात् । एतेनातीतविशेषणादिग्रहणेऽतिप्रसङ्गः परास्तः, अन्यथैकस्तम्भपरिणत्यापन्नैकपरमाणुग्रहणप्रवृत्ताक्षस्याऽपरपरमाणुग्रहणेऽपि सकलपदार्थग्रहणप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वात् ।

से गो व्यक्ति की उपस्थिति हो नहीं हो सकती। किन्तु फिर भी यह शाब्दबोध श्रोता को लायी जाने वाली गो व्यक्ति को लाने में प्रवर्त्तक होता है'-उसका खंडन न हो सकेगा।

(नामवाच्यता आदि धर्मों का इन्द्रियजन्य ज्ञान से ग्रहण शक्य)

इस सन्दर्भ में जो बौद्ध की ओर से यह कहा गया था कि-'नामादि यद्यपि स्मरण द्वारा सन्निहित होता है, किन्तु वह इन्द्रिय के अयोग्य होता है, अत एव उसके ग्रहण में इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान नामादि विशिष्ट अर्थ का ग्राहक नहीं हो सकता'-यह कथन भी युक्तिहीन प्रलाप है, क्योंकि नामवाच्यता आदि धर्म अर्थात्मक धर्मों से अभिन्न है, अतः अर्थ इन्द्रिययोग्य होने से वे धर्म भी इन्द्रिययोग्य हैं, अत एव उस अंश में क्षयोपशम का संनिधान होने पर इन्द्रियजन्यज्ञान से उसका ग्रहण हो सकता है। किन्तु इन्द्रिय से जो नामवाच्यता का ज्ञान होता है वह क्या मतिज्ञान रूप है अथवा श्रुतज्ञान रूप है ? इसका विचार इस सन्दर्भ में उपयोगी नहीं है।

[नियत धर्म से विशिष्ट रूप में वस्तु का ग्रहण शक्य है]

बौद्ध की ओर से जो एक बात यह कही गई थी कि-'विशेषण-विशेष्य भाव अव्यवस्थित होता है और वस्तु व्यवस्थित होती है। अतः वस्तु की विशिष्ट प्रतीति नहीं हो सकती'-तो यह कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि वस्तु विभिन्न धर्मों से युक्त है इसलिये विशिष्ट ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होनेवाले बोध से एक एक नियत धर्म से विशिष्ट रूप में उसका ग्रहण होता है। ऐसा मानने पर यह शंका कि-"यदि वस्तु अपने धर्मों से विशिष्ट होती है तो वस्तुग्राही अर्वाग्दर्शन यानी सामान्य ज्ञान में सम्पूर्ण धर्मों का प्रतिभास होना चाहिये"-उचित नहीं हो सकती, क्योंकि तत्तद्धर्मविशिष्ट रूप में वस्तु के ग्रहण के लिये तत्तद्धर्मांश में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा होती है। अतः किसी वस्तु का किसी विशेषधर्म द्वारा ही किसी प्रतिपत्ति से ग्रहण होता है। सब प्रतिपत्तियों में वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों का ग्रहण इसलिये नहीं होता कि छद्मस्थ अवस्था यानी संसार दशा में सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता। इसीलिये यह शंका भी कि-'वस्तु जब अनेक धर्मों से विशिष्ट होती है तो उसके धर्मों के मध्य में अतीत-अनागत धर्म भी आते हैं। अतः वस्तु ज्ञान में उन धर्मों का भी विशेषणविधया ग्रहण होना चाहिये'-नहीं हो सकती क्योंकि छद्मस्थ के वस्तुग्रहणकाल में अतीत-अनागत धर्म रूप विशेषणों के ग्राहक क्षयोपशम का अभाव होता है।

यदपि 'मानस्येव विकल्पमतिः' इत्यभिहितम्। तदप्यसत्, स्तम्भादिप्रतिभासस्य मानसत्वे विकल्पान्तरतो निवृत्तिप्रसङ्गात्। न चैवमस्ति, क्षणक्षयित्वमनुमानाद् निश्चिन्वतोऽश्वादिकं वा विकल्पयतस्तदैवास्य प्रतिभासस्य संवेदनात्।

यदपि 'जात्यादेः स्वरूपानवभासनात् तद्विशिष्टार्थधीरयुक्ता' इति गदितम् तदपि निर्युक्तिकम्, स्वसंवेदनवत् सदृशपरिणामस्य प्रमीयमाणत्वेन सत्यत्वात्। एकान्तभेदाभेदपक्षस्यानिष्टेः, 'त एव विशेषाः कथञ्चित् परस्परं समानपरिणतिभाजः' इत्यस्मदभ्युपगमे दोषाभावात्, चित्रैकविज्ञानवत् समाना-ऽसमान परिणत्योरेकत्वाऽविरोधात्। तस्मात्, 'सविकल्पकमेव प्रमाणम्' इति व्यवस्थितम्। ततः कथं न बोधान्वयोऽर्थान्वयो वा ? इति परिभावनीयं रहसि ॥

किसी वस्तु के ग्रहणकाल में उसकी समग्रता का ग्रहण नहीं होता-यह सर्वसम्मत है। अतः इस की उपपत्ति के लिये उक्त प्रकार के हेतु की कल्पना सभी को करनी होगी क्योंकि ऐसा न करने पर एक स्तम्भ के रूप में परिणत परमाणु समष्टि के ग्रहण में प्रवृत्त चक्षु द्वारा सन्निहित दूसरे परमाणुओं का ग्रहण होने पर भी जो स्तम्भ के सम्पूर्णभाग का ग्रहण नहीं होता है-उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। अपितु एक भाग के ग्रहण में प्रवृत्त चक्षु से वस्तु के सम्पूर्ण भाग के ग्रहण की आपत्ति होगी।

(सविकल्प प्रत्यक्ष मानसज्ञान नहीं है)

बौद्ध की ओर से जो यह कहा गया था कि-' विकल्पमति यानी सविकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ संनिकर्ष जन्य न होकर मानस होता है''-यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्तम्भादि के विकल्प को यदि मानस माना जायगा तो अन्य विकल्प से उसकी निवृत्ति हो जायगी चूंकि दो मानस विकल्पों का युगपद् अस्तित्व नहीं होता जैसे मन के मनोग्राह्य विषय सुखदुःखादि रूप से ही गृहीत होते हैं, अतः क्रम से ही वस्तु का ग्रहण करना मन का स्वभाव होता है। 'विकल्पान्तर से स्तम्भादि के विकल्प की निवृत्ति हो जाती है' यह माना भी नहीं जा सकता क्योंकि अनुमान से क्षणिकत्व के निश्चयकाल में भी एवं अश्वादि के विकल्पकाल में भी स्तम्भ के विकल्प का संवेदन होता है। अतः उस काल में स्तम्भविकल्प का अस्तित्व सिद्ध है।

[वे ही विशेष परस्पर कुछ समान परिणतिवाले भी हैं]

"जात्यादि का व्यक्ति से भिन्न कोई स्वरूप विकल्पात्मकबुद्धि में अवभासित नहीं होता, इसलिये विकल्पबुद्धि को जात्यादि विशिष्ट अर्थ विषयक मानना भी युक्तिसंगत नहीं है।" यह कथन भी असंगत है क्योंकि जैसे स्व के प्रमात्मक संवेदन से स्व यानी स्वलक्षण वस्तु सत्य होती उसी प्रकार सदृशपरिणाम के प्रमात्मक ज्ञान से सदृश परिणाम रूप जाति का भी सत्यत्व अनिवार्य है। यदि यह कहा जाय कि-"स्व के सत्य होने पर भी स्व के सदृश परिणाम को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि स्व का परिणाम स्व से भिन्न है अत एव स्व की सत्यता का दृष्टान्त उसकी सत्यता का साधक नहीं हो सकता-" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परिणाम में परिणामी का एकान्तभेद या एकान्ताऽभेद पक्ष अनिष्ट है-हमारा इष्ट यह है कि विशेष व्यक्ति ही कथञ्चित् परस्पर में समान परिणाम को

मास्तु वा त्वन्मये सर्वसविकल्पकप्रामाण्यम् , तथापि नश्वरत्वादिग्राहिणो विकल्पस्य त्वया प्रामाण्यमवश्यमभ्युपेयम् । तस्य च व्याप्त्यादिपर्यालोचनप्रवणस्यान्वयित्वमपि स्वसंवेदनसिद्धम् । तदंशे तत्र भ्रान्तत्वे क्षणिकत्वांशेऽपि तथात्वप्रसङ्गात् , एकस्य भ्रान्ताऽभ्रान्तोभयरूपत्वाभावात् , भ्रान्तिबीजसाम्याच्चेत्यभ्युच्चयमाह–

धारण करते हैं, जैसे एककाल में विद्यमान विभिन्न घट परस्पर एकदूसरे की अपेक्षा समान परिणाम को धारण करते हैं। हमारे इस पक्ष में भेद और अभेद के एकान्त पक्ष में होने वाले दोष नहीं हो सकते। जो विशेष व्यक्ति परस्पर में समान परिणाम को धारण करते हैं वे विजातीय व्यक्तिओं की अपेक्षा असमान परिणाम को धारण करते हैं। जैसे घट आदि में पटादि का असदृश परिणाम भी होता है और उसी से घटादि में पटादि का भेद ग्रह होता है इस प्रकार घट आदि में जो सदृश और असदृश परिणाम होते हैं उन परिणामों में भी परिणामी घट की अपेक्षा ऐक्य मानने में उसी प्रकार कोई विरोध नहीं है जैसे चित्राकार एक ज्ञान में ज्ञानात्मना उस ज्ञान के विभिन्न आकारों के ऐक्य में विरोध नहीं होता । अतः साधक युक्ति और बाधकाभाव होने से यह सिद्ध होता है कि सविकल्प ज्ञान ही प्रमाण है। अतः बौद्ध को एकान्त में स्वस्थ चित्त से यह विचार करना चाहिये कि विभिन्नाकार ज्ञानों में एक बोध का और विभिन्न परिणामों मे एक मूलभूत अर्थ का अन्वय क्यों नहो हो सकता ?

[व्याप्ति आदि ज्ञानों में विकल्प का अन्वय अवश्यमान्य]

अथवा यदि समस्त सविकल्पों को प्रमाण न भी माने तो भी बौद्ध मत में यह एक दोष है 'नश्वरत्व=क्षणिकत्व रूप साध्य और सत्व=अर्थक्रियाकारित्व रूप हेतु वाले 'यत् सत् तत् क्षणिकं' अनुमान में दृष्टान्त रूप में ग्रहण किये जाने वाले विकल्प को प्रमाण मानना ही होगा। वह विकल्प व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान के अनुकूल हैं । अतः उन ज्ञानों में उसका अन्वय भी स्वसंवेदन-अनुभवसिद्ध है। अतः विभिन्नाकार ज्ञानों में बोध के अन्वय का प्रतिषेध बौद्ध के लिये अशक्य है। यदि व्याप्तिआदि के ज्ञानों में नश्वरतादि ग्राहक विकल्प के अन्वयांश में तद्ग्राहक संवेदन को भ्रम माना जायगा तो क्षणिकत्व अंश में भी वह ज्ञान भ्रम हो जायगा क्योंकि बौद्धमत में एक ज्ञान में भ्रम और प्रमा उभयरूपता नहीं होती। अतः एक ज्ञान को बोधान्वयांश में भ्रम और क्षणिकत्वांश में प्रमा नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि जिस निमित्त से उक्त ज्ञान को बोधान्वयांश में भ्रम माना जायगा वह हेतु क्षणिकत्वांश में भी प्रमाण है अतः उस अंश में भी उसको भ्रम ही मानना होगा। आशय यह है कि उक्त ज्ञानको विकल्प के अन्वयांश में इसीलिए भ्रम रूप कहा जायगा कि विकल्प क्षणिक है अत एव उत्तरकाल में होने वाले ज्ञानों में उसका अन्वय दुर्घट है। यह बात क्षणिकत्व के सम्बन्ध में भी समान है क्योंकि दृष्टान्त में जो क्षणिकत्व गृहीत होता है वह क्षणिकत्व भी धर्मी से अभिन्न होने के कारण धर्मी के समान ही अस्थिर है। अतः वह भी अनंतरकालमें होने वाले व्याप्त्यादिज्ञान में विषयविधया अन्वित नहीं हो सकता। अतः उक्त ज्ञान क्षणिकत्व अंश में भी भ्रम होगा । यहाँ तक जो विचार किये गये हैं उन विचारों का निष्कर्ष अग्रिम कारिका ११४ में कहा गया है—

प्रदीर्घाध्यवसायेन नश्वरादिविनिश्चयः ।
अस्य च भ्रान्ततायां यत्तत्तथेति न युक्तिमत् ॥११४॥

प्रदीर्घाध्यवसायेन=अन्वयिव्याप्त्यादिपर्यालोचनप्रवाहरूपतयाऽनुभूयमानेन लिङ्गादिविकल्पेन नश्वरादिविनिश्चयः=भावप्रधाननिर्देशाद् नश्वरत्वादिपरिच्छेदः अभ्युपेयः । अस्य च=प्रकृतप्रदीर्घाध्यवसायस्य भ्रान्ततायामुच्यमानायाम् यत्=यस्मात् तत्=अधिकृतं वस्तु तथा=नश्वरम् इति एतत् न युक्तिमत्=न संभवदुक्तिकम् ॥११४॥

तस्मादवश्यमेष्टव्या विकल्पस्यापि कस्यचित् ।
येन तेन प्रकारेण सर्वथाऽभ्रान्तरूपता ॥११५॥

तस्माद् विकल्पस्यापि कस्यचित्=नश्वरत्वादिग्राहिणः येन तेन स्वपरिभाषानुसारिणा प्रकारेण सर्वथा=सर्वविषयावच्छेदेन अभ्रान्तरूपता=परमार्थविषयता अवश्यमेष्टव्या=अकामेनाप्यङ्गीकर्तव्या तथा च स्वसाक्षिका स्यान्वयिता सिद्धेत्यभिप्रायः ॥११५॥ इदमेवाह-

सत्यामस्यां स्थितोऽस्माकमुक्तवन्न्याययोगतः ।
बोधान्वयोऽदलोत्पत्त्यभावाच्चातिप्रसङ्गतः ॥११६॥

सत्यामस्यां=कस्यचिद् विकल्पस्याभ्रान्ततायाम् स्थितः=सिद्धः, अस्माकमुक्तवत्=प्रागुक्तरीत्या, न्याययोगतः=युक्तन्यायात् बोधान्वयः=ज्ञानाऽविच्छेदः स्वद्रव्यात्मना ।

[क्षणिकत्व का आनुमानिक निश्चय भ्रान्त होने की आपत्ति]

११४ वीं कारिका में पूर्वचर्चित विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार प्रकट किया गया है कि भावमात्र में नश्वरत्व का निश्चय एक प्रदीर्घ अध्यवसाय यानी व्याप्ति-पक्षधर्मता आदि के ज्ञान के अन्वयी, प्रवाह रूप में अनुभूयमान लिङ्ग आदि के अध्यवसाय=विकल्प ज्ञान से होता है। यदि इस अध्यवसाय को भ्रम माना जायगा तो इससे प्रादुर्भूत होने वाला भाव मात्र में नश्वरता का आनुमानिक निश्चय भी भ्रम हो जायगा। अतः भावमात्र नश्वर=क्षणिक होता है यह मत युक्तिसंगत नहीं हो सकता ॥११४॥

११५ वीं कारिका में विकल्प की प्रमारूपता अवश्य मानने योग्य है यह बताया है—

यतः बौद्ध को भावमात्र का नश्वरत्व सिद्धान्तरूप में स्वीकार्य है अतः भावमात्र में नश्वरत्वग्राही विकल्प को भी अपनी परिभाषा के अनुसार किसी न किसी प्रकार से सम्पूर्णांश में अभ्रान्तरूप यानी परमार्थविषयक मानना होगा। यह तभी सम्भव है जब भावमात्र में नश्वरत्व की सिद्धि के मूलभूत दृष्टान्त में नश्वरत्वादि विकल्प को व्याप्ति पक्षधर्मता ज्ञान के प्रवाह में अन्वयी माना जाय। इस प्रकार उत्तरोत्तर भावी विभिन्न ज्ञानों में बोध का अन्वय स्वानुभवसिद्ध होता है ॥११५॥

११६ वीं कारिका में इसी विषय का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया गया है-

युक्त्यन्तरमाह-अदृष्टोत्पत्त्यभावाच्च=अतथाभाविहेतुकत्वोत्पत्त्ययोगाच्च, अन्यथा अतिप्रसङ्गतः=तद्वत् तदन्यभावापत्तेः ॥११६॥ न चास्माद् विकल्पादनित्यत्वसिद्धिरित्युपचयमाह—

मूलम्—अन्यादृशपदार्थेभ्यः स्वयमन्यादृशोऽप्ययम् ।
यतश्चेष्टस्ततो नास्मात् तत्राऽसंदिग्धनिश्चयः ॥११७॥

अन्यादृशपदार्थेभ्यः=अनित्यादिरूपेभ्य आलम्बनभूतेभ्यः स्वयम्=आत्मना अयं=विकल्पः अन्यादृशोऽपि=नित्यत्वादिग्रहरूपोऽपि यतश्चेष्टः=अङ्गीकृतः, ततो नास्मात्=अधिकृतविकल्पात् अप्रत्ययितात् तत्र=अनित्यत्वादौ असंदिग्धनिश्चयः, अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितत्वात् ।

अथालीकविषयत्वरूपाऽप्रामाण्यज्ञानेऽपि तत्र दृश्य-विकल्प्ययोरर्थयोरेकीकरणात् तदभाववति तदवगाहित्वरूपाऽप्रामाण्यज्ञानाभावाद् न दोष इति चेत् ? न, रजतत्वारोपस्याऽसत्य-

---

[बलनिरपेक्ष उत्पत्ति का असंभव]

नश्वरत्वग्राही विकल्प को अभ्रान्त मानने पर हमने विभिन्न ज्ञानों में बोध के अन्वय की जो बात कही है वह न्याय पूर्वक उक्तरीति से सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ज्ञानों में बोध के अन्वय को सिद्ध करने वाली एक और भी युक्ति है। वह यह है कि अदृष्टोत्पत्ति अर्थात् कार्यात्मना परिणमनशील हेतु निरपेक्ष उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यदि कार्य की उत्पत्ति परिणामनशील हेतु के बिना भी मानी जायगी तो, अर्थात् ऐसे हेतु से भी मानी जायगी जिसका कार्यात्मना परिणत होने का स्वभाव नहीं है तो हेतु विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति न होकर समस्त अन्य कार्यों की उत्पत्ति का भी प्रसंग होगा। क्योंकि हेतु की अतथाभाविता यानी कार्यात्मना परिणमनस्वभाव शून्यता सभी कार्यों के लिये, अर्थात् सभी कार्यों के प्रति समान है।

११७ वीं कारिका में अनित्यत्वग्राही विकल्प से भी अनित्यत्व का निश्चय नहीं हो सकता—इस बात का प्रतिपादन किया गया है-

[अनित्यत्व का असंदिग्धनिश्चय असंभवित]

जैसे अनित्यपदार्थरूप आलम्बन से अनित्यत्वग्राही विकल्प होता है, उसी प्रकार उन्हीं आलम्बनों से वासनावश नित्यत्वग्राही विकल्प भी होता है यह बात बौद्धमत में मान्य है। इसलिये अनित्यत्वग्राही विकल्प में अप्रामाण्यज्ञान हो जाने से उससे अनित्यत्वादि का असंदिग्ध अप्रामाण्यज्ञानाऽनास्कन्दित निश्चय नहीं हो सकता।

यदि बौद्ध की ओर से यह कहा जाय कि—वासनावश उत्पन्न होने वाला विकल्प नित्यत्वादिविशिष्ट अलीक अर्थ विषयक होता है अतः उस में अलीकविषयकत्वरूप अप्रामाण्य का ज्ञान होने पर भी तदभाववान् में तदवगाहित्वरूप अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि *विकल्प में दृश्य और विकल्प्य अर्थों का अर्थात् वास्तव और अवास्तव अर्थों का एकीकरण होता है इस प्रकार अनित्य—नित्य का अभिन्नतया ग्रहण होने से धर्मी में अनित्यत्वाभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। उसके बिना अनित्यत्वाभाववाले में अनित्यत्वावगाहित्व रूप अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अनित्य-

रजतधीस्थलेऽपि सत्त्वात् सत्यरजतधीस्थले तत्तुल्यताज्ञानेनार्थसंशयात् । 'एकत्राऽरजते रजतत्वारोपः, अन्यत्र तु रजते इति न तत्तौल्यमि'ति चेत् ? न, रजते रजतत्वारोपः-इति वदत एव व्याघातात्, विकल्पस्य विशेषणमात्रविषयत्वे स्वलक्षणाऽसंस्पर्शाभ्युपगमाच्च । 'एकत्र स्वजनकाऽजनकरजतग्रहाभेदग्रहात् सत्यामन्यरजतधीविशेष' इति चेत् ? न, बाधेऽपि प्रवृत्त्यौपयिकरूपाव्याघातात् गृहीतरजतग्रहाभेदग्रहत्वेनैव रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुत्वात् ।

अथाऽगृहीतरजतग्रहभेदं दर्शनमेव रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुः, स्वतो निश्चितप्रामाण्यकत्वात्, असत्यरजतधीस्थले च शुक्तिदर्शने रजतग्रहभेदग्रहाद् न प्रवृत्तिः, केवलनिर्विकल्पकादप्रवृत्तेश्च

त्वग्राही विकल्प से अनित्यत्व के असंदिग्ध निश्चय अभाव रूप दोष नहीं हो सकता क्योंकि तदभाववति तदवगाहित्व रूप अप्रामाण्य ज्ञान से अनास्कन्दित विकल्प ही विषय का निश्चायक होता है जो अलोकविषयत्वरूप अप्रामाण्यज्ञान होने पर भी सुलभ है ।'—

[सत्य रजतज्ञान भी असत्य होने का संदेह]

किंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि—बौद्ध मत में जहाँ रजतज्ञान सत्य माना जाता है वहाँ भी रजतत्व का आरोप होता है क्योंकि रजतत्वादि धर्म बौद्धमत में अलीक है, और जहाँ असत्य रजतज्ञान होता है वहाँ भी रजतत्व का आरोप होता है। इसलिये सत्यरजतज्ञान में तुल्यताज्ञान से असत्यरजतविषयकत्व का संदेह हो जायगा । इस प्रकार जब ज्ञान असद्विषयक माना जायगा तो अनित्यत्वग्राही विकल्प में भी ज्ञानात्मना असद्ग्राही ज्ञान का साम्य होने से असद्विषयकत्व का संदेह होगा । अतः उससे अनित्यत्व का निश्चय नहीं हो सकेगा । यदि सत्य-असत्य रजतज्ञान के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि—असत्यरजतज्ञान स्थल में अरजत में रजतत्व का आरोप होता है और सत्यरजतज्ञानस्थल में रजत में रजतत्व का आरोप होता है अतः दोनों ज्ञानों में तुल्यता नहीं हो सकती''- तो यह ठीक नहीं, क्योंकि रजत में रजतत्व का आरोप बताने में वचन व्याघात है । क्योंकि रजतत्व का आरोप न होने पर ही रजत को सत्य कहा जायगा । यह भी ख्याल रहे कि बौद्ध मत में विकल्प को विशेषणमात्र विषयक माना गया है । इसलिये स्वलक्षण सत्यरजतग्राही विकल्प में आरोपित रजतत्व का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ।

[असद् ज्ञान में भी प्रवर्त्तकज्ञानाभेदग्रह मान्य]

यदि यह कहा जाय कि-'सत्यरजत का विकल्प सत्यरजत के दर्शन से उत्पन्न होता है अत एव उस में कारणीभूतज्ञान का अभेदग्रह होता है और असत्य रजतज्ञान रजतविषयकदर्शन से उत्पन्न नहीं होता किन्तु अरजत के दर्शन से उत्पन्न होता है अतः उसमें रजतग्रह का अभेदग्रह नहीं होता है । अतः दोनों में तुल्यता नहीं है'-तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि बाधस्थल में-असत्यरजतज्ञानस्थल में भी रजतार्थी की प्रवृत्ति होती ही है। अत एव असत् रजतज्ञान में भी प्रवृत्त्यौपयिक रूप का अव्याघात-अस्तित्व मानना होगा और वह रूप यही है कि प्रवर्त्तक ज्ञान में रजतग्रह के अभेद का ग्रह होना । अतः रजत ग्रह के अभेद का ग्रह असत्य रजतज्ञान में भी आवश्यक है क्योंकि जिस ग्रह में रजतग्रह का अभेद गृहीत हो वह ज्ञान ही रजतार्थी की प्रवृत्ति का हेतु होता है अतः असत् रजत ज्ञान में रजतग्रह के अभेद का ज्ञान न मानने पर उस से प्रवृत्ति न हो सकेगी ।

रजतविकल्पसाहित्यं कारणतावच्छेदकमिति न दोष इति चेत् ? न, दृश्यविषयस्य दर्शनस्य प्राप्यविषयप्रवृत्त्यहेतुत्वात्, विकल्पाऽविकल्पयोर्भिन्नकालत्वेनाऽसाहित्याच्च ।

अथ दर्शनप्रवृत्त्योरेकसंततिगामित्वेन सामान्यत एव हेतु-हेतुमद्भावः, समानविषयतया तु रजतत्वविकल्पस्यैव रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुता, अलौकिकविषयत्वेन तस्य स्वभावत एवाऽसंनिहितप्राप्यविषयत्वात् । इदमेव हि दृश्यप्राप्ययोरेकीकरणं यद् दृश्यविषयतयाध्यवसीयमानस्य प्राप्यविषयत्वम् । विशेषणमात्रविषयत्ववचनं च विकल्पस्य संनिहितविशेष्यानवगाहित्वाभिप्रायात् । शुक्तौ रजतधीस्थले बाधावतारे च रजतविशेष्यकरजतत्वप्रकारकत्वाभावरूपाऽप्रामाण्यग्रहादिति न दोष इति चेत् ?

(रजतदर्शन से रजतार्थी की प्रवृत्ति का निराकरण)

बौद्ध की ओर से यदि यह कहा जाय कि-'सत्यरजत के विकल्पस्थल में, विकल्प स्वयं रजतार्थी की प्रवृत्ति का हेतु नहीं होता किन्तु रजतग्रह का भेदज्ञान न होने से रजत का दर्शन ही रजतार्थी को प्रवृत्ति का हेतु होता है क्योंकि वह स्वतः निश्चित प्रामाण्य वाला होता है । असत्यरजतज्ञानस्थल में शुक्ति का दर्शन होने पर उस में रजतग्रह का भेदग्रह हो जाता है । इसलिये शुक्तिदर्शन के बाद प्रवृत्ति नहीं होती । किन्तु शुक्ति दर्शन के पूर्व असत्यरजत ज्ञान में भी रजतग्रह का भेदज्ञान नहीं रहता अत एव उस से प्रवृत्ति होती है । दो नों में अन्तर यही है कि सत्यरजतविकल्प रजतार्थी की प्रवृत्ति में रजतदर्शन का सहकारी होता है और असत् रजतज्ञान किसी ज्ञानान्तर का सहकारी न होकर स्वयं प्रवर्त्तक होता है किन्तु बाधज्ञान हो जाने पर वह अप्रवर्त्तक हो जाता है । केवल निर्विकल्प से प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये रजतविकल्पसहकृतदर्शन को प्रवृत्ति का कारण माना जाता है और रजतविकल्पसाहित्य प्रवृत्ति का कारणतावच्छेदक होता है अतः सत्यरजतज्ञान और असत्यरजतज्ञान में तुल्यता न होने से अर्थसंशय का आपादन रूप दोष नहीं हो सकता-" तो यह ठीक नहीं है क्यों कि दर्शन दृश्यविषयक होता है और प्रवृत्ति प्राप्यविषयक होती है और बौद्ध मत में दृश्य और प्राप्य में भेद होता है इसलिये दर्शन प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता । एवं विकल्प और दर्शन दोनों भिन्न कालिक है अत एव दोनों का साहित्य सम्भव न होने से विकल्प सहित दर्शन को प्रवृत्ति का कारण भी नहीं माना जा सकता ।

(दर्शन और प्रवृत्ति में हेतु-हेतुमद्भाव की उपपत्ति का नया तर्क]

यदि यह कहा जाय कि-दर्शन और प्रवृत्ति एक सन्तान का घटक है अत एव उन दोनों में सामान्यरूप से विषयविशेष का प्रवेश किये विना ही हेतु-हेतुमद्भाव है अर्थात् घटितत्व सम्बन्ध से प्रवृत्ति के प्रति घटितत्व सम्बन्ध से दर्शन कारण है । इस कार्य-कारणभाव के बल से दर्शन और प्रवृत्ति दोनों का एकसन्तानगामित्व सिद्ध होता है । प्रवर्त्तकज्ञान और प्रवृत्ति में समानविषयत्व की सिद्धि विकल्प-को प्रवृति का कारण मानकर सम्पन्न होती है । अर्थात् विषयता सम्बन्ध से प्रवृत्ति के प्रति विषयता सम्बन्ध से विकल्प कारण होता है इस कार्य कारण भाव से प्रवर्त्तक विकल्प और प्रवृत्ति में समानविषयकत्व की सिद्धि होती है । इस पर यह शंका कि-'प्रवर्त्तक विकल्प के समान प्राप्य अर्थ असन्निहित रहता है इसलिये वह उस का विषय नहीं हो सकता-' नहीं की जा सकती क्योंकि'विकल्प जब अपने स्वभाव के

न, एवं सति विकल्पस्य विशिष्टविषयत्वावश्यकत्वेऽलीकतदाकारायोगात् , सतोऽसद्-संस्पर्शित्वात् अन्यथा निर्विकल्पकेऽप्यनाश्वासात् निर्विकल्पकप्रामाण्यस्य सविकल्पकग्राह्यत्वेन तदप्रामाण्ये तदप्रामाण्यादिति न किञ्चिदेतदिति दिग् । एवं तत्तज्जननस्वभावत्वग्रहो न क्षणिकपक्षे, बोधान्वय एव तद्ग्रहसंभवात् , अतो न तत्र तज्जननस्वभावत्वसिद्धिरिति प्रघट्ट-कार्थः ॥११७॥

वल अलोकविषयक होता हैं तो वह असन्निहितविषयक भो हो सकता है । विकल्प में दृश्य और प्राप्य का जो एकोकरण कहा जाता है उसका भी यही अर्थ है कि विकल्प दृश्यविषयक भी होता है और प्राप्यविषयक भी होता है दृश्य और प्राप्य की एकज्ञान विषयता ही उन का एकीकरण है। ऐसा मानने पर यह शंका भी कि-"-विकल्प को बौद्ध मत में विशेषण मात्र विषयक कहा जाता है। अतः उस को दृश्य और प्राप्यविषयक कहकर विशेष्यविषयक बताना अनुचित हैं-" नहीं की जा सकती क्यों कि विकल्प को विशेषणमात्र विषयक कहने का तात्पर्य संनिहित विशेष्य का अग्राहक बताने में ही है। शुक्ति में जहां असत् रजत का ज्ञान होता है वहाँ रजत का बाधग्रह हो जाने पर जो रजतार्थी की प्रवृत्ति नहीं होती है उस का कारण यह है कि उस समय असत्यरजतज्ञान में रजतविशेष्यकरजतत्व-प्रकारकत्वाभावरूप प्रामाण्याभाव का ज्ञान हो जाने से रजत विशेष्यक रजतत्वप्रकारकत्वरूप प्रामाण्यग्रह नहीं हो पाता। निश्चित प्रामाण्यक रजतज्ञान ही रजतार्थी की प्रवृत्ति का हेतु होता है इसलिये सत्यरजतज्ञानस्थल में रजतत्व अनारोपित रहता है और असत्यरजतज्ञानस्थल में रजतत्व आरोपित रहता है' यह कहकर बौद्ध मत में रजतत्वादि की असत्यता के सिद्धान्त में दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता।'—

(विकल्प की अलीकाकारता का असंभव)

तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त रीति से जब विकल्प को विशिष्ट विषयक मानना आवश्यक हो जाता है तो उसे अलीक आकार नहीं माना जा सकता क्योंकि विशिष्ट विषयक होने पर वह विशेष्यविषयक होगा ही और विशेष्य अलीक नहीं होता। 'असत् विशेषण के सम्पर्क से विशेष्य भी असत् हो जाता है' यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सत् में असत् का सम्बन्ध दुर्घट है। अतः विकल्प अलीकाकार नहीं हो सकता। एक ज्ञान को अलीकाकार मानने पर ज्ञानात्मना दर्शन में सादृश्य होने से उसके प्रामाण्य में भी अविश्वास हो जायगा। दूसरी बात यह कि निर्विकल्प का प्रामाण्य सविकल्प से गृहीत होता है अतः जब सविकल्प ही अप्रमाण हुआ तब उससे निर्विकल्प का प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो सकता है ? अतः निर्विकल्प के प्रामाण्य और सविकल्प के अप्रामाण्य के विषय में बौद्ध का सम्पूर्ण कथन निर्युक्तिक है।

उक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ६३ वीं कारिका में बौद्ध की ओर से जो यह बात कही गई थी कि-'मृद् द्रव्य घटादि का ही जनक इसलिए होता है कि उसमें घटादि जननस्व-भावता है और घटादि भी मृदादि से ही इसलिये उत्पन्न होता है कि उसमें मृदादिजन्यस्वभावता है। एवं अग्नि व्याप्तिज्ञान पूर्वक धूमज्ञान में ही अग्नि-अनुमितिजनन स्वभावता है और अग्नि व्याप्ति ज्ञानाऽपूर्वक धूमज्ञान में नहीं है—वह बात भी भावमात्र के क्षणिकत्वपक्ष में नहीं बन सकती किन्तु घटादि में मृदादि द्रव्य का और अग्निज्ञानादि में बोध का अन्वय मानने पर ही सम्भव है।

अथ तत्तज्जननभावत्वशब्दार्थपर्यालोचनयाऽप्यन्वयसिद्धिरित्याह-

मूलं--तत्तज्जननभावत्वे ध्रुवं तद्भावसंगतिः ।
तस्यैव भावो नान्यो यज्जन्याच्च जननं तथा ॥११८॥

तत्तज्जननभावत्वे=तस्य कारणस्य मृदादेस्तज्जननभावत्वे=घटादिकार्यजननस्वभावत्वे उच्यमाने ध्रुवं=निश्चितम् , तद्भावसङ्गतिः=कारणभावपरिणतिः, कार्ये उक्ता भवति । कुतः ? इत्याह-यद्=यस्मात् तस्य=जननस्यैव भावो नान्य:=न जननादर्थान्तरभूतः, असंबन्धप्रसंगात् , जन्याच्च जननं तथा=न भिन्नमित्यर्थः ।

अयं भावः-'मृद् घटजननस्वभावा' इत्यत्र घटस्य जनने निरूपितत्वाख्यस्वरूपसंबन्धेन, तस्य च स्वभावे तादात्म्याख्यस्वरूपसंबन्धेन, तस्य च मृदि तेनान्वयाद् घटाभिन्नजननाभिन्न-

---

क्योंकि यदि कारण और कार्य में कोई अन्वय न होगा तो उक्तस्वभाव की कल्पना उक्त प्रकार से युक्तिहीन होगी । जब घटादि द्रव्य में मृद् द्रव्य का और अग्निज्ञानादि में बोध का अन्वय उक्त स्वभावकी उपपत्ति के लिये आवश्यक है तो यह तभी सम्भव हो सकता है जब मृद्द्रव्य और बोध को क्षणिक न मानकर स्थिर माना जाय ॥११७॥

११८ वीं कारिका में यह बात बतायी गई है कि तज्जननस्वभावत्व शब्द के अर्थ का पर्यालोचन करने से भी कार्य में कारण के अन्वय की सिद्धि होती है ।

मिट्टी आदि में घटादि कार्यों के जनन का स्वभाव मानने पर घटादि कार्य में तद्भाव यानी मिट्टि आदि रूप कारण के अन्वय की सिद्धि निश्चित हो जाती है । क्योंकि मिट्टी आदि में जो घटादिकार्यजननस्वभाव है वह घटाद्यात्मकत्वरूप ही है अर्थात् मिट्टी आदि घटादिजनन स्वभाव है इसलिए घटादि का उत्पादक होता है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि मिट्टी आदि कथञ्चित् घटाद्यात्मक है इसीलिए घटादि का उत्पादक होता है पटादि का उत्पादक नहीं होता है । इस बात को व्याख्याकार ने कारिका के उत्तरार्ध की व्याख्या से संकेतित किया है । व्याख्याकार ने 'तस्यैव भावः' का अर्थ किया है 'जननस्यैव भाव. जननान्नार्थान्तरभूतः' जिसका आशय यह है कि मिट्टि आदि में जो घटादिजननस्वभाव है वह घटादिजननरूप है उससे भिन्न नहीं है और घटादिजनन का अर्थ है घटादि की उत्पत्ति । यह उत्पत्ति भी घट का धर्म होने से घटात्मक है क्योंकि ऐसा न मानने पर मिट्टी आदि के साथ घटादि का असम्बन्ध होगा । जब मिट्टी आदि को असम्बद्ध का उत्पादक माना जायगा तो सर्वोत्पादकत्व की आपत्ति होगी । इस प्रकार मिट्टी आदि घटजननस्वभावात्मक होने का अर्थ है मृदादि का कथञ्चित् घटाद्यात्मक होना ।

[मिट्टी और घट के अभेद का उपपादन]

इस कारिका के अभिप्राय को व्याख्याकारने यह कहते हुये प्रकट किया है कि 'मिट्टी घटजनन स्वभाववाली' यह जो व्यवहार होता है उसमें मिट्टी द्रव्य धर्मी है और घटजननस्वभाव उसके धर्मरूप में व्यवहार्य है और धर्म-धर्मी में अभेद होता है । इसलिये स्वभाव का मिट्टी द्रव्य के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है । जनन स्वभाव जनन से भिन्न नहीं है इसलिये जनन शब्दार्थ के साथ घट

स्वभावाभिन्नत्वेन मृदि घटाभिन्नत्वं स्फुटमेव प्रतीयते; घटादतिरिक्ते जनने निरूपितत्वसंबन्ध-कल्पने तत्रापि संबन्धान्तरकल्पनेऽनवस्थानात् अभेदे च चित्रप्रतीतेर्भेदानुवेधेन समाधानात्, तथोल्लेखेन प्रतीतेस्तथाक्षयोपशमाधीनत्वात् । न चैवं 'मृद् घटीभूता' इतिवद् दण्डोऽपि घटीभूतः इति व्यवहारः स्यात्, तज्जननस्वभावत्वघटकाभेदाऽविशेषादिति वाच्यम्, तस्य तज्जननस्वभावत्वव्यवहारनियामकत्वेऽप्युपादानत्वघटकाभेदस्यैव ❀व्यर्थत्वादिति दिग् ॥११८॥

शब्दार्थ का निरूपितत्वसंज्ञक स्वरूपसम्बन्ध जिसे तादात्म्य और अभेद भी कहा जा सकता है उससे अन्वय होता है । इस प्रकार उक्त व्यवहार से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि घट से अभिन्न जनन, जनन से अभिन्न स्वभाव और स्वभाव से अभिन्न होने से ही द्रव्य घट से अभिन्न होता है । जनन को घट से अतिरिक्त मान कर यदि उसके साथ घटका निरूपितत्व सम्बन्ध माना जायगा तो यह निरूपितत्व यदि घट और जनन दोनों से भिन्न होगा तो निरूपितत्व को उन दोनों से जोडने के लिए अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी । क्योंकि निरूपितत्व यदि घट और जनन दोनों से स्वयं असम्बद्ध रहेगा तो वह दोनों को सम्बद्ध नहीं कर सकेगा । इसी प्रकार निरूपितत्व का जो सम्बन्ध माना जायगा उसके लिये भी उक्त न्याय से ही सम्बन्धान्तर की कल्पना आवश्यक होने से अनवस्था होगी । अतः जनन को घट से भिन्न न मानकर उसमें स्वरूप नामक अथवा तादात्म्यनामक निरूपितत्व सम्बन्ध की कल्पना ही उचित है ।

'जनन और घट में अभेद मानने पर "घटस्य जननं" इस प्रकार का व्यवहार अनुपपन्न होगा' यह शंका करना उचित नहीं है क्योंकि जनन में घट का अभेद भेद से अनुविद्ध है अर्थात् घट और जनन में कथञ्चित् भेदाभेद दोनों है । जैसे नीलपीतादिविषयक चित्राकार प्रतीति में विज्ञानवादी के मत में नील और पीत में ज्ञानात्मना अभेद और नील-पीताद्यात्मना भेद होता है । अतः घट और जनन में अभेद होने पर भी 'घटस्य जननम्' इस व्यवहार में कोई बाधा नहीं हो सकती । घट और जनन में अभेद मानने पर 'घटो जननम्' इस प्रकार की जनन में घटाभेद का उल्लेख करने वाली प्रतीति का भी आपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि जिसे उस प्रतीति के लिये अपेक्षित क्षयोपशम है उसे वह प्रतीति होती ही है और जिसे तदनुकूलक्षयोपशम नहीं, उसे क्षयोपशम रूप कारण का अभाव होने से उस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि-"उक्त रीति से घटजनन स्वभाव से अभिन्न घट-कारण को यदि घटात्मक माना जायगा तो जैसे 'मृद् घटीभूता=मिट्टी घट बन जाती है' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार 'दण्डोऽपि घटीभूतः=दण्ड भी घट बन जाता है'-ऐसे व्यवहार की भी आपत्ति होगी क्योंकि घटजनन स्वभावत्व के निरुक्त स्वरूप में जो अभेद प्रविष्ट है वह घट और मिट्टी द्रव्य तथा घट और दण्ड दोनों में समान है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तज्जनन-स्वभावत्वघटक अभेद और उक्त 'मृद् घटीभूता' व्यवहार का नियामक घटोपादानत्व घटक अभेद ये दोनों भिन्न है क्योंकि घटोपादानत्व घटक अभेद घटात्मना परिणामित्व रूप है और वह मिट्टीद्रव्य में ही होता है-दण्ड में नहीं होता । व्याख्या में पूर्व प्रतियों में उपलब्ध 'द्व्यर्थ' शब्द के स्थान में 'तदर्थ' ऐसा पाठ होना उचित है । उस का अर्थ है कि घटोपादानत्वघटक अभेद ही 'घटीभूता' इस व्यवहार का तदर्थ है अर्थात् 'घटीभूता' इस व्यवहार का विषय है ॥११८॥

❀ 'तदर्थ' इति तु योग्यं प्रतिभाति ।

तत् तज्जन्यस्वभावमित्यत्राप्येवमेवान्वयबोध इत्यतिदेशमाह—

मूलं–एवं तज्जन्यभावत्वेऽप्येषा भाव्या विचक्षणैः ।
तदेव हि यतो भावः स चेतरसमाश्रयः ॥११९॥

एवम्=उक्तन्यायेन तज्जन्यभावत्वेऽपि=मृदादिकारणजन्यस्वभावत्वेऽपि घटादिकार्यस्योच्यमाने एषा = तद्भावसंगतिः भाव्या = पर्यालोचनीया विचक्षणैः=न्यायज्ञैः। कुतः? इत्याह यतः=यस्माद् हि=निश्चितम् तदेव = जन्यत्वमेव भावः = घटादेः स्वसत्तालक्षणः, स चेतरसमाश्रयः=मृदादिकारणस्वरूप इति । एवं च घटेऽभेदेन मृदन्वितजन्यत्वान्वितस्वभावान्वयाद् घटान्वय इति तात्पर्यार्थः ॥११९॥ उपसंहरति—

इत्येवमन्वयापत्तिः शब्दार्थादेव जायते ।
अन्यथाकल्पनं चास्य सर्वथा न्यायबाधितम् ॥१२०॥

इत्येवम्=उक्तप्रकारेण शब्दार्थादेव=उक्तवाक्यतात्पर्यालोचनादेव अन्वयापत्तिः=अन्वयधीः जायते । 'निरूपितत्वादेरभेदस्य वस्तुनः संसर्गत्वेऽपि सार्वज्ञ्यापत्त्या सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्वात् कथमन्वयापत्तिः?' इति चेत्? 'घटो नास्ति' इत्यादौ प्रतियोगिकत्वादेरिवाक्षेपलभ्यत्वात् 'मृद् घटजननस्वभावा' इत्यादिवाक्याद् मृदि घटान्वयबोधदर्शनात् अन्यथाकल्पनं चास्य=शब्दार्थस्य 'तत् तज्जननस्वभावम्' इत्यादेः 'तदनन्तरं तद्भावः' इत्यादिरेवार्थः, तत्परिणामित्वबोधस्तु नोत्तरकालिकोऽपि, इत्यादिकल्पनं च सर्वथा = सर्व-

११९ वीं कारिका में 'तत् तज्जननस्वभावम्'–मृदादि घटजननस्वभाव होता है-इस व्यवहार में उक्त अन्वय बोध के आधारभूत रीति का "तत्तज्जन्यस्वभावम्=घटादि मृज्जन्य स्वभाव होता है" इस व्यवहार में अतिदेश यानी उसकी अवलम्बनीयता बतायी गयी है ।

जिस न्याय से 'कारण में कार्यजननस्वभावत्व' के द्वारा कार्य में कारण के अन्वय की उपपत्ति बतायी गई है उसी प्रकार न्यायज्ञ विद्वानों को 'कार्य कारणजन्यस्वभाव होता है' इस मान्यता के द्वारा भी कार्य में कारण के अन्वय की उपपत्ति समझनी चाहिये । क्योंकि घटादिकार्य में जो मिट्टी आदिजन्यत्व स्वभाव है वह स्वभाव भी मिट्टीआदिजन्यत्व रूप ही है । मिट्टी आदि जन्यत्व का अर्थ है मिट्टीआदि में घटादि का सद्भाव । मिट्टी आदि में घटादि के सद्भाव का अर्थ है घटादि का मिट्टी आदिकारणस्वरूपत्व क्योंकि घटात्मक अवस्था के प्रादुर्भाव के पूर्व घटादि के मिट्टीआदिरूप होने के अतिरिक्त घटादि की कोई दूसरी सत्ता नहीं उपपन्न हो सकती । इस प्रकार 'घट मृज्जन्यस्वरूप है' । इस व्यवहार से होनेवाली प्रतीति में जन्यत्व में मृद् का अभेद सम्बन्ध से एवं जन्यत्व का स्वभाव में अभेद सम्बन्ध से और स्वभाव का घट में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होने से घट और मृद् में अभेदान्वय की सिद्धि होती है ॥११९।

१२० वीं कारिका में पूर्व दो कारिकाओं के उक्त विचार का उपसंहार किया गया है—

प्रकारेण, न्यायबाधितम्=अनुभवविरुद्धम्, तदानन्तर्यस्याऽप्येकान्तभेदे वक्तुमशक्यत्वात्, युक्तिविरुद्धं च ॥१२०॥ किं च—

उक्त रीति से 'सत् तज्जननस्वभावम्' अर्थात् 'मृद् घटजननस्वभावा' इस शब्दार्थ का पर्यालोचन करने से ही कार्य में कारण के अन्वय का बोध हो जाता है ।

यदि यह शंका की जाय कि-'उक्त वाक्य से होने वाले बोध से मिट्टी द्रव्य में घट का निरूपितत्वादिस्वरूपअभेद होने से अभेदान्वयबोध की उपपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि यह तभी हो सकता यदि उक्त बोध घट का उपनायक यानी उपनयसंनिकर्ष बन सके । किन्तु वह ऐसा नहीं बन सकता है । आशय यह है कि सांसर्गिक ज्ञान यानी मुख्यविशेष्यताभिन्न और मुख्यविशेष्यता से साक्षान्निरूपित प्रकारताभिन्न तन्निष्ठविषयतानिरूपकज्ञान तत् का उपनायक नहीं होता । कारण 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान के बाद संयोग का और 'रजतकालीनो घटः' इस ज्ञान के बाद रजत का उपनीत भान नहीं होता, किन्तु 'रजतम्' इसप्रकार रजतत्वप्रकारक रजतविशेष्यक ज्ञान के बाद रजतत्व और रजत का उपनीत ज्ञान होता है । इसीलिये रजतस्मृति के बाद समवायसम्बन्धेन रजतत्व प्रकारक अथवा तादात्म्यसम्बन्धेन रजतप्रकारक 'इदं रजतम्' इस प्रकार शुक्ति में रजतत्व का उपनीत भान होता है । यहां यह ज्ञातव्य है कि 'वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है' और उन में किसी एक धर्म के प्राधान्य ज्ञान काल में अन्य समस्त धर्मों का भी प्रधानतया ज्ञेय धर्म के सम्बन्धरूप से या पृष्ठलग्न यानी परम्परा घटक रूप से भान होता है । जैसे 'अयं घटः' इस प्रतीति में घटत्व का घट में आश्रयता तथा स्वसमानाधिकरणयावद्धर्माश्रयता सम्बन्ध से भान होता है । अथवा उक्त प्रतीति में घटत्व में स्वसमानाधिकरणयावद्धर्माऽभेद उपलक्षणविधया भासित होता है । उपलक्षण विधया भासमान धर्म में अवच्छेदकता नहीं होती, अत एव उक्त प्रतीति में घटत्वनिष्ठ प्रकारता में निरच्छिन्नत्व सुरक्षित रहता है ।

अब यदि सांसर्गिक ज्ञान को उपनायक माना जाय तो एक धर्म प्रकारेण किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी ज्ञाता में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी क्योंकि उक्तप्रतीति घटत्व के सम्बन्ध रूप में अथवा घटत्व के पृष्ठलग्नपरम्परा के घटकरूप में यावद्धर्मों का भान होने पर उक्तज्ञानरूप उपनयसंनिकर्ष से यावद्धर्मों का प्राधान्येन-संसर्गान्यविषयविधया भी ज्ञान हो जायगा । सर्वज्ञता क्या है ?-स्वनिरूपित, ※संसर्गतान्य, 卐 केवलान्वयिधर्मनिष्ठप्रकारत्वाऽनिरूपित विषयतासम्बन्धेन सर्वत्वव्यापक ज्ञानवत्त्व ही सर्वज्ञत्व है । उक्त ज्ञान उक्त रीति से एकधर्मप्रकारेण एकवस्तु के ज्ञाता में भी सम्पन्न हो जाता है । अतः उस में सर्वज्ञत्वापत्ति होगी । अतः जब उक्तविध सांसर्गिक ज्ञान उपनायक नहीं होता तो 'मृत् घटजननस्वभावा' यह ज्ञान भी घट का उपनायक नहीं हो सकता । क्योंकि वह ज्ञान भी मृद्निष्ठमुख्यविशेष्यता और उस मुख्यविशेष्यता से भिन्न स्वभावनिष्ठ साक्षात् प्रकारता भिन्न घटनिष्ठविषयताक है । इसलिये उक्तज्ञान से मृद् में घट के अन्वयसिद्धि का अभ्युपगम निर्युक्तिक है –'

卐 विषयता में केवलान्वयिधर्मनिष्ठ प्रकारत्वाऽनिरूपितत्व का निवेश प्रमेयत्वेन यत्किञ्चित् घट का ज्ञान होने पर प्रमेयत्व सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सकल प्रमेयज्ञाता में सर्वज्ञत्व की आपत्ति के वारणार्थ किया गया है । ※ संसर्गतान्यत्व का निवेश एकधर्मप्रकारेण एकवस्तु के बोध में उस वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों को संबन्धविधया जानने वाले छद्मस्थ में सर्वज्ञत्व की आपत्ति को वारणार्थ किया गया है'-

मूलं— तद्रूपशक्तिशून्यं तत्कार्यं कार्यान्तरं यथा ।
व्यापारोऽपि न तस्यापि नापेक्षाऽसत्त्वतः क्वचित् ॥१२१॥

तद्रूपशक्तिशून्यं–मृदादिकारणरूपशक्तिशून्यम्, तत्–अधिकृतं घटादि कार्यम्, कार्यान्तरं पटादि यथा तथा विलक्षणं न स्यात्, मृदाद्यन्वयाभावेन तदानन्तर्यमात्रस्य पटादिसाधारण्येनाऽनियामकत्वात् । तथा, व्यापारोऽपि न तस्यापि=कारणस्यापि कार्ये कश्चित् नियामकः, क्षणिकत्वेन निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम् । तथा, स्वतोऽसत्त्वात् = तुच्छत्वात् कार्यस्य स्वसत्त्वप्रतिपत्तिं प्रति नापेक्षाऽपि, क्वचित्-कारणे, 'क्वचिदेवासति कारणेन सत्त्वाधानम्, नान्यत्र' इत्यत्र बीजाभावात् । अविशिष्टसत्त्वस्य विशिष्टता तु दृष्टत्वात् कारणाधेया नानुपपन्नेति भावः ॥१२१॥

किन्तु यह शंका भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे 'घटो नास्ति' अर्थात् भूतल में घटाभाव प्रतियोगितासम्बन्ध से घटविशिष्ट अभाव का वैशिष्ट्य है।' यह बुद्धि अभाव अंश में घटत्वविशिष्ट घट के प्रतियोगित्वरूप वैशिष्ट्य का अवगाहन करती है और घटत्वविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्व घटत्व के अवच्छिन्नप्रतियोगित्वरूप वैशिष्ट्य के अवगाहित्व के बिना अनुपपन्न होता है। क्योंकि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही वही ज्ञान होता है जो विशेषण और विशेषणतावच्छेदक दोनों के एक वैशिष्ट्य का अवगाहन करता है। इसलिये केवल घटरूप विशेषण के ही प्रतियोगित्वरूप सम्बन्ध का अवगाहन करने से उक्त ज्ञान घटत्व विशिष्ट-वैशिष्ट्य अवगाही नहीं हो सकता। तो जिस प्रकार अनुपपत्तिज्ञान रूप आक्षेप से उक्त ज्ञान में घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वावगाहित्व सिद्ध होता है, उसीप्रकार 'मृद् घटजननस्वभावा' इस वाक्य से उत्पन्न बोधमें मिट्टी में घटाभिन्नजननाभिन्नस्वभावाभेद का भान होता है, किन्तु यह भान मिट्टी में घटाभेद के बिना अनुपपन्न है। इस अनुपपत्तिज्ञानरूप आक्षेप से उक्तबोध में भी मिट्टी में घटाभेदविषयकत्व सिद्ध होने से उक्त बोध से मिट्टी में घट के अन्वय की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती।

यदि ऐसी कल्पना की जाय कि-'तत् तज्जननस्वभावम्'=मृद् घटजननस्वभावा' इस व्यवहार से उक्त बोध नहीं होता। अपितु 'तत् के अनंतर यानी मिट्टी द्रव्य के बाद तद्भाव अर्थात् घट का अस्तित्व होता है' यह बोध होता है। अतः इस बोध के उत्तरकाल में भी मिट्टी द्रव्य में घटपरिणामित्व का बोध अर्थात् घटान्वय का बोध नहीं हो सकता।"–तो यह कल्पना भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्तव्यवहार से इस प्रकार का बोध अनुभवविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि कारण और कार्य में एकान्त भेद मानने पर कार्य में कारण के आनन्तर्य का निर्वचन शक्य न होने से उक्त व्यवहारसे उक्त बोध मानना युक्तिविरुद्ध भी है ॥१२०॥

१२१ वीं कारिका में उक्त विषय को ही प्रकारान्तर से स्फुट किया गया है—

[कारणान्वय बिना कार्य में वैलक्षण्य की अनुपपत्ति]

यदि कार्य कारणरूप शक्ति से शून्य माना जायगा अर्थात् कार्य में कारण का अन्वय न माना जायगा तो मिट्टी आदि कारणों का घटादिरूप कार्य उसी प्रकार का कार्य हो जायगा जैसे पटादि कार्य होता है अर्थात् घटादि कार्य पटादि से विलक्षण न हो सकेगा क्योंकि जैसे पटादि में मिट्टी का

एवमप्यनन्वयाभ्युपगमो न युक्त इत्याह—

मूलं—तथापि तु तयोरेव तत्स्वभावत्वकल्पनम् ।
अन्यत्रापि समानत्वात् केवलं स्वाऽऽग्रहसूचकम् ॥१२२॥

तथापि तु=कार्यस्य तद्रूपशक्त्यादिवैकल्येनातिप्रसङ्गेऽपि स्वदर्शनानुरागेण तयोरेव अधिकृतहेतु-फलयोः, तत्स्वभावत्वकल्पनं=तत्तज्जननस्वभावत्वसमर्थनम् अन्यत्रापि = अनभिप्रेतहेतुफलभावेऽपि समानत्वात् वाङ्मात्रेण सुवचत्वात् केवलं स्वाऽऽग्रहसूचकं = वक्तुरज्ञानव्यञ्जकम् ॥१२२॥ क्षणिकत्वे परेषामागमविरोधमप्याह—

मूलं—किंचान्यत् क्षणिकत्वेव आर्षार्थोऽपि विरुध्यते ।
विरोधापादनं चास्य नाल्पस्य तमसः फलम् ॥१२३॥

अन्वय नहीं है उसी प्रकार घट में भी मिट्टी का अन्वय आपने नहीं माना और मिट्टी द्रव्य का आनन्तर्य मात्र तो जैसे घट आदि में है वैसे पटादि में भी है । अतः एव मिट्टी के अन्वय से निरपेक्ष मिट्टी का आनन्तर्य मात्र पटादि वैलक्षण्य का नियामक नहीं हो सकता । इसी प्रकार मिट्टी आदि रूप कारण से घटादि रूप कार्य के जनन का नियमन करने के लिये कोई व्यापार भी नहीं हो सकता। क्योंकि बौद्ध मत में सभी धर्म क्षणिक होते हैं अतः क्षणिक कारण का घटादि के उत्पादनार्थ कोई व्यापार नहीं बन सकता । इसी प्रकार घटादिरूप कार्य जब मिट्टी आदि में सर्वथा असत् होगा तब उसे अपनी सत्ता की सिद्धि के लिये मृदादिरूप कारण की अपेक्षा भी नहीं बन सकेगी । क्योंकि मिट्टी आदि में जैसे घटादि असत् है उसी प्रकार पटादि भी असत् है । अतः 'मिट्टी आदि कारण से असत् घटादि में ही सत्त्व का आधान हो और असत् पटादि में न हो' इस बात का कोई बीज नहीं हो सकता और जब मृदादि कारणों में घटादि कार्यों की अविशिष्ट सत्ता मानी जायगी तो मृदादि रूप कारणों से घटादिरूप कार्यों में विशिष्ट सत्ता का आधान मानने में कोई आपत्ति न होगी क्योंकि अविशिष्ट सत् में कारण द्वारा विशिष्टता का आधान लोक में दृष्ट है जैसे पाक के पूर्व रक्तत्व से अविशिष्ट घट में पाक से रक्तत्वविशिष्टता का आधान सर्वविदित है ॥१२१॥

१२२ वीं कारिका में कार्य में कारण के अनन्वयपक्ष की निर्युक्तिकता एक और अन्य प्रकार से बताई गई है—

कार्य में कारणरूप शक्ति का अन्वय न मानने पर सभी कारणों से सभी कार्यों के जन्म का अतिप्रसंग होने पर भी यदि अपने दर्शन के प्रति विशेष अनुरागवश, कारणविशेष और कार्यविशेष के मध्य ही कारण में कार्यविशेष जननस्वभावत्व और कार्य में कारणविशेष जन्यस्वभावत्व के समर्थन का आग्रह किया जायगा तो जिन पदार्थों में कार्य कारणभाव नहीं है उनमें भी तज्जननस्वभावत्व आदि की कल्पना की प्रसक्ति होगी क्योंकि कल्पना यदि निर्युक्तिक वचन मात्र से ही करनी है तो ऐसा वचन जिन पदार्थों के बीच कार्यकारणभाव मान्य नहीं है उन पदार्थों में भी समान है। अतः इस प्रकार का समर्थन वक्ता के अज्ञानमात्र का ही सूचन कर सकता है, उसके अभिमत की सिद्धि उससे नहीं हो सकती ॥१२२॥

१२३ वीं कारिका में क्षणिकत्व पक्ष में बौद्ध आगम के विरोध का भी प्रदर्शन किया है—

किञ्च, अन्यद् दूषणान्तरम्, यतः क्षणिकत्वेऽभ्युपगम्यमाने वः=युष्माकम् आर्षार्थोऽपि आगमार्थोऽपि विरुध्यते=असंगतो भवति। अस्य च आर्षार्थस्य विरोधापादनं नाल्पस्य तमस अज्ञानस्य फलम् किन्तु महत एव, तदप्रामाण्यापत्तौ तन्मूलकामुष्मिकप्रवृत्तिमात्रविच्छेदादिति भावः ॥१२३॥ किं तदार्षं यस्य विरोधः क्षणिकत्व आपद्यते ? इति जिज्ञासायामाह–

मूलं- इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥१२४॥

इतः=अस्माद् वर्त्तमानात् कालात् अतीते काले मे=मया शक्त्या=स्वव्यापारेण पुरुषो हतः=व्यापादित। तेन कर्मविपाकेन=पुरुषव्यापादनजनितकर्मभोगकालाभिमुख्येन, 'रोगेण वेदनावान्' इत्यादौ पुरुषान्वितवेदनायां रोगजन्यत्वान्वयवद् विपाकान्विते कर्मणि तज्जन्यत्वान्वयात्, भिक्षवः ! अहं पादे विद्धोऽस्मि कण्टकेन। तेन सर्वज्ञत्वात् पश्यतोऽपि कण्टकं कथं पादे कण्टकवेधः ? इत्याशङ्का निवर्त्तता भवताम्, नियमवेदनीयत्वात् प्रागर्जितकर्मणः। न ह्येतद् ममापि फलमदत्वा निवर्तते इति मा कार्षीत् कोऽपीदृशं कर्म-इति शिष्यान् बोधयितुं बुद्धस्यैवमुक्तिः ॥१२४॥

[क्षणिकवाद में बौद्धशास्त्र वचन का विरोध]

भावमात्र को क्षणिक मानने पर एवं कार्य-कारण में अन्वय न मानने पर बौद्ध मत में एक अन्य दोष भी है वह यह कि ऐसा मानने पर उनके ऋषि वचन का प्रतिपाद्य अर्थ भी असंगत हो जाता है और अपने ही ऋषिवचन का विरोधापादक कथन वक्ता के साधारण अज्ञान का नहीं किन्तु महान अज्ञान का सूचक है क्योंकि यदि ऋषिवचन अप्रमाण हो जायगा तो उसके आधार पर पारलौकिक फल के उद्देश्य से उपदिष्ट सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का लोप हो जायगा ।।१२३॥

१२४ वीं कारिका में उस आर्षवचन का उल्लेख किया गया है-भावमात्र को क्षणिक मानने पर जिसका विरोध प्रसक्त होता है-

[अतीतकाल में पुरुष हत्या से बुद्ध के पैर में काँटा चुभा]

प्रस्तुत कारिका द्वारा निर्दिष्ट बौद्ध मत के आर्षवचन का अर्थ इस प्रकार है-बुद्धने अपने शिष्यों को बोध कराने के लिये यह वचन कहा था कि आज से पूर्व ९१ वे कल्प में मैंने अपनी चेष्टा से एक मनुष्य का वध किया था उस वधात्मक कार्य से जो पापात्मक कर्म उस समय उत्पन्न हुआ उस का भोगकाल उपस्थित होने पर हे भिक्षुओं ! मेरे पैर में कांटा चुभ गया है। इससे तुम्हें यह शंका नहीं करनी चाहिये कि मैं सर्वज्ञ हूं अतः कांटे को भी देखता हूं इसलिए उससे बचना मेरे लिए अत्यन्त सरल है फिर भी मेरे पैर मे कांटा कैसे चुभे ? क्योंकि पूर्वोपार्जित कर्म का फलभोग नियम से होता है अतः जो कर्म पूर्व में मैंने अर्जित किया है वह विना फल दिये हुये समाप्त नहीं हो सकता। तो तुम्हें भी अवश्य ही इस प्रकार का बुरा कर्म नहीं ही करना चाहिये।

अत्र च यथा विरोध आपद्यते तथाह--

मे-मयेत्यात्मनिर्देशस्तद्गतोक्ता वधक्रिया ।
स्वयमाप्तेन यत्तद् वः कोऽयं क्षणिकताग्रहः ? ॥१२५॥

अत्र 'मे=मया' इत्यात्मनिर्देशः अस्मच्छब्दस्य स्वतन्त्रोच्चारयितरि शक्तत्वात् । षष्ठ्यन्तास्मच्छब्दस्य 'मे' इति रूपभ्रमवारणाय 'मया' इति विवरणम् । तद्गता=आत्मगता

[卐वृत्ति के एक देश में वृत्ति अघटक पदार्थ का अन्वय कैसे ?]

व्याख्याकार ने कारिका के 'तेन विपाकेन' इस भाग की व्याख्या करते हुये यह बताया है कि जैसे 'रोगेण वेदनावान् = यह पुरुष रोग से दुखी है'- इस प्रतीति में वेदनावान् इस तद्धितान्त वृत्ति शब्द के घटक वेदना शब्दार्थ का अन्वय पुरुष में होता है और उस पुरुषान्वित वेदना में रोगेण इस तृतीयान्त पद के रोगजन्यत्व रूप अर्थ का अन्वय होता है उसी प्रकार कर्मविपाक इस समस्त वृत्ति पद के घटक कर्मपदार्थ का विपाकपदार्थ मे अन्वय होता है और उस विपाकान्वित कर्म में तेन शब्द के तज्जन्यत्व=अतीतकालकृतपुरुषवधजन्यत्व का भी अन्वय हो सकता है। अतः 'वृत्ति शब्द के एकदेशार्थ वृत्ति के अघटक शब्दार्थ का अन्वय व्युत्पत्तिविरुद्ध होने से 'तेन कर्मविपाकेन' इस शब्द का पुरुषवधजन्य कर्म का विपाक रूप अर्थ नहीं हो सकता, यह शंका निर्मूल हो जाती है क्योंकि उक्त प्रामाणिक प्रयोगों के अनुरोध से उक्त व्युत्पत्ति को इस परिवर्तित रूप में स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वृत्ति के अघटक जिस जिस पद के अर्थ का वृत्ति शब्द के एकदेशार्थ के साथ अन्वय अभियुक्त सम्मत है उन पदों से भिन्न वृत्तिअघटक पदार्थ का वृत्तिघटकशब्दार्थ के साथ अन्वय नहीं होता। वृत्तिघटक जिन पदों के अर्थ का वृत्ति शब्द के एकदेशार्थ के साथ अन्वय अभियुक्त सम्मत हैं उन पदों में कारक विभक्ति भी आती है । अतः जैसे 'रोगेण वेदनावान्' इस स्थल में तृतीया रूप कारक विभक्त्यर्थ जन्यत्व का वृत्तिशब्दार्थ एक देश वेदना में अन्वय होता है उसी प्रकार तेन शब्द में तत् शब्द के उत्तर श्रूयमाण तृतीया विभक्ति भी कारक विभक्ति है अतः उसके अर्थ का भी कर्मविपाक इस समासात्मक वृत्ति शब्द के एकदेशार्थ कर्मशब्दार्थ के साथ अन्वय निष्कंटक है । व्युत्पत्ति का यह परिवर्तित रूप जगदीश तर्कालङ्कार के शब्दशक्तिप्रकाशिका ग्रन्थ में 'प्रतियोगिपदादन्यद् यदन्यद् कारकादपि वृत्तिशब्दैकदेशार्थे न तस्यान्वय इष्यते' इस प्रकार अङ्कित है । १२४।

१२५ वीं कारिका में भावमात्र को क्षणिक मानने पर उक्त आर्ष वचन का विरोध कैसे होता है इस बात का प्रतिपादन किया गया है :—

['मे' शब्द से कर्त्ता-भोक्ता का अभेद निर्देश]

उक्त ऋषि वचन में बुद्ध द्वारा मे शब्द से अपनी आत्मा का निर्देश किया गया है क्योंकि मे' शब्द अस्मद् शब्द का रूप है और अस्मद् शब्द की स्वतन्त्र उच्चारणकर्त्ता में शक्ति होती है। उक्त वचन में मे' शब्द के स्वतन्त्र उच्चारण कर्त्ता बुद्ध है अतः 'मे' शब्द से निश्चित रूप से बुद्ध का

卐 'कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातवः पञ्चवृत्तयः' इस शब्दशास्त्रीय वचनानुसार 'कृत्-प्रत्ययान्त २तद्धित प्रत्ययान्त ३समस्तवाक्य ४एकशेषवाक्य और ५सनादिप्रत्ययान्त धातु, इन पांच प्रकार के शब्द वृत्ति शब्द से संज्ञात होते हैं ।

वधक्रिया स्वयमाप्तेनोक्ता यद्=यस्मात् तृतीयाया आधेयत्वार्थत्वात्, हन्तेः प्राणवियोगानुकूलव्यापारार्थत्वात् क्तप्रत्ययस्य च तज्जन्यफलशालित्वरूपकर्मत्वार्थत्वात्; तत् = तस्मात् कारणात् कोऽयम् अप्रामाणिकः वः=युष्माकं क्षणिकताऽऽग्रहः? बुद्धेन कर्तृ-भोक्त्रोरभेदे प्रतिपादिते तदवगणनेन तद्भेदाभ्युपगमानौचित्यादिति भावः ॥१२५॥

अत्रैवाक्षेप-परिहारावाह-

संतानापेक्षयैतच्चेदुक्तं भगवता ननु ।
स हेतुफलभावो यत्तद् 'मे' इति न संगतम् ॥१२६॥

एतत् - इत एकनवते० [का० १२४] इत्यादि, चेद् भगवता संतानापेक्षयोक्तम्, 'ननु' इत्याक्षेपे, सः-संतानः, यद्=यस्मात् हेतु-फलभावः, तत्-तस्मात्, 'मे' इति न संगतम्, हन्तृक्षणनिष्ठाया वधक्रियाया उच्चारयितृक्षणवृत्तित्वाभावादिति भावः ॥१२६॥

हो निर्देश मान्य है। ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कारिका में 'मे' शब्द का 'मया' इस रूप में विवरण कर दिया है जिस से उसे अस्मद् शब्द का षष्ठ्यन्त रूप समझकर और उस के अर्थ का पुरुष शब्दार्थ के साथ अन्वय होने का भ्रम न हो और 'मम पुरुषो हतः' इस प्रकार के अर्थ की कल्पना का प्रसङ्ग न हो। इस प्रकार 'मे' शब्द द्वारा बौद्ध मत के आप्त पुरुष स्वयं बुद्ध ने अतीत काल में की हुई वध क्रिया को उस के फल-भोग काल में आत्मगत बतायी है। क्योंकि 'मे' का जो मया ऐसा विवरण दिया गया है उस विवरण पद में तृतीया का आधेयत्व अर्थ है और 'हतः' शब्द में हन् धातु का प्राणवियोगानुकूल व्यापार अर्थ है। अस्मद् शब्द के उत्तर श्रूयमाण तृतीया विभक्ति के आधेयत्व अर्थ का उस में अन्वय है। 'हतः' इस शब्द में हन् धातु के उत्तर श्रूयमाण प्रत्यय का व्यापारजन्यफलशालित्वरूप कर्मत्व अर्थ है। उस के एक देश व्यापार में हन् धात्वर्थ व्यापार का अभेद सम्बन्ध से अन्वय है। 'घटो रक्तघटः' इस प्रकार के वाक्यों के प्रामाणिक होने से उद्देश्य-विधेय में ऐक्य होने पर भी विधेयांश में अधिकावगाही बोध मान्य होता है अतः क्तप्रत्ययार्थ के एक देश व्यापार में प्राणवियोगानुकूलव्यापार रूप अधिकार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है। 'मया हतः' इतने भाग के उक्त अर्थ का पुरुष में अन्वय होने से पुरुष में 'अस्मन्निष्ठप्राणवियोगानुकूलव्यापाराऽभिन्नव्यापारजन्यप्राणवियोगरूपफलाश्रयः पुरुषः' यह बोध होता है। इस प्रकार के 'मया पुरुषो हतः' इस बुद्ध वचन से यह ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में किये गये पुरुषवधजन्य पाप के फलभोग के समय वही बुद्ध विद्यमान हैं जिन्हों ने पूर्वकाल में अपने व्यापार से पुरुष को प्राणों से वियुक्त किया था। तो इस प्रकार जब बुद्ध के आप्त पुरुष में ही भिन्नकालिक कर्ता और भोक्ता में अभेद का प्रतिपादन किया है तो उस की अवमानना कर के कर्ता और भोक्ता में भेद मानना अनुचित है। अतः भावमात्र की क्षणिकता में बौद्धों का अप्रामाणिक आग्रह 'किम्मूलक है' कहना कठीन है ।१२५।

१२६ वीं कारिका में बौद्ध मत की उक्त आलोचना पर बौद्धों के आक्षेप और उस के परिहार का वर्णन किया गया है—

अभिप्रायान्तरं निराकुरुते—

मम्मैव हेतुशक्त्या चेत्तस्यार्थोऽयं विवक्षितः।
नाऽत्र प्रमाणमत्यक्षा तद्विवक्षा यतो मता ॥१२७॥

तस्य = 'शक्त्या मे' इत्यस्य, 'मम्मैव हेतुशक्त्या' इत्ययमर्थो विवक्षितः, शक्तिपदस्य हेतुशक्त्यर्थत्वात्, 'मे' इत्यस्य च 'मम' इत्यर्थात्, 'मे' इत्यस्यैव लक्षणया 'मदीयहन्तृक्षणेन' इत्यर्थात् वेति चेत्? नाऽत्र = ईदृशेऽर्थे प्रमाणम् किञ्चित्। यतस्तद्विवक्षा=बुद्धविवक्षा, अत्यक्षा = अतीन्द्रिया मता, अतस्तादृशबुद्धविवक्षायां नाध्यक्षम्, न वा तन्मूलमनुमानमिति भावः ॥१२७॥

[संतान की अपेक्षा 'मे' यह निर्देश असंगत]

यदि उक्त आलोचना के सम्बन्ध में बौद्धों की ओर से यह बचाव किया जाय कि-"भगवान बुद्ध ने जो चिरपूर्वकाल में पुरुष के वधकर्ता रूप में और चिर उत्तरकाल में उस कर्म के फलभोक्तारूप में अपना ऐक्य बताया है, उन का वह कथन व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं किन्तु सन्तान की अपेक्षा से है। जिस का आशय यह है कि जिस सन्तान का घटक होते हुये मैंने इतने लम्बे पूर्वकाल में पुरुष का वध किया था उसी सन्तान का घटक होने से मुझे इतने लम्बे काल के व्यवधान के बाद उस कर्म का फल प्राप्त हो रहा है।" तो यह बचाव संगत नहीं है क्योंकि सन्तान तो हेतु-फल भावरूप है, अर्थात् पूर्वोत्तर क्षणों का निरन्तर घटित होनेवाला हेतुफलात्मक प्रवाह रूप है। किन्तु उस प्रवाह के मध्य आने वाले पूर्वोत्तरभाव आपन्न क्षण भिन्न भिन्न हैं। पुरुष की वध क्रिया हन्ताक्षण में रहती है, उच्चारयिताक्षण में नहीं रहती, क्योंकि अस्मत् शब्द का उच्चारयिताक्षण हन्ता क्षण से भिन्न है। अतः 'मया' शब्द से उसकी एक संतान निष्ठता का कथन प्रवाह की अपेक्षा युक्ति संगत नहीं हो सकता ॥१२६॥

१२७ वीं कारिका में इस सम्बन्ध में बौद्ध के एक अन्य अभिप्राय का निराकरण किया गया है-

['शक्त्या मे' इस को 'मेरे हेतुक्षण की शक्ति से' इस अर्थ में विवक्षा अप्रमाण]

उपर्युक्त कथन के विरुद्ध बौद्ध की ओर से यदि यह अभिप्राय प्रकट किया जाय कि उक्त आर्षवचन में जो 'मे' शब्द आया है उस का मम अर्थ है और शक्ति शब्द का अर्थ हेतु शक्ति है। इस-प्रकार उस वचन से बुद्ध का यह तात्पर्य उपलब्ध होता है कि मैं सन्तान-प्रवाहरूप हूं, मेरा ही घटक एकक्षण हन्ताक्षण है वही हेतुशक्तिरूप है। इस प्रकार मेरे हन्ताक्षण में चिरपूर्व काल में पुरुष का वध किया था और मेरा सन्तानीय वर्तमान क्षण उस कर्म का फल भोग रहा है। अत बुद्ध के वचन से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की एकव्यक्तिनिष्ठता प्रतीत नहीं होती किन्तु एक सन्ताननिष्ठता प्रतीत होती है। अतः समस्तभाव की क्षणिकता का अभ्युपगम करने से उक्त वचन का कोई विरोध नहीं होता।"

किन्तु बुद्ध के उक्त वचन का ऐसा अर्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध की ऐसी ही अर्थविवक्षा है क्योंकि उनकी ऐसी विवक्षा अतीन्द्रिय है अतः बुद्ध की उक्तार्थ विवक्षा में न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और न तन्मूलक अनुमान प्रमाण भी है। १२७॥

तदीयक्षणिकत्वदेशनान्यथानुपपत्त्या तादृशी बुद्धविवक्षाऽनुमास्यत इत्यत्राह—

मूलं--तद्देशना प्रमाणं चेन्न सान्यार्था भविष्यति ।
अत्रापि किं प्रमाणं चेदिदं पूर्वोक्तमार्षकम् ॥१२८॥

तद्देशना 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्याद्या बुद्धदेशना प्रमाणं चेत् तादृशबुद्धविवक्षायाम् ? न=नैवम् यतः सा=उक्तदेशना अन्यार्था=संसाराऽऽस्थानिवृत्त्यर्था भविष्यति । तथा च तस्यास्तात्पर्ये प्रामाण्यम् न तु यथाश्रुतार्थ इति भावः । तत्रापि तद्देशनाया अन्यार्थतायामपि किं प्रमाणम् ? इति चेत् ? इदं पूर्वोक्तम् 'इत एकनवते' [का. १२४] इत्यादिकम् आर्षम् । न च 'क्षणिकत्वदेशनान्यथानुपपत्त्या उक्तदेशनाया अन्यार्थत्वम्, एतदन्यथानुपपत्त्या वा क्षणिकत्वदेशनाया, इत्यत्र विनिगमकाभावः; क्षणिकत्वपक्ष उक्तदोषोपनिपातस्य तद्देशनाया अन्यार्थत्वे विनिगमकत्वादिति भावः ॥१२८॥ आर्षान्तरविरोधमाह—

मूलं--तथान्यदपि यत्कल्पस्थायिनी पृथिवी क्वचित् ।
उक्ता भगवता भिक्षूनामन्त्र्य स्वयमेव तु ॥१२९॥

तथा अन्यदपि विरुद्धम् यत् क्वचित् सूत्रान्तरे भगवता बुद्धेन भिक्षूनामन्त्र्य स्वयमेव कल्पस्थायिनी पृथिव्युक्ता 'कप्पट्ठाइ पुढइ भिक्खवो !' ● इति वचनात् । पृथिवीसंततेः कल्प-

१२८ वीं कारिका में बौद्ध के इस कथन का कि 'भगवान ने जो भावमात्र की क्षणिकता का उपदेश किया है वह बुद्ध के उक्त वचन से उक्त अर्थ की विवक्षा न मानने पर अनुपपन्न होगी इसलिए इस अन्यथानुपपत्ति से ही बुद्ध की उक्त विवक्षा का अनुमान होगा' निराकरण किया गया है —

बुद्ध की देशना कि 'सम्पूर्ण संस्कार=भाव क्षणिक है, बुद्ध के उक्त वचन के उक्त अर्थ की विवक्षा में प्रमाण है यह मान्य नहीं हो सकता क्योंकि उक्त देशना का प्रयोजन अन्य है और वह प्रयोजन है संसार से आस्था की निवृत्ति यानी संसार में आसक्ति का परित्याग । बुद्धकी उक्तदेशना का यही तात्पर्य मानना उचित है । बुद्ध सम्पूर्ण संसार को क्षणिक बताकर मनुष्य को संसार में अनासक्त बनाना चाहते हैं इस प्रकार उक्त देशना बुद्ध के इस तात्पर्य में प्रमाण है न कि अपने यथाश्रुत अर्थ वाले शब्द सुनने से आपाततः प्रतीयमान होने वाले अर्थ सम्पूर्ण भावों की क्षणिकता में । यदि इस प्रकार शंका की जाय कि उक्त देशना अन्यार्थ में अर्थात् उक्त तात्पर्य में प्रमाण है-इसमें क्या प्रमाण है ? तो इसका उत्तर यह है कि इसमें बुद्ध का 'इत एकनवते' यह वचन ही प्रमाण है । यदि यह शका की जाय कि क्षणिकत्व देशना की अन्यथा उपपत्ति न होने से उक्त देशना अन्यार्थक= सन्तानाभिप्रायक है अथवा उक्तबुद्ध वचन की अन्यथानुपपत्ति से क्षणिकत्व देशना अन्यार्थक=संसार के प्रति आस्था-निवृत्त्यर्थक है इसमें कोई विनिगमक नहीं हैं-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भावमात्र क्षणिकता पक्षमें पूर्वोक्त दोषों की प्रसक्ति ही क्षणिकत्वदेशना के अन्यार्थकत्व में विनिगमक है ॥१२८॥

१२९ वीं कारिका में बुद्ध मत के अन्य आर्ष वचन का विरोध बताया गया है—

● कल्पस्थायिनी पृथीवी भिक्षवः !

स्थायित्वोक्तेर्न दोष इति चेत् ? न, एकवचनतानुपपत्तेः। सांवृतमेकत्वमिति चेत् ! कल्पस्थायित्वाद्यपि तथाऽस्तु। इति सर्वं विलुप्येत। तस्माद् यथाश्रुतार्थ एव ज्यायान् ॥१२९॥ तथा–

'पञ्च बाह्या द्विविज्ञेया' इत्यन्यदपि चार्षकम्।
प्रमाणमवगन्तव्यं प्रक्रान्तार्थप्रसाधकम् ॥१३०॥

पञ्च बाह्या-रूपादयः, द्विविज्ञेयाः इन्द्रिय-मनोविज्ञानग्राह्याः,' इत्यन्यदपि चार्षं प्रक्रान्तार्थप्रसाधकम्–अक्षणिकत्वप्रसाधकं परापेक्षया प्रमाणमवगन्तव्यम् ॥१३०॥

कथमेतदेवमित्याह—

क्षणिकत्वे यतोऽमीषां न द्विविज्ञेयता भवेत्।
भिन्नकालग्रहे ह्याभ्यां तच्छब्दार्थोपपत्तितः ॥१३१॥

[यह पृथिवी कल्पस्थायिनी है- इस वचन का विरोध क्षणिकवादमें]

बुद्ध का दूसरा वचन भी भावमात्र को क्षणिक मानने पर विरुद्ध होता है इस सूत्र 'कल्पट्ठाई पुहई भिक्खवो !' से बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधन कर स्वयं ही पृथिवी को कल्पपर्यन्त स्थिर बतायी है। यदि यह कहा जाय कि उसका तात्पर्य पृथिवी संतान को कल्पपर्यन्त स्थायी बताने में है। अतः भावमात्र की क्षणिकता पक्ष में उक्तवचन का विरोधरूप दोष नहीं हो सकता-तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि पृथ्वी संतान अनंत पृथ्वीक्षणों का समुदाय रूप होने से अनेक है अतः उसकी विवक्षा होने पर एकवचनान्तपृथ्वी शब्द का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता। पृथ्वीसन्तानगत एकत्व को सांवृत वासनामूलक मानकर भी एकवचनान्तता की उपपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि यदि एकत्व को सांवृत=आविद्यक माना जायगा तो कल्पस्थायित्वादि भी आविद्यक हो जायगा और उसी प्रकार सारा बाह्य पदार्थ ही आविद्यक हो जायगा तो सर्वलोप--सर्वशून्यता की आपत्ति होगी। अतः उक्त-सूत्र का यथाश्रुत अर्थ में भावमात्र को क्षणिक मानने पर उक्त वचन का विरोध अनिवार्य है॥१२९॥

१३० वीं कारिका में बुद्ध के एक वचन को भावमात्र को स्थैर्यसिद्धि में अनुकूल बताया गया है-

['द्विविज्ञेयाः' वचन की अनुपपत्ति]

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द ये पांच बाह्य पदार्थ इन्द्रियजन्य और मनोजन्य इन दो ज्ञानों से ग्राह्य है-यह भी एक बुद्ध का वचन है। यह वचन भी प्रस्तुत यानी भावों के अक्षणिकत्व की सिद्धि के साधन में बुद्ध के प्रति बुद्ध मतानुयायियों की आस्था के अनुसार भी प्रमाण हो जाता है ॥१३०॥

१३१ वीं कारिका में पूर्वोक्त कारिका के प्रतिपाद्य का उपपादन किया गया है—

[क्षणिकवाद में एक विषय विज्ञानद्वयगृहीत नहीं होता]

बुद्ध ने रूपादि विषयों को इन्द्रिय और मन से उत्पन्न दो विज्ञानों से ग्राह्य कहा है-किन्तु रूपादि-विषय यदि क्षणिक होंगे-अपने जन्मक्षण के निरन्तर उत्तरकाल में नष्ट होंगे तो दो विज्ञानों से ग्राह्य

यतोऽमीषां रूपादीनाम् क्षणिकत्वे = क्षणानन्तरं नाशशीलत्वे, द्विविज्ञेयता न भवेत्, हि=यतः आभ्यां=इन्द्रियमनोभ्यां भिन्नकालग्रहे = कालभेदेन ज्ञानद्वयजनने तच्छब्दार्थोपपत्तिः=द्विविज्ञेयत्वशब्दार्थस्य घटमानत्वात् ।।१३१।।

एकदापि ताभ्यां ज्ञानद्वयजननाद् द्विविज्ञेयत्वमुपपत्स्यत इत्यत्राह--

एककालग्रहे तु स्यात्तत्रैकस्याऽप्रमाणता ।
गृहीतग्रहणादेवं मिथ्या ताथागतं वचः ।।१३२।।

एककालग्रहे तु = एकेन्द्रियमनोभ्यां ज्ञानद्वयजनने तु तत्र = तयोर्मध्ये एकस्य = अभिमतैकस्य गृहीतग्रहणादप्रमाणता स्यात् । एवं सति ताथागतं = बौद्धं वचः 'पञ्च बाह्या द्विविज्ञेयाः' इति मिथ्या = अप्रमाणं स्यात् ।।१३२।। पराभिप्रायमाह--

इन्द्रियेण परिच्छिन्ने रूपादौ तदनन्तरम् ।
यद् रूपादि ततस्तत्र मनोज्ञानं प्रवर्त्तते ।।१३३।।

इन्द्रियेण = इन्द्रियज्ञानेन परिच्छिन्ने = गृहीते रूपादौ विषये तदनन्तरम् इन्द्रियपरिच्छेद्यरूपाद्यनन्तरम् यद्रूपादि तज्ज्ञानसमानकालभावि ततः = इन्द्रियपरिच्छेदात् समनन्तरात्, तत्र = तज्ज्ञानसमानकालभाविनि रूपादौ मनोविज्ञानं प्रवर्त्तते = ग्रहणव्यापृतं

नहीं हो सकते, क्योंकि इन्द्रिय और मन द्वारा भिन्न काल में दो ज्ञानों का जन्म होने पर ही 'रूपादि विषय द्विविज्ञेय हैं' इसके शब्दार्थ की उपपत्ति हो सकती है। किन्तु यदि रूप आदि एक ही क्षण रहेंगे तो विभिन्न दो क्षणों में उनके ज्ञान-द्वय का जन्म नहीं हो सकता ।।१३१।।

१३२ वीं कारिका में एककाल में इन्द्रिय और मन से ज्ञान द्वय की उत्पत्ति मान कर रूपादि विषयों में द्विविज्ञयता के समर्थन का निराकरण किया गया है—

यदि एक काल में इन्द्रिय और मन से होनेवाले दो ज्ञानों से रूपादिविषय ग्राह्य होते हैं-इस अर्थ में रूपादि को द्विविज्ञेय माना जायगा तो उन दोनों में प्रत्येक एक दूसरे से गृहीत का ग्राहक होने से दोनों ही अप्रमाण हो जायेंगे । अत एव तथागत का उक्तवचन- रूपादि पाँच पदार्थ द्विविज्ञेय-दो प्रमाणों से ज्ञेय होते हैं' अप्रमाण हो जायगा ।।१३२।।

१३३ वीं कारिका में इस सम्बन्ध में बौद्ध अभिप्राय को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है —

[द्विविज्ञेयता के उपपादनार्थ बौद्ध प्रयास]

कारिका का अर्थ इस प्रकार है-रूपादि की द्विविज्ञेयता के सम्बन्ध में बौद्धों का यह कथन है कि-रूपादि विषय का इन्द्रिय से ज्ञान होने पर इन्द्रिय से ज्ञेय रूपादि के अनन्तर इन्द्रियजन्य ज्ञानकाल में जो रूपादि उत्पन्न होता है उस रूपादि को मनोविज्ञान ग्रहण करता है और वह मनोविज्ञान निरंतर पूर्ववर्ती इन्द्रियजन्य रूपादिज्ञान स्वरूप समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होता है । इस प्रकार इन्द्रियजन्य

भवति । तदाह न्यायवादी-"स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं मनोविज्ञानम्" इति ॥१३३॥ निगमयति–

एवं च न विरोधोऽस्ति द्विविज्ञेयत्वभावतः ।
रूपादीनामपि चेद् न्यायादेतदप्यसमञ्जसम् ॥१३४॥

एवं च न्यायात् उक्तयुक्तेः, पञ्चानामपि रूपादीनाम् द्विविज्ञेयत्वभावतः=इन्द्रिय-मनोविज्ञेयत्वोपपत्तेः, न विरोधोऽस्त्युक्तवचनस्य इति चेत् ? अत्रोत्तरम्-एतदपि उक्तम् असमञ्जसम्=अयुक्तिमत् ॥१३४॥ कुतः ? इत्याह—

नैकोऽपि यद् द्विविज्ञेय एकैकेनैव वेदनात् ।
सामान्यापेक्षयैतच्चेन्न तत्सत्त्वप्रसङ्गतः ॥१३५॥

यद्=यस्मात् कारणात् एकोऽपि पञ्चानां मध्ये एवं न द्विविज्ञेयः, ऐकैकेन=इन्द्रियज्ञानादिना 'एतदुत्तरं एकैकस्य' इति शेषः, एकैकस्यैव वेदनात् । तथा च न केषुचिद् द्विविज्ञेयत्वमित्यर्थः । परः शङ्कते-सामान्यापेक्षया=रूपादिसामान्यापेक्षया एतत्=द्विविज्ञेयत्वम् चेत्=यदि उपपद्यते 'तदा को दोषः, इत्युपस्कारः । अत्रोत्तरम्-नैतदेवम् तत्सत्त्वप्रसङ्गत=सामान्यसत्त्वप्रसंगात् ॥१३५॥ सत्त्वेऽपि दोषमाह–

ज्ञानरूप समनन्तरप्रत्यय से उत्पन्न होनेवाले मनोविज्ञान से ज्ञेय होने में ही बुद्धोक्त 'द्विविज्ञेय' वचन का तात्पर्य है । जैसा कि न्यायवादी धर्मकीर्ति ने कहा है मनोविज्ञान अपने विषयभूत रूपादि के अनंतर अव्यवहितपूर्वरूपादि विषय से सहकृत इन्द्रियजन्य ज्ञान रूप समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होता है ॥१३३॥ १३७ वीं कारिका में उक्त अर्थ का उपसंहार बताया गया है—

उक्त युक्ति से रूपादि में द्विविज्ञेयत्व की उपपत्ति होने से मात्र के क्षणिकता पक्ष में बुद्ध के उक्त वचन का विरोध नहीं हो सकता है । ग्रन्थकार का कहना है कि यह कथनयुक्तिहीन है। १३४॥

१३५ वी कारिका में पूर्व कारिका संकेतित युक्तिवैकल्य को स्फुट किया गया है—

[द्विविधेयता उपपादक बौद्ध प्रयास की निष्फलता]

उक्तरूप से रूपादिविषयों में द्विविज्ञेयता का उपपादन असंगत है क्योंकि रूपादि पाँचों विषयों के मध्य में कोइ भी विषय उक्त रीति से द्विविज्ञेय सिद्ध नहीं होता क्योंकि एक ही रूपादि व्यक्ति का एक ही इन्द्रिय से ज्ञान सिद्ध होता है । यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्पन्न चाक्षुषादिज्ञान से रूप ही गृहीत होता है और पश्चात् उत्पन्न मनोविज्ञान से भी रूप ही गृहीत होता है अतः प्रातिस्विक यानी व्यक्तिगत रूप से रूप व्यक्ति द्वीन्द्रिय विज्ञेय न होने पर भी रूप सामान्य की अपेक्षा द्वीन्द्रियविज्ञेयता सिद्ध हो सकती है क्योंकि रूपादि के द्वीन्द्रियविज्ञेयता का तात्पर्य रूप सामान्य की द्वीन्द्रियविज्ञेयता में है । सो यह बौद्ध की दृष्टि से ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सामान्य का अस्तित्व स्वीकार करना अपरिहार्य है क्योंकि पूर्वोत्तर रूप व्यक्ति में स्थायिरूपसामान्य माने विना सामान्य की अपेक्षा रूपादि में द्विविज्ञेयता का समर्थन नहीं हो सकता ॥१३५॥

सत्त्वेऽपि नेन्द्रियज्ञानं हन्त ! तद्गोचरं मतम् ।
द्विविज्ञेयत्वमित्येवं क्षणभेदे न तत्त्वतः ॥१३६॥

सत्त्वेऽपि सामान्यस्य नेन्द्रियज्ञानम्, मनोज्ञानोपलक्षणमेतत्, हन्त ! तद्गोचरं=सामान्यगोचरं मतम्=अङ्गीकृतम् स्वलक्षणविषयत्वेन तदभ्युपगमात् । उपसंहरन्नाह-इत्येवं उक्तप्रकारेण क्षणभेदे तत्त्वतः=परमार्थतः द्विविज्ञेयत्वं न शोभते ।

ननु शोभत एव, 'घट-पटयो रूपम्' इत्यादौ नैयायिकादीनां रूपे प्रत्येकमुभयवृत्तित्वान्वयवत् प्रत्येकं द्विविज्ञेयत्वान्वयोपपत्तेः, न हि तेषां रूपत्वे घट-पटोभयवृत्तित्वान्वयः, रूपत्वस्य द्रव्याऽवृत्तित्वादिति चेत् ? न, तेषामपि सामान्यविशेषरूपवस्त्वनभ्युपगमे एतदन्वयानुपपत्तेः । संग्रहनयाश्रयणेन घट-पटोभयरूपसामान्योद्भूतत्वविवक्षयैव तदुपपत्तेः । अन्यथोद्भूतैकद्वित्वक्रोडीकरणेनैकतापन्नयोर्घट-पटयोर्वृत्तित्वान्वयाऽयोगात् द्वित्वाद् द्वयोर्भेदविवक्षणेन प्रत्येकान्वयस्य तु तदाधेयद्वित्वनिरूपकधर्मद्वयावच्छिन्नवाचकपदोपसंदानस्थल एव व्युत्पन्नत्वात्, यथा 'घटपटयोः घटपटरूपे' इति ।

१३६ वीं कारिका में रूपादि में सामान्य की अपेक्षा भी द्विविज्ञेयता नहीं बन सकती इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है-

[सामान्यविषयक ज्ञान का बौद्धमत में असंभव]

सामान्य का स्वीकार कर लेने पर भी सामान्य के अभिप्राय से भी रूपादि में द्वीन्द्रियविज्ञेयता का कथन संगत नहीं हो सकता । क्योंकि बौद्धमतानुसार इन्द्रियजन्य, और मनोजन्य ज्ञान सामान्यविषयक नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रिय और मन को बौद्धमत में स्वलक्षण वस्तुका ग्राहक ही स्वीकार किया गया है । अतः उक्त प्रकार से पूर्वोत्तर रूप क्षणों का भेद होने से रूपादि सत्य अर्थ में द्विविज्ञेयता नहीं संगत हो सकती ।

['घट-पटयो रूपं' इस की नैयायिक मत में भी अनुपपत्ति]

यदि बौद्ध की ओर से नैयायिकों का हस्तावलम्ब प्राप्तकर यह कहा जाय कि 'प्रत्येक रूपादि में द्वीन्द्रियविज्ञेयत्वान्वय उसीप्रकार संगत हो सकता है, जैसे न्यायमतमें 'घटपटयो रूपम्' इस वाक्यजन्य बोध में रूप में घटपटोभयान्तर्गत प्रत्येकवृत्तित्व का अन्वय होता है, क्योंकि रूपत्व में द्रव्यवृत्तित्व न होने से रूपत्व में घटपटोभयवृत्तित्व का अन्वय नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिक के मत में भी सामान्य विशेषोभयात्मक वस्तु का स्वीकार न करने के कारण 'घटपटयो रूपम्' इस स्थल में अन्वय की अनुपपत्ति अपरिहार्य है । उस की उपपत्ति संग्रहनय के आश्रय से रूप शब्द से घटरूप पटरूप इस उभयरूपसाधारण रूपसामान्य की प्रधानरूप से विवक्षा करने से ही हो सकती है । आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेष उभयात्मक होती है किन्तु सामान्यात्मक रूप से अन्य व्यक्ति के साथ भी उस का सम्बन्ध होता है । अतः घटरूप पटरूप अपने विशेष रूप से तो घट पट में अलग अलग ही वृत्ति होते हैं । किन्तु अपने सामान्य रूप से पट और घट उभय में वृत्ति भी होते हैं । अतः 'घटपटयोः रूपम्' इस स्थल में रूप शब्द से प्राधान्येन रूप सामान्य की विवक्षा करने

व्यवहाराश्रयणात्तु प्रकृतप्रयोगोऽनुपपन्न एव, रूपपदादेकरूपेणोपस्थितियोग्यस्यापि रूपस्य भिन्नाश्रयवाचकपदसमभिव्याहारेण भेदविवक्षावश्यकत्वात् , उभयत्र मिलितवृत्तित्वान्वयाऽयोगात् । अत एव न तन्मते 'पञ्चानां प्रदेशः' किन्तु 'पञ्चविधः एव' इति व्युत्पादितं नयरहस्ये । अत एव च 'स्याद् घट-पटयोर्न रूपं, स्याद् घट-पटयो रूपम्' इति वाक्यात् तात्पर्यज्ञस्य क्रमिकविधि-निषेधान्वयानुभवः सुघटः, भिन्ननयजन्यान्वयबोधे भिन्ननयजन्यबोधधियोऽप्रतिबन्धकत्वात्; प्रत्युत महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थज्ञानस्य हेतुत्वेनाऽनुगुणत्वात् ।

पर रूप शब्द के 'रूपसामान्य' रूप अर्थ में घट-पटोभयवृत्तित्व का अन्वय हो सकता है। किन्तु यदि वस्तु को सामान्यविशेषोभयात्मक न माने तो उक्त स्थल में रूप शब्दार्थ में घटपटोभयवृत्तित्व का अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि रूप शब्द से रूपत्व धर्म द्वारा रूपविशेष ही उपस्थित होगा। कोई भी रूपविशेष घटपटोभयवृत्ति नहीं होता।

(घटपट उभय में वृत्ति साधारण रूप का अभाव)

व्याख्याकार ने इस तथ्य को 'उद्भूतैक०' से 'अन्वयायोगात्' वाक्यपर्यन्त से प्रतिपादित किया है। उन्हों ने घट-पट को उद्भूत एक द्वित्व द्वारा क्रोडीकरण होने से एकतापन्न कहा है। द्वित्व द्वारा क्रोडीकरण का अर्थ है द्वित्वरूप से भासित होना और एकतापन्न का अर्थ है एकप्रकारता निरूपित विशेष्यता युक्त होना-अर्थात् 'घटपटयो रूपम्' इस वाक्यजन्य बोध में द्वित्वनिष्ठ एकप्रकारता निरूपित विशेष्यता घट-पट उभय में होती है। अतः द्वित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यतापन्न घट पट वृत्तित्व उसी में हो सकता है जो घट-पटद्वयवृत्ति हो। कोई भी रूप द्वयवृत्ति नहीं होता, अतः 'घट-पटयो रूपम्' इस स्थल में नैयायिकमत में अन्वयानुपपत्ति स्पष्ट है। यदि यह कहा जाय कि-'घट और पट का रूप वस्तुतः दो है अतः 'घट-पटयो रूपम्' इस स्थल में उन दोनों का ही भेद विवक्षित है। अर्थात् रूप शब्द से घट रूप और पटरूप दोनों पार्थक्येन विवक्षित है अतः एकैकरूप में द्वित्वरूपेण भासमान घटपट में से प्रत्येक का अन्वय हो सकता है। अतः उक्त स्थल में न्यायमत में भी अन्वयानुपपत्ति नहीं है' किन्तु यह कहना सम्भव नहीं है क्योंकि द्वित्वरूप से भासमान आधार का पार्थक्येन विभिन्न आधेय में अन्वय उसी स्थल में होता है जहाँ आधेयगत द्वित्व के निरूपक धर्मद्वय से विशिष्ट अर्थ के वाचकपद का समभिव्याहार होता हो। जैसे 'घटपटयोर्घटपटरूपे' इस स्थल में द्वित्वरूप से भासमान घटपट के वृत्तित्व का पार्थक्येन अन्वय घटपटरूप में होता है क्योंकि यहाँ घटपटात्मक आधार का आधेय घटपट के रूप में जो द्वित्व विद्यमान है उस के निरूपक घटरूपत्व और पटरूपत्व इस धर्म द्वय से विशिष्ट घटरूप और पट रूप के वाचक घटपटरूप शब्द का समभिव्याहार है।

(व्यवहारनय से उक्त प्रयोग का अनौचित्य)

व्यवहारनय का आश्रय होने पर तो 'घटपटयो रूपम्' यह प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि-'घटपटयो रूपम्' यहाँ रूप पद से रूपत्वात्मक एकरूपेण उपस्थित रूप में सामान्य रूप से घट-पट उभयवृत्तित्व का अन्वय हो सकता है' क्योंकि भिन्नाश्रयों के वाचक पद का समभिव्याहार होने पर सामान्यरूप से उपस्थित अर्थ में भी भेद की विवक्षा आवश्यक होती है।

यत्तु-'घट-पटयोर्न रूपम्' इति वाक्यं तात्पर्यभेदेन योग्याऽयोग्यम्, घट-पटयो रूपत्वावच्छिन्नाभावान्वयतात्पर्येऽयोग्यमेव, रूपत्वावच्छेदेन घट-पटोभयवृत्तित्वाभावान्वयतात्पर्ये च योग्यमेव। 'घट-पटयो रूपम्' इत्यादौ च त(द्व)वृत्तित्वस्यापि रूपत्वादिसामानाधिकरण्येनाऽन्वयबोध एव साकांक्षत्वे तु 'एतयोर्घटरूपम्', इत्यपि स्यात्-इति परेषां वासनाविजृम्भितम्, तदसत्, उभयरूपसामान्यस्य प्रत्येकरूपविशेषात् कथञ्चिद् भेदानभ्युपगमे व्युत्पत्तिभ्रमात् 'घटपटयोर्घटरूपम्' इति जायमानस्य बोधस्य प्रामाण्यापत्तेः, मम तु स्यादंशबाधेन तदभावात्।

अतः जब रूपपद से विभिन्न रूप विवक्षित होगा तो उभय रूप में मिलितवृत्तित्व यानी घटपटोभयवृत्तित्व न होने से 'घटपटयोरूपम्' इस स्थल में अन्वयानुपपत्ति का परिहार नहीं हो सकता।

(व्यवहार नय में 'पञ्चविधः' प्रदेशः प्रयोग मान्य)

इसीलिये व्याख्याकार के अपने 'नयरहस्य' ग्रन्थ में स्पष्टरूप से यह बताया गया है कि व्यवहारनय के मत में 'पञ्चानां प्रदेशः' यह वाक्यप्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि 'पञ्च' पद से प्रदेश के विभिन्न पाँच आश्रयों का बोध होता है अतः एक प्रदेश शब्द से भी पांच प्रदेश की विवक्षा आवश्यक होती है और पांचों प्रदेशों में पाँचों प्रदेशीयों का सम्बन्ध नहीं होता, अतः व्यवहार नय में 'पञ्चानां प्रदेशः' ऐसा व्यवहार न होकर 'पञ्चविधः प्रदेशः' ऐसा व्यवहार होगा। इसीलिये 'स्याद् घटपटयोर्न रूपम्' और 'स्याद् घटपटयो रूपम्' इस वाक्य में प्रथम वाक्य संग्रहनय तात्पर्यक है तथा दूसरा वाक्य व्यवहारनयतात्पर्यक है, इस प्रकार तात्पर्यभेद के ज्ञान से क्रम से दोनों वाक्यों से विधिनिषेध का अन्वयअनुभव उपपन्न होता है। यह ध्यानमें रहे कि भिन्ननय से उत्पन्न होनेवाले बोध में भिन्ननयजन्य बोध प्रतिबन्धक नहीं होता। अतः उन दोनों वाक्यों से उत्पन्न होनेवाले बोध के परस्पर विधिनिषेधविषयक होने पर भी पूर्व से उत्तर का प्रतिबन्ध न होने के कारण क्रम से उन दोनों के होने में कोई बाधा नहीं होती। अपितु उन दोनों से जो महावाक्यार्थबोध होता है उसमें प्रत्येक वाक्यजन्यबोध सहायक ही होता है क्योंकि महावाक्यार्थ बोध में अवान्तर वाक्यार्थज्ञान कारण होता है। उक्त वाक्य से उत्पन्न होनेवाले महावाक्यार्थ बोध का आकार यह होगा कि-कथञ्चित् घटपटोभयनिरूपित वृत्तिता वाला रूप कथंचित् घटपटोभयनिरूपित वृत्तिताऽभाववाला है।

[तात्पर्यभेद से योग्याऽयोग्यता का उपपादनप्रयास]

इस सन्दर्भ में यदि यह कहा जाय कि 'घटपटयोर्न रूपम्' यह वाक्य तात्पर्यभेद से अयोग्य यानी अप्रमाण और योग्य यानी प्रमाण भी होता है। जैसे घटपटोभय में रूपसामान्याभाव के अन्वय में तात्पर्य होने पर यह वाक्य अयोग्य ही है। क्योंकि घट-पटोभय में किसी एक ही रूपविशेष की अधिकरणता न होने पर भी रूपसामान्य की अधिकरणता होती है और रूपसामान्य की अधिकरणता रूपत्वावच्छिन्नाभावरूप सामान्याभाव का विरोधी है अतः घटपटद्वय में बाधित रूपसामान्याभाव के अन्वय में तात्पर्य होने पर 'घटपटयोर्न रूपम्' इस वाक्य का अप्रामाण्य स्पष्ट है। तथा रूपत्वावच्छिन्न में घटपटोभयवृत्तित्वाभाव के अन्वय में तात्पर्य मानने पर उक्त वाक्य योग्य ही

किञ्च, एवं 'द्वयोर्गुरुत्वं न गन्धः' इत्यादौ का गतिः, गुरुत्वसामानाधिकरण्येनेव गन्धत्वसामानाधिकरण्येनापि पृथिवी-जलोभयत्वाश्रयवृत्तित्वसाम्यात्, विधिनिषेधविषयार्थाऽनिरुक्तेः ? । अत्र सप्तम्याः स्वार्थान्वयितावच्छेदकस्वरूपा तत्समव्याप्यातिरिक्तैव वाऽऽधेयताऽर्थः, तत्र च प्रकृत्यर्थस्य तन्निष्ठनिरूपितत्वविशेषणान्वयात्, पृथिवीजलोभयविशिष्टाधेयतात्वेन गुरुत्वं विधेयतया, गन्धश्च निषेध्यतया प्रतीयत इत्युक्तौ च नामान्तरेण गुरुत्वसामान्यस्यैव विधेयत्वम्, गन्धसामान्यस्यैव च निषेध्यत्वमुक्तमायुष्मता अतिरिक्ताधेयताऽनिरूपणात् ।

है-क्योंकि रूपविशेष से अतिरिक्त रूपसामान्य अप्रामाणिक है । अतः जब रूपविशेष में घटपटोभयवृत्तित्वाभाव है तो रूपसामान्य में भी घट-पटोभयवृत्तित्वाभाव निर्बाध है ।

इस के विरुद्ध यह कहना कि-'घटपटयो रूपम्' यह वाक्य रूपत्वसामानाधिकरण्येन घटपटगतउभयत्ववद्वृत्तित्व के ही अन्वयबोध में साकांक्ष है, अत एव 'घटपटयोर्न रूपम्' इस वाक्य से रूपत्वावच्छेदेन घटपटोभयवृत्तित्वाभाव का बोध नहीं माना जा सकता । अतः उक्त बोध में तात्पर्य मान कर उक्त वाक्य को योग्य कहना असंगत है-ठीक नहीं है क्योंकि 'घटपटयो रूपम्' इस वाक्य को रूपत्वसामानाधिकरण्येन घटपटोभयत्ववद्वृत्तित्व के अन्वय बोध में साकांक्ष मानने पर 'घटपटयोर्घटरूपम्' यह वाक्य भी प्रमाण हो जायगा, क्योंकि घटरूप में घटपटोभयत्ववद्वृत्तित्व अबाधित है ।

तो यह कथन व्याख्याकार के अनुसार वासनामात्रमूलक होने से असत् है क्योंकि घटपट उभयानुगत रूपसामान्य में घटपट के प्रत्येक रूप का कथञ्चित् भेद न मानते हुये अत्यन्ताभेद मानने पर 'घटपटयोर्घटरूपम्' इस वाक्यजन्य बोध में भी प्रामाण्य की आपत्ति होगी । क्योंकि जब रूपसामान्य और रूपविशेष में अत्यन्ताभेद है तो रूपसामान्य में घटपटउभयवृत्तित्व होने से रूपसामान्य से अभिन्न घटरूप में भी घटपटोभयवृत्तित्व का अन्वय अबाधित है । व्याख्याकार ने 'घटपटयोर्घटरूपम्' इस वाक्यजन्यबोध में प्रामाण्यापत्ति का मूल व्युत्पत्तिभ्रम को बताया है और व्युत्पत्तिभ्रम का अर्थ है 'रूपसामान्य में रूपविशेष का अत्यन्ताभेद है अतः रूप सामान्य में घटपटोभयवृत्तित्व होने से रूपविशेष में भी घटपटोभयवृत्तित्व का अन्वय निर्बाध है'-ऐसा ज्ञान । यह ज्ञान इसलिये भ्रम है कि यह रूप सामान्य में रूप विशेष के बाधितात्यन्ताभेद को ग्रहण करता है । व्याख्याकार ने साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जैन मत में उक्तबोध के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्तबोध रूपसामान्य में रूपविशेष के कथञ्चित् भेद के विरोधी रूपसामान्य में रूपविशेष के अत्यन्ताभेद पर निर्भर है । अतः स्यादंश कथञ्चिद्भेद का बाध होने से बाधितार्थमूलक होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता ।

['द्वयोर्गुरुत्वं न गन्धः' इस के प्रामाण्य की अनुपपत्ति]

इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय है कि 'घटपटयोरूपम्' यह वाक्य यदि रूपत्वसामानाधिकरण्येन घटपटोभयत्वाश्रयवृत्तित्व के अन्वय बोध में साकांक्ष माना जायगा तो 'द्वयोर्गुरुत्वं न गन्धः' इस वाक्य के प्रामाण्य का समर्थन नहीं हो सकता । क्योंकि इस वाक्य का अर्थ है कि गुरुत्व पृथिवीजल उभय में वृत्ति है और गन्ध पृथ्वीजलोभयवृत्ति नहीं है । इसका समर्थन इसलिये नहीं हो सकता कि 'घटपटयोरूपम्' यह वाक्य रूपत्वसामानाधिकरण्येन घटपटोभयत्ववद्वृत्तित्व के अन्वय बोध में

अन्यथा 'घट-पटयोर्न घटरूपम्' इत्यादौ सप्तम्यर्थान्वयितावच्छेदकघटरूपत्वादिस्वरूपाया आधेयताया घट-पटोभयनिरूपिताया अप्रसिद्धत्वेनाऽनिषेध्यत्वेऽपि 'जाति-घटयोर्न सत्ता' इत्यादाविव 'घट-पटोभयनिरूपितत्वाभाववदाधेयतावद्घटरूपम्' इत्यन्वयोपपादनेऽपि 'घट-पटयोर्घट-

जैसे साकांक्ष नहीं होगा उसी प्रकार 'द्वयोर्गुरुत्वं' यह वाक्य भी गुरुत्वसामानाधिकरण्येन पृथिवीजलोभयत्ववद्वृत्तित्व के अन्वय बोध में साकांक्ष नहीं होगा और गुरुत्वावच्छेदेन उक्त वृत्तित्व का अन्वय बोध मानने में प्रमाण नहीं हो सकेगा क्योंकि समग्रगुरुत्व में पृथिवीजलोभयवृत्तित्व नहीं है। यदि इस वाक्य के प्रामाण्य के अनुरोध से इसे गुरुत्वत्वसामानाधिकरण्येन पृथ्वीजलोभयत्वाश्रय वृत्तित्व के बोध में साकांक्ष माना जायगा तो 'द्वयोर्न गन्धः' इस अंश में प्रमाण न हो सकेगा क्योंकि जैसे गुरुत्व के आश्रयभूत भिन्न भिन्न गुरुत्व में पृथ्वीजलवृत्तित्व होने से गुरुत्वत्वसामानाधिकरण्येन पृथ्वीजलोभयत्वाश्रयनिरूपितवृत्तित्व अर्थात् पृथ्वीजलगतोभयत्व के आश्रय की वृत्तित्व में गुरुत्वत्व का सामानाधिकरण्य है उसी प्रकार पृथ्वीजलोभयत्व के आश्रय पृथिवी में गन्ध के विद्यमान होने से पृथ्वीजलोभयत्व के आश्रयनिरूपितवृत्तित्व में गन्धत्व का भी सामानाधिकरण्य है। अतः गुरुत्व के समान गन्ध में भी पृथ्वी-जलोभयत्वाश्रय वृत्तित्व का अभाव बाधित है। अत एव 'द्वयोः गुरुत्वं' इस विधि के विषयीभूत अर्थ का और 'द्वयोर्न गन्धः' इस निषेधविषयीभूतअर्थ का निर्वचन निरूपण नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि-'द्वयोर्गुरुत्वं न गन्धः' इस स्थल में द्विशब्दोत्तर सप्तमी विभक्ति का अर्थ आधेयता है और वह आधेयता अपने अन्वयितावच्छेदक गुरुत्व से अभिन्न है। अथवा गुरुत्वत्व से अतिरिक्त एवं गुरुत्वत्व की समनियत है और उस में सप्तमी विभक्ति के प्रकृतिभूत द्विशब्द से अभिप्रेत पृथ्वी-जलोभय रूप अर्थ का उक्ताधेयतानिष्ठ निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार पृथिवीजलोभयविशिष्टाधेय से गुरुत्व की विधेय रूप में और गन्ध की निषेध्यरूप में प्रतीति हो सकती है क्योंकि गुरुत्वत्वरूपाधेयता अथवा गुरुत्वत्वसमनियताधेयता निरूपितत्वसम्बन्ध से पृथ्वीजलोभयविशिष्ट होती है और वह गुरुत्व में विद्यमान है किन्तु गन्धत्वस्वरूप अथवा गन्धत्वत्वसमनियताधेयता केवल पृथ्वी से विशिष्ट होती है पृथ्वीजलोभय से विशिष्ट नहीं होती, अतः आधेयता पृथ्वीजलोभय से विशिष्ट होती है उस का गन्ध में अभाव है'-किन्तु इस कथन से भी प्रतिवादी का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दान्तर से गुरुत्व सामान्य की निषेध्यता बोधित होती है, जिस से वस्तु की सामान्यविशेषात्मकता का फलित होना अनिवार्य है, क्योंकि गुरुत्वसामान्य से अतिरिक्त गुरुत्वनिष्ठाधेयता का स्वतन्त्र निरूपण नहीं हो सकता। अतः आधेयत्वरूप से गुरुत्व को विधेय कहना गुरुत्वसामान्यको ही विधेय कहने में पर्यवसित होता है।

[आधेयता विधि-निषेध का विषय नहीं है]

यदि द्वयोर्गुरुत्वं न गन्धः' इस वाक्यजन्यबोध में विभिन्न गुरुत्व व्यक्तिओं से कथञ्चित् भिन्नाभिन्नगुरुत्वसामान्य को विधेय और विभिन्न गन्धव्यक्तिओं से कथञ्चित् भिन्नाभिन्न गन्ध सामान्य को निषेध्य न मानकर पृथ्वी-जलोभयविशिष्ट आधेयता को या तादृशाधेयत्वरूप से गुरुत्व को विधेय और गन्ध में तादृशाधेयता को निषेध्य माना जायगा तो 'घटपटयोर्न घटरूपम्' इस वाक्य से घटरूप में घटपटोभयविशिष्ट सप्तम्यर्थ के अन्वयितावच्छेदक स्वरूप आधेयता का निषेध नहीं हो सकेगा।

रूपपटरूपे' इत्यस्यानुपपादनात्, घटरूपत्वादिस्वरूपाया आधेयताया उभयानिरूपितत्वात् । 'तत्र तद्‌द्वित्वादिस्वरूपैवाधेयते' ति चेत् ? द्वयोः प्रत्येकरूपावच्छेदेन द्वित्वाभावाद् निषेधस्यापि प्रवृत्तिः स्यात् । 'अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव सप्तम्यर्थाधेयत्वान्वयव्युत्पत्तेर्नायं दोष' इति चेत् ? तथापि 'घट-पटयोर्न घटरूपा-ऽऽकाशे' इत्यादिकं कथम् ! एतद्‌द्वित्वादिस्वरूपाया आधेयताया उभयाऽनिरूपितत्वात्, नञस्तात्पर्यवशाद् द्वित्वान्वयेऽप्युभयस्यानाधेयत्वाभावात् ? अनुभवविरुद्धं च सर्वमेतत् कल्पनमिति न किञ्चिदेतत् ।

क्योंकि वह आधेयता इस स्थल में घटरूपत्वस्वरूप होगी अतः वह केवल घट से ही निरूपित होगी, पट से निरूपित न होगी, अतः घटपटोभयविशिष्ट घटपटत्वस्वरूप आधेयता अप्रसिद्ध होने से उस का निषेध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि–' जैसे 'जातिघटयोर्न सत्ता' इस स्थल में सप्तमी विभक्ति के समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता रूप अर्थ में जाति-निरूपितत्व न होने से जाति-घटोभय-विशिष्ट समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता के अप्रसिद्ध होने के कारण सत्ता में उक्त आधेयता के अभाव का बोध न मान कर आधेयता में ही निरूपितत्व सम्बन्ध से जातिघटोभयाभाव का अन्वय मान कर 'जातिघटयोर्न सत्ता' यह वाक्य 'सत्ता निरूपितत्वसम्बन्धेन जातिघटोभयाभाववती आधेयता की आश्रय है' इस अर्थ में प्रमाण होता है, उसी प्रकार 'घटपटयोर्न घटरूपम्' यह वाक्य भी निरूपितत्व सम्बन्ध से घटपटोभयाभाववती घटरूपत्वस्वरूपाधेयता का आश्रय घटरूप है' इस अर्थ में प्रमाण हो सकता है।'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'घटपटयोर्न घटरूपम्' इस वाक्य के प्रामाण्य का उक्त रीति से उपपादन सम्भव होने पर भी 'घटपटयोर्घटरूप पटरूपे' इस वाक्य के प्रामाण्य का उपपादन अशक्य होगा क्यों कि सप्तमी विभक्ति का अन्वयितावच्छेदकरूपाधेयता अर्थ मानने पर इस स्थल में सप्तमी विभक्ति का अर्थ होगा घटरूपत्व और पटरूपत्व स्वरूप आधेयता और वे दोनों ही आधेयता घटपटो-भय से निरूपित नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि–' उक्त स्थल में सप्तमी विभक्ति के अर्थ का अन्वयितावच्छेदक घट-रूपत्व और पटरूपत्व नहीं है किन्तु घट-रूप पटरूपगत द्वित्व है अतः वहां उक्त द्वित्वस्वरूपाधेयता ही सप्तम्यर्थ है। उस में घटपटोभयनिरूपितत्व विद्यमान है। अतः उक्त वाक्य के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि घटपटोभयनिरूपितद्वित्वस्वरूप आधेयता घटपटरूप में द्वित्वावच्छेदेनैव रहेगी। प्रत्येकरूप-घटरूपत्व, पटरूपत्व अवच्छेदेन घटरूप पटरूप में उस का अभाव रहेगा। अतः उस अभाव के तात्पर्य से 'घटपटयोर्न घटरूपपटरूपे' इस निषेधवाक्य के भी प्रामाण्य की आपत्ति होगी।

इस के समाधान में यदि यह कहा जाय कि-"सप्तमी विभक्ति के अर्थभूत आधेयता का अन्वय अनुयोगितावच्छेदकावच्छेदेनैव होता है। फलतः उस के अभाव का भी अन्वय अनुयोगिता वच्छेदकावच्छेदेनैव होगा क्योंकि नञ् पद से अघटितवाक्य से जैसा बोध होता है-नञ्पद का समभि-व्याहार होने पर भी नञर्थ के सम्बन्ध से अतिरिक्तांश में वैसा ही बोध होता है अतः घटपटरूप गत द्वित्वावच्छेदेन घटरूप और पटरूप में घटपटोभयनिरूपित द्वित्वस्वरूप आधेयता के बाधित अभाव का बोधक होने से 'घटपटयोर्न घटरूपपटरूपे' इस वाक्य के प्रामाण्य की आपत्ति नहीं हो सकती"-तो ऐसा कहने पर भी दोष से मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि 'घटपटयोर्न घटरूपाकाशे' इस वाक्य के

शबलात्मकमेव हि वस्तु कदाचिदनुगतम् , कदाचिच्च व्यावृत्तमनुभूयमानं शोभते, भेदाभेदशक्तिवैचित्र्यात् , आर्थन्यायेन यथाक्षयोपशमं ग्रहणादिति परिभावनीयम् ।

संरम्भमस्मासु वितत्य सम्यक्ततो बलीयोभिरितान् नीतः !
अनेन शोच्यां तु दशां सहायीकृतोऽपि यौगो यदसौ जगाम ॥१॥ १३६॥

यथार्थ बोध की अनुपपत्ति होगी. क्योंकि घटरूपाकाशगत द्वित्वरूप आधेयता में घटपटोभय निरूपितत्व न होने से घटपटोभय विशिष्ट तादृशाधेयता के अभाव का बोध नहीं हो सकता और घटपटोभय से अनिरूपित तादृशाधेयता का भी घटरूपाकाशगत द्वित्वावच्छेदेन बोध नहीं हो सकता। यदि 'इस वाक्य का तात्पर्य नञर्थ अभाव का द्विधा यानी दो बार मान मान कर घटरूप और आकाश इन दोनों में घटपटोभय से अनिरूपित आधेयता के अभाव का बोध माना जाय तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि जैसे घटपटोभय से अनिरूपित आधेयता घटरूप और आकाश इन दोनों में नहीं है उसीप्रकार तादृश आधेयता का अभाव भी उभय में नहीं है. क्योंकि घटरूप में तादृश आधेयता विद्यमान है। अतः यह सब कल्पना अनुभव विरुद्ध होने से अकिञ्चित्कर है अनादरणीय है।

किन्तु यही मानना ही उचित है कि प्रत्येक वस्तु शबलात्मक सामान्यविशेषोभयात्मक है, अत एव वस्तु कभी सामान्यरूप से अनुगत आकार में और कभी विशेषरूप से व्यावृत्त आकार में अनुभूत होती है। क्योंकि वस्तु में सामान्य विशेष का भेदाभेद होने से विशेषग्राहिका शक्ति और सामान्यग्राहिका शक्ति में वैचित्र्य होने से सामान्य आकार से ग्रहणकाल में विशेषाकार से और विशेषाकार से ग्रहणकाल में सामान्याकार से ग्रहण का अतिप्रसंग नहीं हो सकता। किन्तु वस्तु के जिस अंश का जब क्षयोपशम होता है तब उस अंश में ही वस्तु का ग्रहण होता है। व्याख्याकार ने क्षयोपशम के क्रम से वस्तु के सामान्यविशेषादि विभिन्न अंशों के ग्रहण का समर्थन आर्थन्याय से किया है। यहाँ आर्थन्याय का अर्थ है अनेकार्थक पद से भिन्न भिन्न अर्थों का क्रम से बोध होने का न्याय। आशय यह है कि जैसे कोई एक पद अनेक अर्थों का बोधक होता है फिर भी वह एक साथ ही सब अर्थों का बोधक नहीं होता किन्तु जब जिस अर्थ में उस का विवक्षित तात्पर्य ज्ञात होता है तब उस अर्थ का बोध होता है। उसी प्रकार वस्तु की अनेकान्तरूपता के मत में वस्तु के ग्राहक से भी उसके सभी अंशों का एकसाथ ज्ञान न होकर क्षयोपशम के क्रम से, विभिन्न अंशों का क्रम से ही ज्ञान होता है।

व्याख्याकार ने बौद्ध के साथ अब तक के सम्पूर्ण विचार के परिणाम के सम्बन्ध में एक पद्य से बौद्ध और नैयायिक दोनों के प्रति व्यङ्ग्यात्मक खेद प्रकट किया है उस पद्य का अर्थ इस प्रकार है-

सत्य है कि बौद्ध ने जैन विद्वानों के साथ उच्चकोटि का वैचारिक संग्राम किया, बड़े विस्तार से किया और पराजित हुआ। किन्तु खेद इस बात का है कि उसने अपनी सहायता के लिये जिस ★ नैयायिक का हस्तावलम्ब किया वह बेचारा बौद्ध से भी अधिक शोचनीय अवस्था में गिर पड़ा। १३६॥

१३७ वीं कारिका में सौत्रान्तिक मत के निराकरण की चर्चा का उपसंहार किया गया है-

★ यहाँ नैयायिक का यौग शब्द से ग्रहण किया गया है क्योंकि अत्यन्त प्राचीन समय में योग शब्द न्यायदर्शन के लिये प्रयुक्त होता था इसलिये 'योगं=न्यायशास्त्रमधीते' इस व्युत्पत्ति से यौग शब्द का प्रयोग किया गया है। न्यायशास्त्र अर्थ में योग पद के प्रयोग का संकेत न्यायसूत्र के वात्स्यायन भाष्य प्रथम आह्निक में प्राप्त होता है।

सौत्रान्तिकनिराकरणवार्ता उपसंहरति—

सर्वमेतेन विक्षिप्तं क्षणिकत्वप्रसाधनम् ।
तथाप्यूर्ध्वं विशेषेण किञ्चित्तत्रापि वक्ष्यते ॥१३७॥

एतेन=उक्तदोषजालेन सर्वं क्षणिकत्वप्रसाधनं नाशहेत्वयोगादि पूर्वं नाममात्रेणोक्तम् विक्षिप्तं=निराकृतम्, बाधकतर्कप्राबल्यात् । तथाप्यूर्ध्वं=योगाचारमतनिराकरणानन्तरं तत्रापि=नाशहेत्वयोगादीनामुभयसाधारणत्वेनोभयनिराकरणानन्तरमवसरप्राप्ते तन्निराकरण-ग्रन्थेऽपि किंचित् उपपादनस्थानानुरोधेन वक्ष्यते, विशेषेण=प्रतिस्वं तदाशयोद्भावनेन ॥१३७॥

ताथागतानां समयं समुद्रं तर्कोऽयमौर्वानलवद् ददाह ।
पश्यन्तु नश्यन्ति जवेन भीता दीना न मीना इव किं तदेते? ॥१॥
रक्तः प्रसक्तः क्षणिकत्वसिद्धौ यदुक्तसूत्रं हृतवान् स्वकोपम् ।
सूत्रान्तकोऽप्येष लिपिभ्रमेण सौत्रान्तिको लोक इति प्रसिद्धः ॥२॥

(सौत्रान्तिक मत का अंतिम उपसंहार)

सौत्रान्तिक की ओर से, भावमात्र के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये 'नाश में हेतु का अयोग यानी नाश निर्हेतुक होता है' इत्यादि जो नाममात्र की महत्त्वहीन बातें कही गयी थी उन सब का प्रबल बाधक तर्कों द्वारा पूर्व प्रदर्शित दोषों से निराकरण किया गया। आगे भी योगाचार मत के निराकरण करने के बाद नाश के निर्हेतुकत्वादि की जो बातें सौत्रान्तिक और योगाचार उभय साधारण है उस सम्बन्ध में दोनों मतों का निराकरण करने के बाद उस प्रकरण [स्तबक ६] में भी यथावसर उपपादन की आवश्यकतानुसार प्रत्येक के आशय का उद्भावन कर कुछ और कहा जायगा।

सौत्रान्तिक ने भावमात्र में क्षणिकत्व का साधन करने के लिये नाश में हेतु का अयोग 'नाश निर्हेतुक होता है' इत्यादि युक्तियाँ संक्षेप से कही है, उन सब का निराकरण यद्यपि बाधक तर्कों की सहायता से पूर्वोक्त दोषों द्वारा किया गया। तो भी उनके सम्बन्ध में योगाचार मत का निरूपण करने के बाद एवं नाश निर्हेतुक होता है इत्यादि उभय साधारण मतों का निराकरण करने के पश्चात् पुनः उन हेतुओं के विशेष रूप से निराकरण का अवसर प्राप्त होने पर उनके उपपादन के प्रसंग से कुछ विशेष बात कही जायगी। और उस प्रत्येक के सम्बन्ध में बौद्ध के अभिप्राय का उद्भावन किया जायगा ॥१३७॥

व्याख्याकार ने अपने तीन पद्यों द्वारा इस स्तबक के पूरे विचार का परिणाम अत्यन्त सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है। उन का कहना है-बौद्धों का सिद्धान्त एक विस्तृत समुद्र जैसा है और जैन मत की ओर से प्रस्तुत किये गये तर्क समूह रूप वडवानल जब उसे दग्ध करने लगता है तो समुद्राश्रित मीन के समान उस सिद्धान्त के आश्रित बेचारे बौद्ध भी त्रस्त होकर वेग से इधर उधर पलायन करने लगते है, उन के उस पलायन का दृश्य कुछ दर्शनीय होता है ॥१॥

क्षणक्षयक्षेपकरीं सकर्णाः कर्णामृतं वाचमिमां निपीय ।
जैनेश्वरं सिद्धिकृते प्रवादिप्रशासनं शासनमाश्रयन्तु ॥३॥

इति पण्डितश्रीपद्मविजयसोदरन्यायविशारदपण्डितयशोविजयविरचितायां स्याद्वादकल्पलताभिधानायां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायां चतुर्थः स्तबकः ।

अभिप्रायः सूरेरिह हि गहनो दर्शनततिर्निरस्या दुर्धर्षा निजमतसमाधानविधिना ।
तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञांह्रिभजने, न भग्ना चेद् भक्तिर्न नियतमसाध्यं किमपि मे ॥१॥
यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशया भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः, तेन न्यायविशारदेन रचिते ग्रन्थे मतिर्दीयताम् ॥२॥

सौत्रान्तिक ने रागवश भावमात्र के क्षणिकत्व साधन में प्रसक्त होकर जो अपने उक्त सिद्धान्त सूत्र 'कप्पठिआ पुहइ' की हिंसा कर दी यानी उस के वास्तवार्थ का परित्याग कर दिया उस के कारण वस्तुत: वह सूत्रान्तक है । किन्तु सूत्रान्तक शब्द लिपि लेखक की भूल होने से लोक में सौत्रान्तिक नाम से प्रसिद्ध हो गया । वस्तुतः इस प्रकार सूत्रान्तक ही लिपिभ्रम से सौत्रान्तिक हो गया। क्योंकि सौत्रान्तिक शब्द का वास्तव अर्थ सूत्रों के यथाश्रुत अर्थ को सिद्धान्तरूप में अभ्युपगम करने वाला होता है जो उक्त सूत्रार्थ का त्याग कर देने से सौत्रान्तिक नाम से प्रसिद्ध बौद्ध में संगत नहीं है ।।२।।

व्याख्याकार ने तीसरे पद्य में मनुष्य को 'सकर्ण' शब्द से सम्बोधित करते हुये यह संकेत दिया है कि जिसे कर्ण है उसे कर्ण के लिये अमृत के समान सुख देने वाली उस जैन वाणी का आदर पूर्वक श्रवण करना चाहिये जिस से भावमात्र के क्षणिकत्व पक्ष का निराकरण होता है और 'सिद्धि' जीवन का सर्वोत्तमलक्ष्य प्राप्त करने के लिये जिनेश्वर के उस शासन का आश्रय लेना चाहिये जिस में प्रकृष्ट वादपद्धति से प्रामाणिक तत्वों का वर्णन प्राप्य है ।।३।।

अभिप्रायः सूरेः ....इत्यादि पद्यों का विवरण प्रथम स्तबक में आ गया है ।

पंडित श्रीपद्मविजय के सहोदर न्यायविशारद पंडित श्री यशोविजय विरचित स्याद्वादकल्पलतानामक शास्त्रवार्तासमुच्चयग्रन्थ की टीका का हिन्दी विवरण समाप्त ।

चौथा--स्तबक-सम्पूर्ण

❀ शुद्धिदर्शिका ❀

पृ/पं	अशुद्ध	शुद्ध	पृ./पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ/पं.	अशुद्ध	शुद्ध
५/१	क्षणिक	क्षणिकं	३२/२	स्वभावऽपि	स्वभावोऽपि	/२७	वृक्ष,	वृक्षः,
११/५	सभवात्	सम्भवात्	/११	तुम्मात्	तस्मात्	४३/२२	होकार	हो कर
१७/२६	दृष्टिगत	दृष्टिगत	/१६	ज्ञेयत्वा	ज्ञेयत्व	४५/४	च्छदेक	च्छेदक
१८/२५	उस	उन	३५/१८	दान में	दन में	/२३	प्रतियोगगि	प्रतियोगि
२१/८	व्याप्यत्वा-	व्याप्यत्वा-	३६/१७	संस्कार,	संस्कारः,	५१/२३	अयत्ववान्	अयत्वाभाववान्
२३/३२	लिने	लिये	३७/३	पूवमिदं	पूर्वमिदं			
२४/२	सगते	संगतेः	/१२	कुसष्टि	कुसृष्टि			
२८/६	तन्निवृत्ते	तन्निवृत्तेः	४०/१६	होती की	होती कि	५२/२३	नयायिक	नैयायिक

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२/२६	पर-भवने	पर, भवनमें लेघट को बाहर ले जाने पर भी 'भवने
५३	सूचना–हिन्दी में जो (जाति में —) यह शिर्षक है वह द्वितीय पेरेग्राफ का समझना, प्रथम का नहीं	
५३/२१-२२	वृत्तिलात्वा	वृत्तितात्वाव
५४/८	में ही रहता है	का अभाव सत्ता में नहीं रहता है
/१७	अवृत्तिघट	अवृत्ति घट
५६/२	गले हीतो	गले गृहीतो
/१६	जाति न स्तः'	जाती न स्तः'
६०/१७	बद्धि	बुद्धि
/२६	ज्ञान-साध्य	ज्ञानसाध्य
/३१	जन	जैन
६१/३०	एवं भूत	एवंभूत
६३/२	मुद्रयै	मुद्रयैव
६५/११	घटभाव	घटाभाव
६६/२	भावेयत्रा भाव	भावे यत्राऽभाव
६८/८	सावधान	नैयायिक को सावधान
/२२	आमास्ति	मात्रास्ति
७४/७	प्रतिग्रन्थि	प्रतिपन्थि
८३/८-११	भूतल ज्ञान	भूतलज्ञान
/१६	ज्ञान सामान्य	ज्ञानसामान्य
८४/१०	'आरोप	'आरोप्य
८६/१८	का रूप	कार्यरूप
९३/२	तसत्त्व	तत्सत्त्व
/१०	तत्कारण	तत्कारणं
९४/३	अनन्तर	अनन्तरं
९९/४	नन्तर	नन्तरं
१००/२	अप्यवत	अप्युक्त
१०४/२४	कार्य कि	कार्य की
/२७	सत्ता में	सत् में

पृ०/पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१०७/२६	स्थानन्तरम्	स्थान्तरम्
११६/१२	दिशेषण	विशेषण
१२०/१	क्रा	का
१२०/२७	स्ववैशिष्ट	स्ववैशिष्ट्य
२९	निर्वच	निर्वचन
१३६/७	बुद्ध्यादि	बुद्ध्यादि
/८	कृतः ?	कुतः ?
/१६	समवित	सम्भवित
१४४/६	विकल्यों	विकल्पों
१४८/२	यु बुद्ध्य	बुद्ध्य
१४९/६	भेदानुम-	भेदानुग-
१५१/२	चक्षरादयः	चक्षुरादयः
१५२/६	क फलानु	कर्मफलानु
१५३/४	नतदेवम्	नैतदेवम्
/२१	तिक्रमः	तिक्रम
१५४/३०	इस	'सोऽन्वयः' इस
१५६/४	जनम	जनन
/११	न्याय्य	न्याय्य
१६४/१७	यह कि	यह है कि
१६८/२०	अनिवाय	अनिवार्य
१७१/२४	एक ही की	एक ही वस्तु की
१७४/११	गुण और	गुण कारण होता है। फलतः योग्यविभुविशेष गुण और विभु
१७४/१२	सामान्य	सामान्यतः
/१६	घम	धूम
१७८/४	याच्यम्	वाच्यम्
१८२/१४	प्रमाण भाव	प्रमाणाभाव
१८४/११	अवमास	अवभास
१८५/१	ते नैवेदा	तेनैवेदा
१९०/२	'पश्यती	पश्यती
१९६/३४	होने से	न होने से
१९८/११	तत्रैव	मत्रैव
२००/४	मानस्य–	मान–

—